हृदय मंथन

(भाग -३)

शिवोम् तीर्थ

हृदय मंथन

भाग - ३

स्वामी शिवोम् तीर्थ

देवात्म शक्ति सोसायटी (आश्रम)
९२-९६, नवाली गाँव, पोस्ट दहिसर (व्हाया मुम्ब्रा)
जिला ठाणे (महाराष्ट्र)

◆ हृदय मंथन भाग - ३

स्वामी शिवोम् तीर्थ

◆ प्रथम संस्करण– ५०००
सन् २००१

◆ मुख पृष्ठ फोटो– हेमशंकर पाठक

◆ द्वितीय संस्करण, १००० प्रतियां, अक्टूबर २०२०

मूल्य : १५० रु. मात्र

◆ टाइप सेटिंग
स्टार कम्प्यूटर एण्ड ग्राफिक्स
३०, खजूरी बाजार, इन्दौर

◆ प्रकाशक
देवात्म शक्ति सोसायटी (आश्रम)
९२-९६, नवाली गाँव, पोस्ट दहिसर (व्हाया मुम्ब्रा)
जिला ठाणे (महाराष्ट्र)

◆ मुद्रक :
R. N. Kothari
Sanman & Co.
113, Shiv Shakti Ind. Est., Marol Naka, M. V. Road,
Andheri (East), Mumbai 400 059 Phone : 850 11 37

प्राक्कथन

पुस्तक श्रृंखला हृदय मंथन, न तो परम आदरणीय गुरुदेव स्वामी विष्णु तीर्थ महाराज (ब्रह्मलीन) का जीवन वृत्तान्त है तथा न ही कोई मेरी आत्म कथा । यद्यपि महाराजश्री के जीवन काल के लगभग बारह वर्षों को पुस्तक श्रृंखला का आधार बनाया गया है, किन्तु अधिक लक्ष्य उन के द्वारा कहे गए ज्ञान प्रसंगों, कतिपय गतिविधियों तथा साधन के लिये प्रेरणादायक उक्तियों पर रखा गया है । इन सब का, साधक के मन पर कैसा प्रभाव पड़ता था, किस प्रकार वह हृदय मंथन के लिए विवश हो जाता था, यह दर्शाया गया है ।

मुख्यत: तो हृदय मंथन के तीनों खण्ड, हृदय मंथन को अभिमुख रखकर ही लिखे गए हैं ।प्राय: साधक थोड़ी साधना कर लेने पर या थोड़ा शास्त्रीय ज्ञान संचय कर के ही, अभिमान से भर उठता है । यद्यपि वह अभी साधक होता ही नहीं । साधक में अपने साधन का, अपने गुणों का या अपनी उच्च आन्तरिक स्थित का अभिमान नहीं हो सकता । जिसमें अभिमान हो, समझ लो कि वह अभी साधक ही नहीं है । यह स्थिति प्राप्त करने के लिये साधक को, साधन-सेवा के साथ नित्य प्रति हृदय मंथन की आवश्यकता होती है । हृदय मंथन के तीनों खण्ड साधक को उसी ओर प्रेरित करते हैं ।

साधकों में एक और बात देखी गई है कि वे अपनी साधन की फल-प्राप्ति में बहुत उतावले हो जाते हैं । तीनों खण्डों में इस बात पर बार-बार बल दिया गया है कि अध्यात्म का मार्ग न सरल है, न ही छोटा । एक छोटे से संस्कार के कारण महाराजश्री जैसे उत्कृष्ट साधक को भी संस्कार से पीछा छुड़ाने में, नौ हजार वर्ष तथा अनेक जन्म लग गए । एक बार जब कोई संस्कार अन्तर में घर कर जाता है, तो उससे प्रभावित होकर, प्रत्येक कर्म करने पर वह शक्ति ग्रहण करता चला जाता है । संचय कर लेना बहुत आसान है, किन्तु किसी संस्कार को चित्त से निकाल बाहर करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है । इसीलिए शास्त्रों ने साधक के लिए, धैर्य एवं उत्साह को महत्वपूर्ण स्थान दिया है ।

कितने आश्चर्य की बात है कि सृष्टि के आरंभ से ही मानव, अपनी वासना पूर्ति के लिए, जगत की ओर देखता हुआ दिन—रात एक करता चला आ रहा है । उससे पूर्व भी न जाने कितनी सृष्टियों से वह ऐसा प्रयास कर रहा है, किन्तु न ही अभी तक उसकी वासना शान्त हो पाई है, तथा न ही जगत में सुख की प्राप्ति हो सकी है । फिर भी जगत के कपटपूर्ण तथा मायामय स्वरूप को समझ पाने में वह असमर्थ है । वह संसार में आगे ही आगे बढ़ा-धँसा चला जा रहा है । उसके शरीर का सारा ढाँचा तथा मन, उसे संसार में ही उलझाए रखता है । संसार एक ऐसी अँधेरी तथा लम्बी गुफा के समान है, जिस में से निकलने का

मार्ग खोज पाना, आकाश से तारे तोड़ लाने के समान असंभव है । कभी कभार, कुछ समय के लिए, सात्विकता तथा अन्तर्प्रकाश, उसे कुछ उभारता सा प्रतीत होता है,किन्तु फिर तमोगुण तथा अंधकार प्रकट हो कर उसे भ्रान्तियों की अथाह गहराइयों में खेंच कर ले जाते हैं ।

जीव को चेताने तथा उसके मन-इन्द्रियों को सही दिशा प्रदान करने के लिए महाराज श्री का जीवन चमकते हुए सूर्य के समान है, जिसका उद्देश्य, जन समाज को केवल राह दिखाना है । इसके लिए कोई मूल्य नहीं । आभार-प्रदर्शन के दो शब्द भी नहीं । भूला-भटका राही यदि सही मार्ग पर आ जाए, तो यही पारितोषिक-स्वरूप होगा ।

महाराजश्री प्रेम का मूर्तिमान स्वरूप थे । उनके जीवन में राग-द्वेष के लिए कोई स्थान नहीं था । उनके चित्त में ईर्ष्या-घृणा का लेश मात्र भी नहीं था । पर-दोष-दर्शन तथा पर-निन्दा उन के जीवन -पथ में कभी प्रकट नहीं हुए । ऐसा स्वच्छ, निर्मल पवित्र-जीवन, जन-समाज के लिए आदर्श-रूप था । किन्तु इस जगत को क्या कहा जाय ? सूर्य प्रकाशित होने पर वह घर के द्वार बंद कर लेना चाहता है कि प्रकाश कहीं अंदर प्रवेश न कर जाय । सर्व-प्रथम तो उसे कहीं अच्छाई दिखाई ही नहीं देती, क्योंकि उसकी अपनी आँख में बुराई बैठी है । यदि दिखाई दे भी जाय, तो वह उधर से मुँह घुमा लेता है । जब उन्होंने कहा कि देवास की जन-संख्या बारह चौदह हजार होगी, किन्तु यहाँ नियमित आने वाले पचास भी नहीं होंगे, तो यह जगत का स्वरूप उजागर कर देने के लिए पर्याप्त है ।

जीव, अपने जीवन का लक्ष्य निर्धारित कर पाने में प्राय: असफल रहता है । उसका प्राप्तव्य कहीं है तथा उलझ कहीं जाता है । महत्वहीन बातों को महत्वपूर्ण मान लेता है । जिन के साथ कोई संबंध नहीं है, उनके साथ काल्पनिक संबंध स्थापित कर लेता है । इस प्रकार, अपने चित्त में अंधकार को भरता जाता है । प्राप्तव्य पास होते हुए भी, उसे दिखाई नहीं देता । सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि मनुष्य जीवन भर यह समझ नहीं पाता कि वह अंधकार में है । उसके हाथ में अभिमान की मशाल होती है, आँखों पर भ्रम का चश्मा चढ़ा होता है । मन का लक्ष्य अन्तर से हटकर, जगत में, भटकाव भरी पगडंडियों पर डोलता फिरता है, फिर उसे यथार्थ मार्ग कैसे सुझाई दे सकता है ?

महाराजश्री ने मार्ग खोज ही नहीं लिया था, उस पर सरपट भाग भी रहे थे, किन्तु गिरना–उठना हर साधक के मार्ग में घटित होता ही रहता है । कौन सा साधक है जो अनेक बार न गिरा हो ! किन्तु अपना गिरना भूल कर लोग, दूसरों के गिरने पर तालियाँ बजाते हैं । यदि कोई नहीं गिरे तो उसे गिरा दिया जाता है, या उस के गिरने की कल्पना कर ली जाती है । महाराजश्री संसार की इस मनोवृत्ति से भली भाँति परिचित थे । उन्होंने शान्तिपूर्वक अपने गिरने को साधन बना लिया था । वह संसार में रहकर सदैव संसार से उदासीन बने रहे । अपने मनोवेगों का सफलतापूर्वक सामना करते रहे । वह साधन की अत्युच्च अवस्था से थोड़ा नीचे खिसक कर जगत में आए थे तथा अपना कार्य पूर्ण कर, उसी अवस्था में वापिस

लौट गए । वह जगत के अनावश्यक प्रतिबंधों में कभी नहीं उलझे । संसार के माया से संतप्त जीवों को, उन का यही संदेश था कि यदि जगत से ऊपर उठना चाहते हो, अध्यात्म के दुर्गम पथ पर आगे बढ़ना चाहते हो, तो मेरे पीछे-पीछे चले आओ । आप का मार्ग रोकने के लिए जगत बार-बार बीच में आएगा, उसे परे धकेलते रहो, अपने गंतव्य की ओर आगे बढ़ते रहो ।

महाराजश्री कब से साधन-पथ पर आरूढ़ थे, इस का कुछ पता नहीं । हम में से, किस-किस की क्या आन्तरिक स्थिति है, इस को न संसार समझता है, न ही हम स्वयं जानते हैं । वर्तमान में जन्म ग्रहण कर, वर्तमान में ही भटक रहे हैं । न हमें अतीत का कुछ पता है, न ही भविष्य की कुछ जानकारी है, किन्तु यह जगत एक ऐसे वृक्ष की भाँति है, जहाँ यात्री सुस्ताने को, थोड़ी देर के लिए, ठहर गया है । यात्री को तो आगे-पीछे का कुछ मार्ग फिर भी दिखाई देता है, पर हम ऐसे यात्री हैं, जिनको वर्तमान जीवन के अतिरिक्त, केवल अंधकार ही दिखाई देता है । वर्तमान भी जैसा है, वैसा दिखाई नहीं देता, किन्तु महाराजश्री को वर्तमान के अतिरिक्त, अतीत एवं भविष्य का भी ज्ञान था । अपने प्राप्तव्य से भी अवगत थे तथा उसका मार्ग भी सन्मुख था ।

समन्वय-वृत्ति का महाराज श्री की दृष्टि में विशेष महत्व था । वह कहा करते थे कि सभी मनुष्यों की अपनी-अपनी चित्त-स्थिति है, अपना-अपना स्तर है, अपनी-अपनी श्रद्धा-मान्यता है । सब के लिए एक ही साधन-क्रम, कैसे उपयुक्त हो सकता है ? किन्तु सब लोग उसी एक ही दिशा की ओर बढ़ रहे हैं । यहाँ तक कि अनाचारी भी अपने मन के साथ संघर्ष करने में व्यस्त हैं । कभी जीव ऊपर आ जाता है तो कभी विकार । सभी मार्ग एक समान आदरणीय हैं, किन्तु प्राय: साधक, साधनाओं एवं सिद्धान्तों को वाद-विवाद का विषय बनाकर, तुलना करने लग जाते हैं । सब को नीचा कह कर, अपने आपको तथा अपने साधन-सिद्धान्त को सब से ऊँचा सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं । यहाँ तक कि वह अन्यों से घृणा भी करने लगते हैं ।ऐसा साधक, अभी तक साधन-पथ पर, आगे बढ़ ही नहीं पाया है । उसका मन अभी भी इतना संकुचित है कि उसमें अनन्त स्वरूप परमेश्वर प्रकट नहीं हो सकता । इसका कारण आसक्ति का भाव तथा प्रेमभाव का अभाव है ।

कई लोगों को महाराजश्री ने अपनी कृपा तथा प्रेम की वर्षा में उन्मुक्त स्नान करवाया । सौभाग्यवश कुछ छींटे मुझ पर भी पड़ गए । यदि कृपा की एक बूँद भी मिल जाय तो मनुष्य का कायाकल्प हो जाता है । विचार, भाव, तथा दृष्टि में अन्तर आ जाता है । मनोविकारों की सघन दीवार टूटने लगती है । विशालता एवं उदारता का विकास होने लगता है । मनुष्य क्या से क्या हो जाता है । महाराजश्री ने लगभग बारह वर्षों तक मुझे श्री चरणों में निरन्तर आश्रय दिए रखा, जब तक कि उनका शरीर ब्रह्मलीन नहीं हो गया । मेरी अनेक भूलों को उदार मन से क्षमा किया । मुझे प्रेम से समझाया, विवेक से बतलाया, तो कभी मुझे डाँटकर भी चेताया । यह सब महाराजश्री के प्रेम के विभिन्न स्वरूप थे ।

एक सामान्य सी लगने वाली घटना को भी उच्च आध्यात्मिकता का आधार प्रदान कर महाराजश्री इतना ऊपर उठा देते थे, कि उसमें से ज्ञान के झरने फूटने लगते थे तथा ज्ञान-प्रकाश की रश्मियाँ फैलने लगती थीं । आत्मिक आनन्द हिलोरें लेने लगता था, जिसमें अपना भूला हुआ मार्ग, स्पष्ट दिखाई देता था । चाहे बिच्छू के काटने का प्रसंग हो या बिल्लियों के लड़ने की घटना, उस पर विचार व्यक्त करने का, महाराजश्री का अपना अनूठा ढंग था । चित्त के अन्दर की वासनाओं तथा संस्कारों को ही वे बाहर जगत में, खिलवाड़ करते हुए देखते थे । ठीक भी है । अन्तर्वासना ही तो विभिन्न रूपों, दृश्यों तथा घटनाओं का स्वांग बनाकर बाहर परिलक्षित होती है । वासना ही जीव को नचाती है तथा वासना ही जगत में नाचती भी है । सारा जगत जीव की आन्तरिक स्थित का प्रकट उदाहरण है । मनुष्य चाहे तो जगत तथा इसमें घटित होने वाली घटनाओं से बहुत कुछ सीख सकता है ।

कई घटनाएँ, जिन का यहाँ वर्णन किया गया है, को अभी तक मैं अपने हृदय में गुप्त रखता आया हूँ । इसे मेरा सौभाग्य ही समझा जायेगा कि महाराज श्री ने मुझ पर विश्वास करके इन बातों को मुझ पर व्यक्त किया । मैं नहीं जानता कि किन बातों को उन्होंने मुझ पर प्रकट नहीं किया, किन्तु जो कुछ भी मुझ से कहा गया, उसे भी मैंने अन्तर में सहेजे रखा । महाराज श्री का स्पष्ट आदेश ही मेरी विवशता थी । पाठकगण इस बात के लिए मुझे क्षमा करें । न केवल महाराजश्री के वर्तमान रहते ही, अपितु उनके पश्चात् भी, इतने वर्षों तक, वे बातें अन्तर में सुरक्षित रखी रहीं । अब जबकि मेरी जीवन ज्योति बुझने का समय समीप आ गया है, तो इन बातों को इस पुस्तक के माध्यम से प्रकट कर रहा हूँ । इससे आप लोगों को, महाराज श्री को समझने, पहचानने में कुछ सहायता मिलेगी । वह इतने गहर गंभीर थे कि कोई उनके पास कब तक भी भटकता रहे, उनकी थाह नहीं पा सकता था । मुझे भी उन की गंभीरता की छोटी सी झलक, उनके जीवन के अन्तिम दिनों में ही प्राप्त हो सकी । वह भी उनके अपने बताने पर ही, अन्यथा अदृश्य महापुरुषों का सारा प्रकरण सदैव के लिए गुप्त ही बना रह जाता । मैं विवश हूँ कि महाराजश्री के कुछ रहस्य मैं कभी भी प्रकट न कर पाऊँगा तथा वह मेरे शरीर के साथ ही सदा के लिए अनन्त आकाश की गहराइयों में विलीन हो जाएँगे, क्योंकि आदेश ऐसा ही है ।

महाराजश्री में कुछ ऐसी बातें थीं, जो बड़ी विचित्र सी लगती थीं, जैसे चलते—चलते रुककर कहीं खो सा जाना, बात करते-करते एकदम ठहर जाना, जैसे किसी की बात सुन रहे हों, किन्तु इन बातों का वास्तविक कारण मैं समझ नहीं पाता था । मेरी मान्यता थी कि महाराजश्री कुछ सोचने लग जाते हैं । वास्तविक कारण की गहराई तक जा पाना, मेरे जैसे सामान्य व्यक्ति के लिए संभव भी कैसे हो सकता था ? महाराजश्री ने स्वयं भी इस बात पर से कभी परदा नहीं हटाया था । फिर पता नहीं उनकी समझ में क्या आया, जो उन्होंने मुझे कई बातें कहना आरंभ कर दिया ।

महाराजश्री की व्यवहार कुशलता का यह एक अनुकरणीय पक्ष है कि उनके पास जितने लोग भी आते थे, सब यही समझते थे कि महाराजश्री सबसे अधिक उन्हीं से प्रेम करते हैं। उनका सब से इतना मधुर व्यवहार था कि मनुष्य, भ्रान्तिवश अभिमान में आ जाता था, जबकि महाराजश्री का प्रेम सारे जगत के लिये एक समान था। जैसे राधा जी को भगवान कृष्ण के प्रेम पर अभिमान हो गया था, तो भगवान अदृश्य हो गए। भगवान को सभी गोपियों-ग्वालों पर समान प्रेम था। यही स्थिति महाराजश्री की भी थी। यह प्रेमभाव ही महाराजश्री को राग-द्वेष से दूर रखे हुए था। प्रेमी के लिए कोई पराया नहीं होता। प्रशंसक-आलोचक सब अपने होते हैं। सभी सद्भाव के पात्र होते हैं।

जैसा कि मैंने आरंभ में लिखा है कि यह पुस्तक महाराजश्री का जीवन-चरित्र नहीं है। इसमें केवल कुछ घटनाओं का संक्षिप्त वर्णन ही हो पाया है, अधिक लक्ष्य उनके ज्ञान प्रसंगों पर रखा गया है, ताकि साधक उनके प्रकाश में अपना हृदय मंथन कर सके। यदि यह कहा जाय कि हृदय मंथन ही इस पुस्तक का मुख्य विषय है, जो महाराजश्री के सद्वचनों के आधार पर टिका है, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। यदि कभी समय मिला तथा स्वास्थ्य ने साथ दिया, तो अवश्य ही महाराजश्री की संपूर्ण जीवनी लिखने का सौभाग्य प्राप्त करूँगा।

हृदय-मंथन के तीनों खण्ड पूरे कर पाऊँगा कि नहीं, इसमें मुझे संदेह था। बढ़ती वृद्धावस्था, गिरता स्वास्थ्य तथा आँखों की कमजोरी के कारण मन में शंकाएँ उठती थीं, किन्तु महाराजश्री की कृपा ही समझनी चाहिए, कि तीनों खण्ड पूरे हो गए। साधकों-पाठकों से मेरा यही आग्रह है कि इस पुस्तक श्रृंखला में लिखे ज्ञान-उपदेशों के आलोक में अपने हृदय का गंभीरता पूर्वक मंथन करें। साधक कहलाना-समझना आसान है, किन्तु साधक बनना अत्यन्त कठिन है। बहुत कुछ सहन करना पड़ता है। बहुत सुनते हुए भी बहरा बने रहना पड़ता है, किन्तु साधक सब को मन से क्षमा कर देता है तथा फिर भी सबके साथ सद्भाव बनाए रखता है।

अन्त: में एक आग्रह और है। अब अध्यात्म को छोड़कर, अन्य किसी बात में रुचि नहीं रही, इसलिए कृपया-

(१) **मुझे दीक्षा (संन्यास, ब्रह्मचर्य, मंत्र अथवा शक्तिपात) के लिए आग्रह न करें। छः सात वर्षों से यह कार्य बंद कर चुका हूँ।**

(२) **पत्रव्यवहार, टेलीफोन तथा व्यक्तिगत रूप में मुझसे संपर्क साधने का प्रयत्न न करें।**

श्री गुरु महाराज, आप सबको, अपने चरणों में प्रेम प्रदान करें।

भवदीय

इन्दौर

शिवोम् तीर्थ

अक्षय तृतीया

अनुक्रम

हृदय मंथन

जनवरी १९६६ का प्रथम सप्ताह । बाहर से आए हुए लोग प्राय: आश्रम से जा चुके थे । स्वामी नारायण तीर्थजी महाराज भी काशी वापिस पधार गए थे । प्राय: आश्रमवासी ही रह गए थे । ठण्डक का मौसम होने से मैं बाहर धूप सेवन कर रहा था । जब मनुष्य अकेला होता है तो उसका साथ देने के लिए, मन में विचारों का प्रवाह उमड़ पड़ता है । मैं बैठा सोच रहा था कि संन्यास तो अवश्य ले लिया है, किन्तु मन तो अभी भी वही है, तथा वैसा ही है । वही संस्कार, वही वासनाएँ-आशाएँ । दण्ड धारण करके बाहरी रूप तो नारायण का बना लिया है, किन्तु अन्तर में तो अभी भी शैतान दनदना रहा है । रह-रहकर कबीर की इस पंक्ति पर ध्यान चला जाता था, "मन न रँगायो, रँगायो जोगी कपड़ा ।" मैं ने अभी कपड़ा ही रँगवाया है, मन रँगना तो अभी बाकी है । कपड़ा रँगने के लिए गेरू बाजार से मिल गया, किन्तु ऐसा गेरू कहाँ से लाऊँ जो मन पर चढ़ सके, पर मेरा मन तो अभिमान की कालिमा की चादर ओढ़े था, जिस पर, 'चढ़त न दूजो रंग' वाली बात चरितार्थ हो रही थी । मन को रँगने का प्रश्न तब पैदा होता है जब मन से अभिमान रूपी कालिमा की चादर उतर जाए । तभी रंग चढ़ पाएगा ।

किसी के मन में झाँक कर कोई देख नहीं पाता । लोगों के सामने भौतिक देह ही रहती है, भगवा वस्त्रों से सुसज्जित, दण्ड धारण किए हुए, माथे पर भस्म से त्रिपुण्ड । कई लोग दिखावे का प्रमाण करते थे तो कुछ श्रद्धायुक्त हो कर, किन्तु नारायण सबको कहना पड़ता था । यदि कोई प्रणाम नहीं करता था, तो महाराजश्री कहते, "स्वामीजी को प्रणाम नहीं किया ? करो ।" मेरा मन बड़ी दुविधा में था । जो लोग अभिमान में आकर आशीर्वाद देते होंगे, उनके बारे में तो मुझे कुछ नहीं कहना, किन्तु मेरे मन से शर्म तथा ग्लानि से भीगा हुआ आशीर्वाद ही निकलता था । उस समय अपनी चित्त-स्थिति समक्ष आकर खड़ी हो जाती थी । मैं किसी को नारायण कहता तो चित्त-स्थिति मेरा मुँह चिढ़ाती थी । मैं सिर नीचा कर लेता था ।

मैं गहरी सोच में डूबता जा रहा था । यही तो मेरी समस्या थी जो महाराज श्री के समक्ष निवेदन की थी, अब वही दोहरा व्यक्तित्व मेरे सामने था । अन्तर में अत्यन्त दूषित मन, किन्तु बाहर से महान ज्ञानी । जब कोई मेरे सामने कोई प्रश्न रखता है तो कितने अधिकार से बात करता हूँ । बाहर से संन्यास, अंदर से आसक्ति, अभिमान, क्रोध और न जाने क्या-क्या, किन्तु अब मैं इस दोहरे व्यक्तित्व को ढोने पर विवश हूँ । इससे छुटकारे का एक ही उपाय है - चित्तशुद्धि, किन्तु यह कर पाना इतना सरल नहीं ।

आश्रम में दूर-दूर तक फूलों की बहार थी । चारों ओर प्राकृतिक छटा अपने जोबन

पर थी, पर ऐसे में भी मेरा मन बुझा-बुझा सा था । मेरा सारा व्यवहार मुझे एक साधक के व्यवहार के विपरीत दिखाई दे रहा था । संत वाणियाँ तथा शास्त्र पुकार-पुकार कर कहते हैं, महाराजश्री भी यही समझाते हैं कि कथनी तथा करनी को एक जैसा रखो, किन्तु मेरे मन में कुछ होता है तथा लोगों को समझता कुछ और हूँ । हर आने वाले से प्रणाम की आशा करता हूँ । बात-बात में अभिमान झलकता है । पहले की अपेक्षा क्रोध भी कुछ ज्यादा आने लग गया है, संभवत: इसका कारण संन्यास का अभिमान हो ।

कल किसी के यहाँ मेरा निमंत्रण था । कहाँ तो प्रणाम करवाते शर्म आती थी और कहाँ प्रणाम कराने की लालसा बलवती हो उठी थी । घर के लोग तथा अड़ौस-पड़ौस वाले आकर प्रणाम करते थे तो कितनी खुशी होती थी ! क्या यही है संन्यास ? क्या यही कमाने के लिये घर का त्याग किया था ? क्या यही एक साधक के लक्षण हैं ? निश्चित ही नहीं । साधक चाहे संन्यासी हो या गृहस्थ, निरभिमानी तथा विनम्र होना चाहिए । पर मैं तो सारे जगत का अभिमान जैसे अपने अन्तर में सँजोये बैठा हूँ । अभिमान का मूर्तिमान स्वरूप ।

इन्हीं विचारों में कितना समय व्यतीत हो गया, पता ही नहीं चला । अकस्मात् महाराजश्री का ध्यान आया, तो मैं उठकर उनकी कुटिया की ओर भागा । जा कर देखा तो महाराजश्री थोड़ा विश्राम लेकर उठ चुके थे तथा अपने आसन पर विराजमान थे । मुझे देखा तो पूछा कि तुम कहाँ चले गए थे ? मैंने कहा कि बाहर धूप का आनन्द ले रहा था, साथ ही कुछ विचार भी कर रहा था । महाराजश्री ने पूछा, "क्या विचार कर रहे थे ?" मैंने कहा, "अपने दोहरे व्यक्तित्व के बारे में विचार कर रहा था, एक ओर मन में गन्दगी भरी है, तो दूसरी ओर नारायण रूप का छद्म वेष धारण कर लोगों को आशीर्वाद देना पड़ता है । यह दोहरी भूमिका मुझे एक नाटक जैसी दिखाई देती है । अन्दर कुछ है तो बाहर कुछ और है । इसी की मुझे आशंका थी, वही हो रहा है । यही सोच रहा था ।"

महाराजश्री ने कहा, "तुम्हारे में दोष हैं, किन्तु तुम्हारा अध्यात्म का लक्ष्य भी स्पष्ट है, इसीलिए तुमने संन्यास लिया है । अब अपने दोषों को दूर करने में जुट जाओ । कौन सा ऐसा मनुष्य है जिस में दोष नहीं हैं ? कौन सा ऐसा साधक है जिस का मन निर्मल है ? सभी दोषों की गठड़ी उठाए घूमते हैं । साधक मन के दोषों को देख कर घबराता या निरुत्साहित नहीं होता, अपितु उन्हें दूर करने के लिए उत्साह से भरा होता है । मन की ग्लानि त्याग दो, वृथा विचारों में समय बरबाद मत करो, उत्साह पूर्वक अपने तथा जगत के कल्याण में लग जाओ ।

"शिष्य दो प्रकार के होते हैं । पहले वह जिन्हें गुरु, अपना कल्याण करने के लिए साधन में लगा देते हैं । दूसरे वह जिन्हें अपने साधन के साथ दूसरों को भी साधन-मार्ग दिखाने का उत्तदायित्व सौंप देते हैं । ऐसे शिष्यों का कार्य तो कठिन होता है पर शिष्य दोनों उत्तरदायित्व पूरी श्रद्धा तथा उत्साह से निभाने का प्रयत्न करता है । जिस शिष्य का अपने

विकारों के कारण उत्साह भंग हो जाता है, वह न अपने साधन की निरन्तरता बनाए रख सकता है, न ही अन्यों का मार्ग-दर्शन कर पाता है ।

"यह आवश्यक नहीं कि हर एक प्रश्न का उत्तर दिया ही जाए । जिस विषय में स्वयं को पता नहीं हो, तो ऐसा स्पष्ट कह देने में बुराई नहीं है कि मैं इस बारे में कोई जानकारी नहीं रखता । यदि अभिमानवश प्रत्येक प्रश्न का उत्तर देने लगोगे, जबकि स्वयं तुम्हें उसका कुछ अनुभव नहीं हो, तो यह मिथ्या अभिमान का प्रदर्शन हो जायेगा ।"

मैंने कहा- महाराज जी, यदि अनुमति हो तो एक निवेदन करूँ ।

महाराजश्री– इसमें संकोच की क्या बात है ? जो कहना हो सो कहो ।

मैंने निवेदन किया– कुछ समय के लिए आप दीक्षा देना बंद न करें । आप की सेवा तथा गुरुपद, एक साथ निभाना मुझे अनुचित एवं कठिन प्रतीत हो रहा है । छः साल पूर्व आपने दीक्षा देने के लिए अधिकृत किया था, किन्तु इसी कारण मैं टालता चला आ रहा हूँ ।

महाराजश्री– (एकदम गंभीर होकर) देखो ! गुरु तो तुम उसी समय बन गये थे जब तुम्हें दीक्षा देने का अधिकार प्रदान किया गया था । गुरु होने के नाते दीक्षा देना कर्त्तव्य था । मैं यह नहीं कहता कि शिष्यों की संख्या बढ़ाने के चक्कर में भागते फिरो, किन्तु यदि कोई जिज्ञासु आता है, तथा तुम भी उसे अधिकारी समझते हो, तो तुम इनकार नहीं कर सकते । तुम ने छः वर्ष तक अपने कर्त्तव्य पालन से उदासीनता, हमारी इच्छा का अनादर तथा अवज्ञा की है । ऐसा नहीं है कि मैं देख नहीं रहा था, किन्तु चुपचाप इस अवज्ञा को सहन कर रहा था । अब तुम अवज्ञा की निरन्तरता बनाए रखने के लिए, फिर अनुमति माँग रहे हो, यह कहाँ तक उचित है ?

गुरु-इच्छा का अध्यात्म में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि उस का आदर करने से शिष्य में समर्पण भाव बढ़ता जाता है, जो कि साधन में उन्नति के लिए आवश्यक है । गुरु इच्छा होने पर नरक में भी कूद जाने की जिस शिष्य की तैयारी होती है, वही कुछ प्राप्त कर सकता है । फारसी का एक शेर है–

बमय सज्जादा रंगी कुन, गरत् पीरे मुग़ां गोयद ।
कि सालक बेखबर न बुवद बरस्मो राहो मंज़िलहा ॥

यदि वृद्ध गुरु कहे कि शराब में अपना आसन भिगो कर, उस पर बैठ कर तू नमाज अदा कर, तो तू ऐसा कर, क्योंकि गुरु रास्ते की रीति, उसमें पड़ने वाले पड़ाव तथा गंतव्य से भलीभाँति परिचित है । एक तुम हो जो छः वर्ष से टालते चले आ रहे हो, क्योंकि तुम में अभिमान की अत्यधिकता तथा समर्पण का अभाव था । तुम ने अपनी हानि-लाभ का निर्णय, अपने मन के अधीन कर रखा था । तुम अभी तक मन के हथकण्डों से अपरिचित हो । वह गंतव्य की ओर जाने वाले मार्ग से बड़ी चतुराई से भटका देता है ।

तुम में यह भय है कि तुम अभी इस कार्य के योग्य नहीं तथा इससे तुम में अभिमान बढ़ जायेगा और तुमसे दीक्षा कार्य तथा सेवा, दोनों एक साथ हो नहीं पाएँगे । इस प्रकार तुम्हारे अनिष्ट होने की संभावना है । तुम क्या समझते हो कि इन सब बातों का मुझे ध्यान नहीं है ? यदि मैं तुम्हें नरक की ओर धकेलना चाहता हूँ तो उसमें ही तुम्हारे कल्याण का मार्ग निहित है । सामने आग जलती देखकर भी, गुरु-आदेश से उसमें कूद जाओ, क्योंकि गुरु ही उसके रहस्य को समझते हैं । एक बात का ध्यान रखो कि स्वर्ग का मार्ग नरक से होकर जाता है । दुःख सहने के पश्चात् ही सुख की प्राप्ति होती है । इस क्रम में तुम्हें जो भी अच्छे बुरे अनुभव होंगे, वह तुम्हारी आध्यात्मिक उन्नति के लिये आवश्यक हैं । उनसे बचने का प्रयत्न करना, अपनी उन्नति के मार्ग को अवरुद्ध करना है ।

मैं अभी कुछ समय और भी दीक्षा कार्य कर सकता हूँ । इसमें मुझे कोई आपत्ति भी नहीं है । जहाँ इतने वर्ष किया है दो-चार वर्ष और सही, किन्तु मैं तुम्हें जो बात कह रहा हूँ उसमें कुछ सार है, जिसको अभी तुम समझ नहीं पा रहे हो । इसलिए तुम्हारे लिये उचित यही है, तथा तुम्हारा कर्त्तव्य भी यही है कि जैसा मैं कहता हूँ वैसा ही तुम करो ।

इसके पश्चात् मेरे पास बोलने के लिए कुछ नहीं रहा । मैं चुपचाप उठकर बाहर चला आया । महाराजश्री की बात चाहे मुझे समझ न आ रही हो, पर मुझे उस पर विश्वास अवश्य था, किन्तु अभिमान का क्या किया जाय जो अन्तर में डेरा जमाए बैठा था । वह बार-बार खड़े होकर मन को विचलित कर देता था । अब तो इस दुविधा से निकलने का एक ही उपाय था, आत्म-समर्पण । जैसा महाराजश्री का आदेश हो, वैसा ही करो । महाराजश्री मेरे हित में ही तो विचार करते हैं ।

अब मेरा चिन्तन-चक्र घूमने लगा, 'जगत में सभी प्रकार के योग्य-अयोग्य, अधिकारी-अनधिकारी गुरु होंगे । योग्य तो ठीक हैं, किन्तु अयोग्य तो अभिमानवश ही दीक्षा देते होंगे । क्या ऐसे गुरु अपने अभिमान को ही बढ़ाते जा रहे हैं ? जिन में गुरु-सेवा का लेश-मात्र भी नहीं है, वे लोभवश या लोकेषणावश ही यह कार्य करते होंगे । उन का क्या होगा ?' विचारों ने फिर पलटा खाया, 'तुम इस अनावश्यक ऊहापोह में कहाँ खो गए ? सब का अपना-अपना भाव तथा अपना-अपना प्रारब्ध है । चित्त-स्थिति सभी जीवों को वासनानुसार प्रेरित करती है । जो प्रेरित हो जाता है वह संसारी । जो प्रेरित होने से इन्कार करता है तथा कर्त्तव्य का मार्ग चुनता है, वही साधक । जगत रंग-बिरंगा है, भाँति-भाँति के आवरण ओढ़े, मुखौटे लगाए, सब नाच रहे हैं । किसी को कहने-समझाने से भी क्या लाभ ? क्योंकि सुनता तो सब कोई अपने मन की ही है । तू तो अपने मन की सोच । तेरे मन में कहीं गुरुपने का अभिमान न आ जाय । तेरा गुरु सेवा का भाव बना रहे ।'

आज महाराज श्री के समझाने से मन काफी कुछ शान्त हो गया था, पर मन भी बड़ा करामाती है । एक बार शान्त होकर सदैव के लिये शान्त नहीं हो जाता । बार-बार उपद्रव

करता रहता है, अशान्ति तथा चंचलता फिर से सिर उठा लेती है, फिर से जीवन में अनिश्चितता छा जाती है, पर जो भी हो, अभी तो मन स्थिर हो गया था । मन में एक नया उत्साह भर गया था ।

(१) साधक-वृत्ति

अब मेरे जीवन का भावी-स्वरूप काफी साफ हो चला था । आश्रम सँभालना, सेवा करना, साधन करना । मैंने १९६० में अपने लिए एक नियमावली बनाई थी जिस के अनुसार मैं चलने का भरसक प्रयत्न कर रहा था । नियमों पर चलने में तो उन्नति हो रही थी, पर मन की निर्मलता के विषय में अभी तक भी अंधकार ही था । मैंने अपनी नियमावली पर पुनर्विचार आवश्यक समझा, जो नियम थे, वह तो थे ही, उनमें कुछ और नियमों को भी बढ़ाने पर विचार चल ही रहा था कि सहसा एक दिन महाराजश्री ने ही मार्गदर्शन कर दिया ।

"तुम्हारे जीवन में यदि कभी बहुत कठिनाइयों, समस्याओं तथा विपरीत परिस्थितियों का अवसर आ जाय तो यह तुम्हारे धैर्य, साहस तथा सहनशीलता की परीक्षा का समय होगा । यह अनुभव तुम्हें सतलज किनारे, कुटिया में एकान्तवास करते कभी प्राप्त नहीं हो सकते, जबकि तुम्हारे प्रारब्ध-क्षय के लिए ऐसे अनुभव अनिवार्य हैं । हम तो चले जाएँगे, किन्तु तुम्हें कठिनाइयों का सामना करना पड़े तो घबरा नहीं जाना । तुम्हें बहुत कुछ सहन करना पड़ सकता है । सहनशीलता के बिना न तो कर्मयोग, कर्त्तव्य-कर्म अथवा सेवा-धर्म ही संभव है तथा न ही प्रारब्ध क्षय होता है । प्रारब्ध फल को शान्तिपूर्वक भोग कर ही समाप्त किया जा सकता है ।

"शंकराचार्य महाराज ने संभवत: इसीलिए सहनशीलता (तितिक्षा) को इतना महत्व दिया है, किन्तु उनकी तितिक्षा का पालन करना बहुत ही कठिन कार्य है क्योंकि यह तितिक्षा बिना प्रतिकार होती है । सामान्यतया शारीरिक तितिक्षा को ही तितिक्षा समझा जाता है किन्तु मानसिक तितिक्षा तथा प्रारब्ध-फल को बिना प्रतिकार किए भोगना कहीं अधिक कठिन है । वही वास्तविक तितिक्षा भी है । जैसे किसी ने किसी पर चोरी का मिथ्या आरोप लगाया, जिससे उस व्यक्ति का अपयश फैला, पुलिस में हाजिरी देनी पड़ी तथा कई प्रकार के कष्ट उठाने पड़े । यह सब उसके प्रारब्ध के कारण हुआ । यदि वह सामान्य संसारी है तो इस कठिनाई से बचने के लिए अपनी सफाई देगा, गिड़गिड़ाएगा, सौगंध खाएगा । यह सब एक विशेष प्रकार की परिस्थिति को टालने के लिए किया जायेगा । उसी आसक्ति के कारण उस का प्रारब्ध क्षीण होने के स्थान पर अधिक बलवान हो जाएगा, किन्तु यदि वह साधक है, तितिक्षु है, प्रारब्ध के रहस्य को समझता है तो इन विपरीत परिस्थितियों का स्वागत करेगा । कोई प्रतिकार किए बिना, उन्हें प्रसन्नतापूर्वक सहन करेगा, ताकि प्रारब्ध अपना फल देकर समाप्त हो जाय । प्रतिकार का अर्थ ही यही है कि प्रारब्ध को फल देने से रोका जाय । ऐसी

प्रतिकार रहित तितिक्षा कोई सरल कार्य नहीं है, किन्तु जो गंभीर साधक है, वह सर-धड़ की बाजी लगाए होता है, फिर ऐसी बातों से वह क्या डरने वाला है !"

प्रश्न– महाराजजी ! आपको भी क्या जीवन में सहन करना पड़ा है ?

महाराजश्री– (हँसते हुए) संसार में ऐसा कौन व्यक्ति है जिसे सहन न करना पड़ता हो ! अन्तर इतना है कि संसारी रोते-रोते सहन करता है किन्तु साधक साधना मान कर हँसते-हँसते । हमने जितना सहन किया है उतना तुम्हें अभी नहीं करना पड़ा ।

प्रश्न– यदि कोई निर्दोष हो तथा उस पर कोई आक्षेप लगा दे तथा वह मौन रहकर अपनी सफाई भी न दे, कोई प्रतिकार न करे, तो लोग उसको सच ही मान लेंगे तथा इस प्रकार जगत में अपयश फैल जायेगा !

महाराजश्री– इस समय दोष चाहे न हो, पर प्रारब्ध में दोष अवश्य होता है । यदि किसी ने कोई हत्या नहीं की, किन्तु किसी तरह पकड़ लिया जाता है तथा उसे सजा भी हो जाती है तो ऐसा प्रारब्ध के बिना नहीं हो सकता । उसका पुराना लेन-देन साफ हो जाता है । साधक के सामने जहाँ व्यवहार शुद्धि का प्रश्न होता है, वहाँ प्रारब्ध-क्षय का भी । अध्यात्म-पथ के पथिक के मार्ग का प्रथम अवरोध प्रारब्ध ही है ।

मैंने कहा कि इस बारे में मेरे लिए क्या आदेश हैं ?

महाराजश्री– यदि कोई तुम्हारी टीका करता है, दुःख देता है, या तुम्हारे मार्ग में रोड़े अटकाता है, तो उसे अपना विरोधी या शत्रु मत मान लो । तुम्हारा अपना प्रारब्ध ही उसके माध्यम से प्रकट हो रहा है । यदि उस व्यक्ति के बारे में तुमने अपने मन में विपरीत भावनाएँ भर लीं तो तुम्हारा अपना मन रागद्वेषादि दुर्भावनाओं से दूषित हो जायेगा । तुम्हारा मन निर्मल होने के स्थान पर और भी अधिक मलीन होने की ओर अग्रसर हो जायेगा । तुम उसका कुछ बिगाड़ पाओगे या नहीं, किन्तु अपना बिगाड़ अवश्य कर लोगे । यदि तुम तितिक्षा पूर्वक, बिना कोई प्रतिकार किए, चित्त को शान्त रखते हुए उन कठिनाइयों को सहन करोगे तो जहाँ एक ओर तुम्हारा पूर्व प्रारब्ध क्षीण होगा, वहीं तुम अपने मन को दूषित होने से भी बचा लोगे ।

अध्यात्म पथ अपने अहम् को मलियामेट कर देने का मार्ग है । तुम्हारे ऊपर आक्रमण होते रहें, चोटों पर चोटें पड़ती रहें, बार-बार तुम्हारे अहम को धक्का लगता रहे, सब सहन करो । किसी की शिकायत नहीं, किसी की निन्दा नहीं । कोई आक्षेप करे तो प्रतिकार नहीं । तब समाप्त होगा तुम्हारा अभिमान, तब निर्मल होगा तुम्हारा मन तथा तब दूर होंगे तुम्हारे अन्तर के अवरोध । तब तुम अध्यात्म पथ पर आगे बढ़ सकोगे । जिन महापुरुषों ने भी अपने अन्तर में प्रकाश पाया है, अहम् रूपी अवरोध को इसी प्रकार कुचल कर ही । कबीर, सूर, तुका, नरसी सब के मन पर ऐसी ही बीती है । सबने उसका सामना ही

किया है । सबने मन तथा अहम को ऐसे ही कुचला है । तुम्हें ऐसी परिस्थितियों से घबराना नहीं है, उनको निमंत्रित करना है । उनसे खुश होना है, क्योंकि इस प्रकार तुम्हारे पूर्वकृत पाप कट जाएँगे । यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है परन्तु प्राय: साधक यही नहीं कर पाते । प्रारब्धक्षय का और कोई मार्ग नहीं तथा प्रारब्धक्षय के बिना अध्यात्म में गति नहीं ।

आश्रम जो तुम्हें दिया गया है तो इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि तुम सभी शिष्यों में योग्यतम हो । उत्तराधिकार का निर्णय कई बातों को ध्यान में रखकर किया जाता है । आश्रम यदि तुम्हें दिया गया है तो कोई जायदाद की मिल्कियत के रूप में नहीं । आश्रम के स्वामी शंकरजी हैं । तुम्हें केवल इसको सँभालने का उत्तरदायित्व दिया गया है, सेवा के लिए, परम्परा को आगे बढ़ाने के लिए, आश्रम संचालन के लिए, अभिमान को मारने के लिए । आश्रम में अच्छे लोग भी आएँगे, बुरे भी, सब के लिए दरवाजे खुले रखना तथा सभी को एक समान प्रेम बाँटना । जिस प्रकार भगवान का बनाया हुआ प्रकाश तथा वायु सबको एक समान सुलभ होता है, इसी प्रकार साधु का प्रेम भी अच्छे-बुरे, धनिक—निर्धन सभी के लिए एक समान सुलभ होता है । और हाँ, आश्रम की चिन्ता नहीं करना कि कैसे चलेगा ? अपने कर्त्तव्य-पालन की चिन्ता करना । जब तक यह भावना बनी रहेगी तथा जब तक शंकरजी चाहेंगे, आश्रम चलता रहेगा ।

किसी अच्छी या बुरी बात की गाँठ, अपने मन में बाँधकर रख लेने की आदत से अपने आप को बचा कर रखना, अन्यथा तुम्हारे मन में एक के पश्चात् एक गाँठें पड़ती चली जाएँगी । चित्त में गठानों का ढेर लगता जाएगा । गठानों की भूल भुलैया में तुम अपनी सुध-बुध भी खो बैठोगे । गठाने बाँधना संसारियों का काम है, साधकों का नहीं । अपने मन को पत्थर बना कर नहीं, जल के समान बनाकर रखना, जिसमें लकड़ी मारने के क्षण मात्र पश्चात् ही जल पूर्ववत् हो जाता है । कई लोग जीवन भर किसी एक ही बात को पीसते रहते हैं । हर पिसाई के पश्चात् वह बात मन में गहरे उतरती जाती है । चित्त में संस्कारों की ऐसी मोटी परत जम जाती है कि छुड़ाए नहीं छूटती । ऐसे लोगों के साथ यदि कोई घटना घट जाती है तो उसके प्रभाव को चित्त की गहराइयों तक ग्रहण करते हैं । संसारी तथा साधक में यही अंतर है ।

प्रश्न– जिस पर आश्रम का उत्तरदायित्व नहीं हो या जो एकान्तवासी साधक हो, उसके लिए तो ठीक है, किन्तु जो मनुष्य जगत-निर्वाह का बोझ उठाए हो, उसके लिए यह बातें कहाँ तक युक्ति-संगत हैं ?

महाराजश्री– ये सभी बातें मनुष्य मात्र के लिए अनुकरणीय हैं क्योंकि सारा जगत ही स्वार्थ, अभिमान तथा मोह के अथाह सागर में गहरे डूबा हुआ है । किसी की आश्रम तथा शिष्यों में आसक्ति है तो किसी की घर, परिवार, संतान अथवा संपत्ति में । जिसकी आश्रम में आसक्ति है, मरने के बाद उसकी आत्मा आश्रम में भटकती रहेगी । जिसकी घर, संपत्ति में

आसक्ति है, उसकी आत्मा अपने घर में । न आश्रम किसी का है, न ही घर । आसक्ति तथा स्वार्थ ही मेरेपने का भाव जगा देते हैं ।

संन्यासी या साधु हो जाना केवल आश्रम परिवर्तन है । अध्यात्म के नियम, परिस्थितियों के अनुसार थोड़े बहुत फेर-बदल के साथ सब पर एक समान लागू होते हैं ।

साधुओं में एक बड़ा प्रसिद्ध महात्मा बनने की इच्छा (लोकेषणा) होती है । संसारियों में धनवान, सुखी, संगीतज्ञ, कलाकार, व्यापारी या विद्वान बनने की इच्छा । यह सब लोकेषणा के ही विभिन्न स्वरूप हैं । सुख-सुविधाओं की प्राप्ति की इच्छा से भी कहीं अधिक सूक्ष्म तथा शक्तिशाली लोकेषणा की वासना होती है, जो अन्दर ही अन्दर मनुष्य को मनुष्य से पशु बना देती है । सुन्दर आश्रम, शिष्यों की भीड़, जगत में सर्वत्र प्रशंसा, क्या किसी साधु की नैया भव-सागर से पार लगा सकते हैं ! यह सब संचय वृत्ति है जो एकदम अध्यात्म के विपरीत है । आध्यात्मिक उन्नति के लिए त्याग की आवश्यकता है, सब का त्याग या सब कुछ होते हुए भी सब में त्याग वृत्ति । गृहस्थ भी यदि सब कुछ कर्त्तव्य समझते हुए अनासक्त भाव से आचरण करे, तभी वह त्यागी है । यह नियम सब पर लागू होता है ।

महाराजश्री के ज्ञानोपदेश सुनकर, मैं अपने कमरे में जाकर लेट गया किन्तु मन में वही ज्ञान चर्चा घूम रही थी । कितना कठिन है यह मार्ग ! मन तथा अहंकार को पीस कर रख देना, जबकि मन की चंचलता तथा अहम् की वृद्धि के सभी साधन मेरे सामने थे । भौतिक पंचाग्नि सेवन करने से कहीं अधिक कठिन, यह तप प्रतीत हो रहा था । यह अग्नि बाहर भी थी और अन्दर भी । स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों स्तरों पर इस की तपिश को सहन करते हुए, वासना के साथ अहम् तथा मन को भस्मीभूत करना था । एक ऐसा समुद्र लाँघना था जिसमें सर्वत्र अग्नि की हिलोरें थीं । महाराजश्री का यह कथन बार-बार याद आ रहा था कि जो आश्रम परम्परा से प्राप्त होता है उसमें कठिनाई तथा समस्याएँ बहुत होती हैं । कोई कहीं जा कर नया घर बना ले तो उसका वही स्वामी होता है । माता-पिता से आई हुई जायदाद में सौ बखेड़े होते हैं ।

मुझे अपना भावी मार्ग कण्टकपूर्ण दिखाई देने लगा, किन्तु यही तो गुरु-सेवा है । यश-अपयश, सुख-दुःख जो मिले, सब गुरुप्रसाद समझ कर शिरोधार्य है । गुरु महाराज कहते ही हैं कि सब कुछ प्रारब्धाधीन है । प्रारब्ध को समाप्त करने के लिए, उसका फल शान्ति-पूर्वक भोगने के लिए तैयार रहना चाहिए, यही साधन है । प्रारब्ध समाप्त किए बिना अध्यात्म-विचार तथा जिज्ञासा निरर्थक है । प्रारब्धक्षय ही आध्यात्मिकता का पहला मोड़ है । दूसरा मोड़ कर्त्ताभाव का अभाव हो जाना है । इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आश्रम का उपयोग है । फिर कठिनाइयाँ जो भी आएँ ।

अब मैं एक साधु था किन्तु सर्वसुविधा संपन्न । पाँव में चप्पल आ गई थी तो सिर के नीचे तकिया । बैठने के लिए एक कुर्सी भी उपलब्ध हो गई थी तथा महाराज भी कहलाने

लग गया था । अभिमान ने भी अपने पर फैलाने आरंभ कर दिये थे, चाल ने भी गंभीरता का आवरण ओढ़ लिया था, किन्तु फिर भी महाराजश्री के प्रति श्रद्धा का संबल थामे हुए था ।

प्रातःकाल भ्रमण के समय मैंने महाराजश्री से जिज्ञासा प्रकट की, "कल आपने जो कुछ कहा उसे मैंने आत्मसात् करने का प्रयत्न किया, किन्तु एक बात जो अभी तक मेरी समझ में नहीं आई वह यह है, कि कोई आक्षेप लगने पर यदि कोई अपना पक्ष प्रस्तुत नहीं करे तो भ्रान्ति निवृत्त कैसे होगी ?" महाराजश्री ने कहा, "भ्रान्ति निवृत्त करना तथा प्रारब्ध-क्षय दो भिन्न बातें हैं । आक्षेप किसी भ्रान्तिवशात् नहीं, प्रारब्धवशात् लगता है । तुम क्या समझते हो कि अपना पक्ष रखने से भ्रान्ति निवृत्त हो जाएगी ? जब तक प्रारब्ध का फल समाप्त नहीं हो जाता, तब तक कितना भी पक्ष रखो, भ्रान्ति निवृत्त नहीं होगी । पक्ष रखने का अर्थ है प्रारब्ध-फल को रोकने का प्रयास । यदि प्रारब्ध-फल अभी टल भी गया, तो कुछ समय के पश्चात् दुगने वेग से फिर प्रकट होगा । इससे अच्छा यही है कि उसे अभी भोग लिया जाय । तुम्हारे मन की यह भ्रान्ति इसलिए है कि तुम अभी भी कर्म-फल का कारण प्रारब्ध को नहीं अपितु किसी वस्तु, परिस्थिति अथवा व्यक्ति विशेष को समझ रहे हो तथा उसकी भ्रान्ति को दूर करने की बात सोचते हो । यह सोचते ही तुम्हारे सामने से प्रारब्ध-क्षय का लक्ष्य हट जाता है । शंकर भगवद्पाद ने बड़े विचारपूर्वक ही 'अप्रतिकार पूर्वकम्' लिखा है ।"

मैं यह सुनकर चुप रह गया, महाराजश्री भी इतना कहकर मौन हो गए । उस दिन के बाकी भ्रमण में हम दोनों अन्तर के विचारों में ही उलझे रहे । प्रायः लोगों की, हर बात का कारण जगत में ही खोजने की वृत्ति इतनी परिपक्व हो चुकी है कि चित्त की आन्तरिक अवस्था की ओर किसी का ध्यान ही नहीं जाता । वे यह भूल जाते हैं कि उनका निवास जगत में नहीं है । उनका वास्तविक आश्रम या घर शरीर ही है । यदि और भी गहरे उतर कर विचार करें तो उनका निवास शरीर भी नहीं, चित्त में है । सभी प्रवृत्तियाँ, घटनाएँ, तरंगें, चित्त में ही उदय होती हैं तथा क्रमशः शरीर एवं जगत के माध्यम से प्रकट होती हैं । महाराजश्री की बात का मर्म अब मुझ पर स्पष्ट होता जा रहा था । मनुष्य जगत को साधने में लगा रहता है, जब कि साधने की बात मन है तथा मन भी प्रारब्ध, वासना और कर्ताभाव से परिचालित होता है । प्रायः साधक यही भूल कर जाता है । यदि वह अन्तर की ओर मुड़ने का प्रयत्न करता भी है तो एकदम एकाग्रता का लक्ष्य अभिमुख रख लेता है तथा प्रारब्धक्षय की ओर से उदासीन रह जाता है । साधक के मन की स्थिति जगत में है । जगत से शरीर तथा शरीर से ऊपर उठकर उसे मन में प्रवेश करना है, इसलिए जगत की घटनाओं, परिणामों, सुख-दुःख एवं यश-अपयश से उसे दूर हटना पड़ेगा ।

महाराजश्री ने कितनी तर्क संगत तथा यथार्थता के अत्यन्त समीप बात कही थी ! मन जगत में उछल रहा हो, तथा कोई एकाग्रता की बात सोचने लग जाय तो यह कहाँ तक

युक्तिपरक है ? जब कोई अपनी सफाई देता है या अपना पक्ष उपस्थित करने का प्रयत्न करता है, तो उसके चित्त में इन दो बातों में से कोई बात हो सकती है —

(१) वह अपयश से बचना चाहता है, जबकि वही अपयश उस के प्रारब्ध क्षय का कारण है, मार्ग है । साधक के लिए अपयश अभिशाप नहीं वरदान है ।

(२) वह यश को प्राप्त करना चाहता है, जब कि यश प्राप्ति की वृत्ति चित्त में आसक्ति की वृद्धि करती जाती है तथा आसक्ति प्रारब्ध निर्माण का कारण है ।

जिस साधक को यश की कामना नहीं तथा अपयश का भय नहीं, वह क्यों अपनी सफाई देता फिरेगा ! यदि जगत किसी भ्रान्ति में रहना चाहता है या कुछ भी सोचता-करता है तो इससे साधक के चित्त पर प्रभाव क्यों ? महाराजश्री का आशय अब मैं समझने लगा था । मेरे लिए एक नियम बना लेने तथा उस पर चलने का प्रयत्न करने का विषय अब काफी साफ था । मैंने नियम बनाया कि कोई प्रशंसा करे या आक्षेप करे, यथा संभव मौन ही रहना । उसके जो भी परिणाम हो, उन्हें शान्तिपूर्वक सहन करना । यश-अपयश, सुख-दुःख, अनुकूलता-प्रतिकूलता की चिन्ता नहीं करना । यद्यपि इस नियम के कारण आगे चलकर मुझे काफी परेशानी हुई, किन्तु इसको परेशानी भी कैसे कहा जाए, क्योंकि यह मेरी साधना का अंग था । ऐसी अनेक समस्याएँ खड़ी होती रहती थीं, जिनका मुझे सहनशीलतापूर्वक सामना करना पड़ता था । जब कभी मन अधिक विचलित हो जाता था तो महाराजश्री के वचन याद आकर मुझे सँभाल लेते थे । तब मुझे समझ आई कि गंभीरतापूर्वक अध्यात्मिक पथ पर चलना कितना कठिन है । जमाना कब रंग बदल लेता है तथा कौन कब क्या कह देता है, इसका कुछ पता नहीं, किन्तु साधना तो जलने का ही नाम है । अपने आप को इतना जलाओ, कि जलकर राख हो जाओ । अपना व्यक्तित्व मिटा कर ही समष्टि चैतन्य की प्रत्यक्ष अनुभूति होती है । जो अध्यात्म पथ पर जलना नहीं चाहे, उसे भी जगदाग्नि में निरन्तर जलते रहना पड़ता है, पर सामान्य जीव-जगत की वासनाओं में जलने में ही प्रसन्न है । जो माया की दलदल में से निकलना नहीं चाहे, उसे कौन निकाल सकता है ?

मैंने मन ही मन गुरु महाराज को प्रणाम किया तथा अपने आप को बड़ा सौभाग्यशाली समझा कि ऐसे गुरु महाराज के श्री चरणों का सानिध्य प्राप्त हुआ ।

(२) दीक्षा कार्य का आरंभ

एक दिन मैंने महाराजश्री से पूछा कि आपने स्वामी नारायण तीर्थ देव महाराज के स्थान मदारीपुर पूर्वी बंगाल (अब बंगला देश) की यात्रा क्यों नहीं की ? महाराजश्री ने कहा कि वहाँ उनकी पुत्री तथा दामाद रहते हैं । यदि मैं गया तथा संन्यासी होने के नाते उन्होंने मुझे प्रणाम किया तो यह बहुत अनुचित होगा । मैं उनका प्रणाम ग्रहण नहीं करना चाहता । वह हमारे पूज्य हैं क्योंकि उनके अन्तर में श्री स्वामी जी महाराज का रक्त प्रवाहित है । कठिनाई

यह है कि न मैं उनका प्रणाम स्वीकार करना चाहता हूँ तथा न ही संन्यासी होने से उनको प्रणाम कर सकता हूँ । इसका एक ही उपाय मेरी समझ में आया है कि वहाँ जाया ही नहीं जाय । गुरुगीता में गुरुपत्नी तथा गुरुपुत्र का गुरु के समान ही आदर करने तथा आदेश का पालन करने की बात कही गई है ।

महाराजश्री की यह बात मेरे मन में गहरे उतर कर सुरक्षित रह गई । एक दिन महाराजश्री के पूर्वाश्रम के सुपुत्र आश्रम में आए तो संन्यासी होने के नाते उन्होंने मुझे प्रणाम किया, तो तत्काल महाराजश्री की बात याद आ गई । मुझे मन में बड़ी शर्म अनुभव हुई । कहाँ महाराजश्री का आदर्श तथा कहाँ मेरा व्यवहार ! शास्त्र तो यह कहता है कि गुरुपुत्र कैसा भी हो, पूज्य है, आदरणीय है । जिस प्रकार गुरु में दोष देखना पाप है उसी प्रकार गुरुपुत्र के गुण-दोष का विचार करना भी पाप है । वह किसी गुण के कारण नहीं, गुरुपुत्र होने के कारण पूज्य है । फिर जो पूज्य है उससे प्रणाम करवाना कहाँ तक उचित है ? अतः मैं उनके पास गया तथा जाकर बोला, "आप गुरु-पुत्र हैं । जो सौभाग्य आपको प्राप्त हुआ है वह जगत में अन्य किसी को प्राप्त नहीं हुआ । आप हमारे पूज्य हैं, इसलिये भविष्य में मुझे प्रणाम नहीं करने की कृपा करें ।" उन्होंने भी इस बात को स्वीकार कर लिया । उसके पश्चात् मैंने नियम बना लिया कि सदैव उनका आदर करना । संन्यासी होने से मैं प्रणाम तो नहीं कर सकता था, किन्तु जीवन भर उनसे भी प्रणाम की अपेक्षा नहीं की । कभी भी, कहीं भी, किसी के भी समक्ष उनकी किसी बात पर टीका नहीं की । यदि कभी किसी ने उनके बारे में विपरीत बात कह दी तो उसे यही समझाया, "उनके पूज्य होने का आधार गुण-दोष हैं ही नहीं । वहः इसलिए पूज्य हैं कि गुरु महाराज के सुपुत्र हैं । इसलिए हर हाल में उनका आदर करना हमारा कर्त्तव्य है ।" मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि महाराजश्री की कृपा से आज तक यह नियम निभा पाया हूँ । न कभी उनसे वाद—विवाद किया, न कभी उनकी शान में कोई गुस्ताखी की ।

प्रतिकार-सहित सहनशीलता का नियम बीच-बीच में अवश्य गड़बड़ा जाता था । यदि प्रतिकार नहीं करता था तो भी मन तो कसमसाता ही रहता था जिससे मैं अभिमुख विषय की ओर से हटकर, अन्तर की कसमसाहट सुलझाने में उलझ जाता था । मन उपद्रवी तो है ही, कुछ न कुछ बखेड़ा खड़ा किया ही करता था । कभी समझाकर, कभी फुसलाकर, कभी डाँटकर, तो कभी प्रेम से अपने पीछे लगा लेता है । मेरा मन चंचल तो था ही, मैं बार-बार उसके बहकावे में आ जाता था । कभी वाणी अनियंत्रित हो जाती थी, तो कभी मन का कसाव ढीला पड़ जाता था, किन्तु फिर भी सब मिलाकर मेरा व्यवहार ठीक ही था । जगत तो अपनी चालें चलने में विवश है । उसने न कभी किसी को छोड़ा है, न छोड़ेगा । इसमें किसी का दोष भी नहीं, उसका स्वभाव ही ऐसा है ।

मैंने यत्न किया कि सब के प्रति, एक समान प्रेम का भाव बनाकर रखूँ । यदि कोई मुझे अपना विरोधी मानता है तो यह उसकी मान्यता है । मेरी ओर से मेरा कोई विरोधी नहीं, किन्तु इस भाव को अपनाए रखने में भी कई मुश्किलें आईं, क्योंकि अपने आप को मेरा विरोधी समझने वाले लोग, मेरे मन का यह भाव नहीं पकड़ पाते थे । हर मनुष्य अपने चित्त के भाव के अनुसार ही सोचता है, पर यदि जगत में रहना है तो यह सब कुछ सहन करना पड़ेगा ।

मेरे सामने कई मोर्चे एक साथ खुल गए थे । एक ओर मेरे लाख इन्कार करने तथा जान बचाने के अनेक प्रयत्न करने पर भी, महाराजश्री ने आश्रम का उत्तरदायित्व सौंप दिया था । मेरी दशा कुछ भरत के समान थी जिसे रामजी की आज्ञानुसार चौदह वर्षों के लिए अयोध्या का राज-काज सँभालना पड़ा था । दूसरी ओर महाराजश्री के बार-बार यह समझाने पर भी कि सब कुछ प्रारब्धानुसार ही होता है तथा किसी का कोई दोष नहीं, फिर भी मन में यह भाव घर कर के बैठा था कि सारा दोष संसार का ही है । संसार को देखकर डर लगता था । तीसरी ओर मेरे अपने मन के दोष-अवगुण व प्रारब्ध थे, जो बार-बार मेरे जीवन-प्रवाह को जगदाभिमुखी मोड़ने का प्रयत्न करते रहते थे । कई बार मन में ऐसे बुरे विचार भी आने लगते थे जो नहीं आने चाहिये थे । महाराजश्री कभी-कभी अपने चले जाने का संकेत देते थे । अभी तो महाराजश्री का भरोसा है । उनके जाने के पश्चात् क्या होगा ? मैं उस समय तक यह बात नहीं समझ पा रहा था कि गुरु शरीर से चाहे प्रकट हों या अप्रकट, वह सदैव ही सहायक रहते हैं । जगत त्याग के पश्चात् श्री गुरु की शक्ति अनन्त गुणा बढ़ जाती है । इस बात की प्रत्यक्ष अनुभूति मुझे, महाराजश्री के चले जाने के पश्चात् ही प्राप्त हुई ।

मेरे सामने एक और समस्या दीक्षा देने की थी । गुरु बनने की मेरी तनिक भी इच्छा नहीं थी । अब तक मेरे जो संस्कार थे उनके अनुसार मैं इसे सिद्ध पुरुषों का कार्य समझता था जबकि मेरे अन्दर अभी कचरा ही भरा था, किन्तु महाराजश्री के पास इस विषय में अपने तर्क थे, जिनका मेरे पास कोई उत्तर नहीं था । यदि दीक्षा फलीभूत न हुई तो क्या होगा ? वैसे महाराजश्री ने सब समझा दिया था तथा उनका आशीर्वाद भी प्राप्त था, किन्तु फिर भी शंका तो थी ही ।

अन्ततः वह समय आ ही गया । महाराजश्री के पास दो युवकों ने दीक्षा के लिए प्रार्थना की तो उन्होंने कहा, "मैं अब दीक्षा नहीं देता, स्वामीजी के पास जाओ ।" मेरे पास आए तो मैंने कहा कि महाराजश्री की अनुमति से दीक्षा होगी, पहले वहाँ जाकर प्रार्थना करो तथा स्वीकृति ले आओ । इस प्रकार उन युवकों को दो-तीन बार मेरे तथा महाराजश्री के बीच आना-जाना पड़ा । अन्ततः स्वीकृति भी मिल गई तथा मुहूर्त भी निश्चित हो गया ।

आज दोनों युवकों की दीक्षा का मुहूर्त था । जिस गुफा में कभी दीक्षा ग्रहण करने के लिए गया था, वहीं आज दीक्षा देने जा रहा था । दीक्षा हुई तो तत्काल दोनों को अत्यन्त वेगवान् क्रियाएँ आरंभ हो गईं । महाराजश्री की कृपा से मुझे भी पहली बार शक्ति का प्रसारित होना, उन युवकों में प्रवेश करना तथा पुन: लौट के आना अनुभव हुआ । महाराजश्री ने कहा, "तुम व्यर्थ ही चिन्ता कर रहे थे । कितनी तीव्र क्रियाएँ आरंभ हो गईं, किन्तु एक बात मैं तुम से फिर स्पष्ट कह देना चाहता हूँ कि यह दीक्षा तुमने नहीं दी, तुम केवल माध्यम थे जिस दिन तुम में गुरुपने का अभिमान उदय हो गया, उस दिन से उलटा चक्र घूमना आरंभ हो जायगा ।"

मैंने कहा, "महाराज जी ! यह तो मैं समझ ही रहा हूँ कि यह किस के आशीर्वाद का फल है । आपने आदेश दिया तो मैं जा कर बैठ गया, अन्यथा मैं कहाँ का गुरु बन गया, न साधन, न ही ज्ञान-वैराग्य । यह सब आपकी लीला है ।"

महाराजश्री– यह शरीर रहे या नहीं, किन्तु तुम सदा इस भाव को बनाए रखना । प्राय: गुरुओं में गुरुपने का अभिमान जाग्रत हो जाता है । क्या किया जाय ! जीव का स्वभाव ही ऐसा है । जिस प्रकार धन, सत्ता, अधिकार, रूप, यौवनादि का अभिमान पैदा हो जाता है, वैसे ही गुरुपने का भी, किन्तु जो शिष्य गुरु-चरणों को पकड़े रखता है, उसे गुरुपने का अभिमान छू भी नहीं सकता ।

मैंने कहा, "आप की कृपा तो अथाह और अपार है किन्तु मेरी ग्रहण शक्ति अति सीमित है । आप ने खूब वर्षा बरसाई, किन्तु मैं पत्थर की तरह बाहर से ही भीग कर रह गया, अन्दर सूखा ही रहा ।"

महाराजश्री- जगत में प्राय: लोग पत्थर की ही तरह हैं । कितना भी समझाओ, कोई प्रभाव नहीं । उस समय सिर हिला देंगे, थोड़ी देर में वैसे के वैसे । साधक को प्रारंभिक अवस्था में, लम्बे समय तक ऐसे ही रहना पड़ता है, फिर प्रभु कृपा से धीरे-धीरे उसका हृदय भीगना आरंभ होता है ।

मैं अपने कमरे में वापिस आ गया । गुरु महाराज की कृपा का ही सहारा था अन्यथा मैं चारों ओर से अन्तर्शत्रुओं से घिरा था । राग-द्वेष, क्रोध, अभिमान, न जाने कौन-कौन से राक्षस मन में डेरा जमाए बैठे थे । वृत्तियाँ वासनाओं से दूषित थीं तथा विचार मलीनता से सने हुए थे । जाल में फँसे पक्षी की तरह मैं भी अन्दर ही अन्दर छटपटा रहा था, ऊपर से उत्तराधिकार तथा दीक्षा देने का बोझ सिर पर लद गया था । अंधा अंधों को मार्ग दिखा रहा था, पर क्या किया जाय, जब अपनी डोर महाराजश्री के हाथ सौंप दी है, तो जैसा वह नचाएँ, नाचना ही है । कल्याण किस में है, जीव क्या जाने ! महाराजश्री अवश्य ही कल्याण भी जानते हैं एवं कल्याण का मार्ग भी ।

(३) मन की पहेली

आश्रम में पिलखुआ (उ.प्र.) से महाराजश्री के बचपन के एक मित्र आए हुए थे। काफी हँसमुख प्रकृति के धनी थे । महाराजश्री से प्रात: भ्रमण के समय चर्चा करते हुए कह रहे थे, "क्या मनुष्य सदैव साधन ही करता रहेगा या इससे कभी छुटकारा भी होगा !"

महाराजश्री– कई लोग वेद-मंत्रों का उच्च-स्वर से पाठ करते हैं तो कई ढोलक बजा-बजा कर हरि-कीर्तन करते हैं, मंच पर बैठकर लम्बे-चौड़े प्रवचन करते हैं । इसका अर्थ ही यही है कि उन्हें अभी कुछ प्राप्त नहीं हुआ । सभी साधनाएँ कुछ प्राप्त करने के लिए हैं, प्राप्त हो जाए तो फिर साधना की क्या आवश्यकता ? कुछ लोग साधना में ही लगे रहते हैं, कभी भी कुछ प्राप्त नहीं करते, क्योंकि कुछ प्राप्त करना उनका लक्ष्य ही नहीं होता । वे धन, यश, विषय-भोग के क्षणिक सुखों की प्राप्ति को ही सब कुछ समझे रहते हैं । वे साधक रूप धारण कर लोगों को ठगने का कार्य करते हैं ।

साधन एक सीढ़ी के समान है, ऊपर चढ़ जाने के पश्चात् छूट जाती है, किन्तु प्राय: साधक ऊपर चढ़ ही नहीं पाते, सीढ़ियों पर ही ऊपर-नीचे होते रहते हैं । कभी एक सीढ़ी चढ़ जाते हैं तो कभी एक उतर आते हैं । कई तो चढ़ते ही नहीं, केवल चढ़ने का दिखावा करते हैं । या तो जो ऊपर चढ़ गया है वह साधन-रूपी सीढ़ी से दूर है, या जिस ने चढ़ना आरंभ ही नहीं किया, वह दूर है । दोनों में ऊपर—नीचे का ही अन्तर है । ऊपर चढ़ जाने के पश्चात् सीढ़ी को कंधे पर लिए, कोई घूमता नहीं रहता । यदि साधन को एक माध्यम के रूप में ही लिया जाय, उसके प्रति आसक्त नहीं हो जाया जाय, तो लक्ष्य सिद्धि हो जाने पर वह छूट जाता है ।

प्रश्न– किन्तु भक्ति मार्ग वाले तो यह कहते हैं कि उन्हें सीढ़ियाँ चढ़ने , उतरने में जो आनन्द आता है, वह ऊपर चढ़ जाने में भी नहीं, अर्थात् वह भक्ति-रस में ही डूबे रहना चाहते हैं, मुक्ति की उन्हें कामना नहीं ।

महाराजश्री– कहते तो भक्ति मार्ग वाले यही हैं, किन्तु संभवत: वे इस बात के मर्म को नहीं समझते । साधन रूपी सीढ़ी अत्यन्त लम्बी है । क्षण-क्षण में संकट है, आकर्षण हैं । कहीं शंकाएँ सिर उठाती हैं तो कहीं मन भ्रमित हो जाता है । साधक का ध्यान इन सबसे हटकर, शीघ्रातिशीघ्र ऊपर पहुँचने में ही लग जाए, तो कभी भी गिर जाने की संभावना है । इसलिए उचित यही है, कि जो कार्य उसके समक्ष है, उसी पर मन स्थिर रखा जाय तथा भविष्य के सुनहरे स्वप्न देखने बंद कर दिए जाएँ । इस समय साधना—भक्ति करना ही भक्त का लक्ष्य होना चाहिए । लक्ष्य प्राप्ति के प्रति सामान्य साधकों में धीरज का अभाव होता है, इसलिए मोक्ष-प्राप्ति रूपी लक्ष्य को, भक्ति मार्ग के आचार्यों ने सामने से हटा ही दिया । यदि कोई भक्ति में तत्पर बना रहे तो मोक्ष एक दिन प्राप्त होने वाला ही है, क्योंकि वह भक्ति का

फल है । योग तथा ज्ञान-मार्ग में धैर्य को साधन का आवश्यक अंग माना गया है, किन्तु भक्ति मार्ग में धीरज का मार्ग सब से अनूठा है ।

मनुष्य के सामने कठिनाई यह है कि बातें तो बहुत करता है, योजनाएँ भी बहुत बनाता है, पर साधन-भक्ति नहीं कर पाता । भगवान का गुणगान करने बैठता है तो सुर-ताल में उलझ जाता है । पूजा करने बैठता है तो विधि-विधान में फँस जाता है । चिन्तन-मनन के आधार-रूप पठन-पाठन में प्रवृत्त होता है तो पुस्तकीय ज्ञान संचय तथा व्याकरण की सूक्ष्मताओं में ही भटकता फिरता है । आसक्ति अलग ही उसे जगत की ओर खींचती रहती है तथा कर्ताभाव अपना प्रारब्ध चक्र घूमाता रहता है । यदि कोई साधन-पथ पर चल भी देता है, तो वह एकदम उड़कर अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेना चाहता है । यदि अन्तर्शक्ति जाग्रत हुई तो क्रियाओं में आनन्द को ही सर्वस्व समझ बैठता है । यह नहीं समझता कि यह क्रियाएँ किसी स्थिति की प्राप्ति के लिए साधन रूप हैं ।

प्रश्न– तो क्या साधक ईश्वर-प्राप्ति के पश्चात् साधन-भक्ति के आनन्द से वंचित रह जाएगा ? यह रस तो जगत में अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं ।

महाराजश्री– जगत में तो अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं, किन्तु अध्यात्म रस का आनन्द इससे भी कई गुणा अधिक है । भक्ति की अनुभूति के लिए मन तथा हृदय की आवश्यकता है, अर्थात् यह रस पराश्रित है पर अध्यात्म-आनन्द के लिए दूसरे किसी की आवश्यकता ही नहीं है, हृदय की भी नहीं । साधन-भक्ति का रस, अध्यात्म आनन्द की केवल प्रतिच्छाया है । सूर्य के प्रकाशित होने के पूर्व जैसे आकाश में लालिमा व्याप्त हो जाती है, उसी प्रकार अध्यात्म सुख से पूर्व भक्ति रस प्रकट होने लगता है । साधक के मार्ग में आसक्ति बड़ा भारी विघ्न है । साधन तथा भक्ति रस के प्रति भी आसक्ति हो जाय तो वह भक्ति भी विघ्न हो जाती है तथा साधक आत्मिक आनन्द से वंचित रह जाता है, किन्तु अभी यह प्रश्न तुम्हारे सामने है ही नहीं कि तुम भक्ति रस या आत्मिक रस, दोनों में से किसी एक को चुन सको । अभी तुम्हें जगत-बंधन, प्रारब्ध–बंधन तथा कर्त्ता–बंधन से छुटकारा पाना है, किन्तु विषय की जानकारी के लिए यह प्रश्न अवश्य ही दिशानिर्देश निश्चित करता है ।

प्रश्न– तो क्या आसक्ति इतनी दूर तक साधक के साथ जाती है ?

महाराजश्री– हाँ, सत्वगुण तक आसक्ति पीछा नहीं छोड़ती । भक्ति रस की आसक्ति सत्वगुणी ही है जो कि स्थूल विषयों की आसक्ति से भी अधिक घातक है, क्योंकि यह अत्यन्त सूक्ष्म है । यदि स्थूल आसक्ति की, बंधन में डालने की इतनी क्षमता है तो सूक्ष्म आसक्ति की शक्ति उससे अनन्त गुणा होना स्वाभाविक है । साधन की सूक्ष्मता बढ़ने के साथ, सत्वगुणी रसानुभूति भी बढ़ती है तथा आसक्ति भी साथ ही सूक्ष्म स्तरों पर उतरती जाती है । साधक-भक्त को यदि एक दिन भी यह रस प्राप्त न हो तो वह बेचैन हो जाता है । यही आसक्ति का सूक्ष्म स्वरूप है ।

जब जड़ तथा चेतन की भिन्नता का ज्ञान प्राप्त होता है तो उस ज्ञान के प्रति भी आसक्ति हो जाती है । इसीलिए साधक को इस स्तर से ऊपर उठने के लिए, काफी लम्बे समय तक प्रतीक्षा करनी पड़ सकती है । आसक्ति एक ऐसा रोग है जो जगत तथा अध्यात्म, दोनों क्षेत्रों में जीव को नचाए फिरता है । जिसमें उसे सुख मिलता है उसके प्रति राग, जिसमें दुख होता है उसके प्रति द्वेष, दोनों ही आसक्ति का स्वरूप हैं । जब आत्मा की उपलब्धि हो जाती है तो सब बोलना-गाना, भाग-दौड़, साधन-भजन समाप्त हो जाते हैं, न ही तब उसकी कोई आवश्यकता रहती है, न उस स्थिति का वर्णन ही किया जा सकता है, तथा न ही इसको कोई समझने वाला है । हम तो इतना ही कह सकते हैं कि वह जगत से परे की अवस्था है । कैसी है ? इसको वही जानता है जिसने इसे अनुभव किया है ।

जीवों के सामने जगत होता है । इन्द्रियाँ बहिर्मुखी होती हैं, इसलिये जगत ही दिखाई देता है । उसी की बात करता, उसी में व्यवहार करता तथा उसी के पीछे भागता है । शास्त्र कहते हैं कि यह यथार्थ ज्ञान नहीं है । यही ज्ञान बंधन का कारण है । तो फिर यथार्थ ज्ञान कैसे प्राप्त किया जाए ? पहले जगत की ओर के ज्ञान की खिड़की बंद करो, फिर यथार्थ ज्ञान की खिड़की खुल जायगी । शास्त्र अपने-अपने ढंग से इस का मार्ग सुझाते हैं ।

प्रश्न– यदि मुझे कहीं आसक्ति मिल जाए तो मैं उससे अवश्य पूछूँगा कि उसने जीवों को भ्रम में क्यों डाल रखा है ?

महाराजश्री– यही तो समस्या है कि आसक्ति किसी को दिखाई नहीं देती, वह अदृश्य रह कर वार करती है । जिस डोरी के साथ जीव को जगत से बाँध देती है वह डोरी भी दिखाई नहीं देती, अन्यथा उस डोरी को ही छुरी से काट दिया जाय । स्थूल जगत की हर घटना का कारण तथा क्रिया, सूक्ष्म जगत में ही घटित होती है । सूक्ष्म जगत में होने वाले परिणामों को जीव देख नहीं पाता, तथा स्थूल जगत को लेकर ही एक दूसरे से गुत्थमगुत्था होता रहता है । आसक्ति भी अत्यन्त सूक्ष्म क्रिया है । यदि जीव का विवेक अत्यन्त प्रबल तथा अन्तर्मुखी हो, तो वह इसे अनुभव कर सकता है ।

ईश्वरीय शक्ति सूक्ष्मातिसूक्ष्म तथा मायातीत है । जब आसक्ति को ही, जो कि माया के अन्तर्गत है, नहीं देखा जा सकता, तो ईश्वरीय शक्ति को कैसे देखा जा सकता है ? किन्तु वही ऐसा एक तत्व है जो सूक्ष्म स्तरों पर कार्य करते हुए, आसक्ति के बंधन को काट डालने में समर्थ है । इसलिए सभी साधनाओं का सार, उसी की शरण में जाना तथा उसकी कृपा प्राप्त करना है ।

मैं मौन साधे सब सुन रहा था । मैंने एक आदत का विकास कर लिया था कि महाराजश्री का उपदेश सुनने के पश्चात्, उसके प्रकाश में अपनी चित्त-स्थिति के अवलोकन करने का प्रयास करता था । मैं अपने अन्तर में आसक्ति की स्थिति तथा विवेक का सामर्थ्य तोलने में लग गया । मैंने पाया कि मुझ में आसक्ति बड़ी प्रबल तथा विवेक बड़ा निर्बल है ।

यह देखकर मैं कुछ मुरझा सा गया । अभी तो मैं कहीं भी नहीं । यात्रा बहुत लम्बी है, तैयारी कुछ भी नहीं ।

महाराजश्री जिस जमाने में गाज़ियाबाद में वकालत करते थे, उस समय यह पिलखुआ वाले सज्जन भी आप के साथी वकील थे । कांग्रेस पार्टी का काम भी दोनों मिलकर करते थे, किन्तु महाराजश्री की अध्यात्म में रुचि अधिक थी । वह सज्जन प्रातः काल अपने कमरे से बाहर निकले तो अपने स्वभावानुसार मुस्करा रहे थे । महाराजश्री घूमने जाने के लिये उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे । आते ही बोले, "क्या कभी आप को वकालत के दिन भी याद आते हैं ?"

महाराजश्री– कहीं अच्छा होता यदि आप यह पूछते कि अब वकालत के दिन भूल गए हैं कि नहीं । प्रायः मनुष्य अपने अतीत में ही खोया रहता है । उसका शरीर चाहे वर्तमान में हो, किन्तु मन में हर समय अतीत ही वर्तमान की तरह दिखाई देता है । यदि कभी वह अतीत की गहरी खाई में से निकल भी आता है, तो भविष्य के आकाश-मण्डल में ऊँची मानसिक उड़ानें भरने लगता है, किन्तु हम तो वर्तमान में जीने में प्रयत्नशील हैं । न अतीत की सुख-दुखात्मक स्मृतियों को उभरने देना चाहते हैं, न भविष्य की काल्पनिक तरंगें प्रसारित करते रहना चाहते हैं । इसलिये अतीत की स्मृति की संभावना बहुत कम है । हाँ, कभी प्रसंगवश अतीत उभर आता है, किन्तु प्रसंग सामने से हटते ही अतीत की स्मृति भी विलीन हो जाती है ।

वह सज्जन बोले-अच्छा एक बात पूछूँ ? सब से बुरा कौन है ?

महाराजश्री ने थोड़ा विचार किया, फिर बोले- सबसे बुरा वह है जो दूसरों की बुराई देखता है क्योंकि बुराई दिखाई देने के लिए, अपने मन में बुराई होना आवश्यक है । दूसरी बुराइयाँ तो छूट भी सकती हैं, पर इस का छूटना कठिन है । यह एक ऐसी बुराई है जो अन्य सभी बुराइयों की जननी है । बुराई देखने की आदत होने पर मनुष्य हर जगह बुराई सूँघता फिरता है तथा अपने मन में, देखी हुई सभी बुराइयों के बीज आरोपित करता जाता है । दूसरों में बुराई देखने के यह दोष तो हैं ही –

(१) मन में अभिमान पैदा होता है कि मुझ में अमुक दोष नहीं है, इस तरह अभिमान जनित संस्कार संचित हो जाते हैं ।

(२) जिस में कोई बुराई-विशेष दिखाई देती है, उसके प्रति घृणा–द्वेष पैदा हो जाता है । इस तरह घृणा तथा द्वेष के संस्कार संचित हो जाते हैं ।

(३) चूँकि दूसरे की बुराई को मनुष्य देखता है, उसका चिन्तन करता है, उसी की चर्चा करता रहता है, इसलिए उस बुराई के संस्कार संचित हो जाते हैं ।

(४) दूसरे की बुराई देखते रहने से अपना मन भी चंचल बना रहता है, इसलिए चंचलता के संस्कार संचित हो जाते हैं ।

(५) मनुष्य अनावश्यक वाद-विवाद में उलझ सकता है ।

प्रश्न– यदि दूसरे की बुराई देखना सकारात्मक हो, दूसरे को सुधारने का भाव मन में हो, तो भी क्या यह बुरी आदत है ?

महाराजश्री– पहली बात यह है कि जब तक किसी की सुधरने के योग्य मनः स्थिति न हो, तब तक कोई सुधरता नहीं । मनः स्थिति अनुकूल हो जाने पर, मनुष्य को कहीं से भी ठोकर लग जाती है तथा वह सुधारोन्मुख हो जाता है । दूसरी बात यह है कि जगत् के सामान्य क्रम को देखकर मैंने ऐसा कहा, क्योंकि दूसरों की बुराई देखने वालों में प्रायः सकारात्मक दृष्टिकोण कम ही होता है । यदि इसमें कोई अपवाद हो तो अलग बात है ।

प्रश्न– यह भी आवश्यक नहीं कि जो बुराई हम दूसरे में देख रहे हैं, वह उसमें हो ही ?

महाराजश्री– अधिकांश बातें भ्रान्ति के कारण अनुमानित, कल्पित अथवा सुनी-सुनाई होती हैं । मनुष्य का यह स्वभाव है कि बुरी बात को वह बड़ी जल्दी ले उड़ता है । अधिकांश बुराइयाँ अपने मन की बुराई के कारण दिखाई देती हैं । सारा संसार ही ऐसा है । सब एक दूसरे को बुरा कह रहे हैं जबकि सब बुरे हैं । इसमें सब से बुरी दशा उस व्यक्ति की होती है जो किसी को बुरा नहीं कहता । वह केवल सहन करता है ।

साधक- वृत्ति एकदम अलग होती है । उसे अपने अतिरिक्त जगत में कोई बुरा दिखता ही नहीं । जब सारे जगत में प्रभु समाया है तो बुरा भी किसको कहें ?

प्रश्न– अच्छा महाराजजी ! एक बात और बताइए । मन कहाँ रहता है ?

महाराजश्री– जहाँ लक्ष्य होता है, मन वहीं रहता है । लक्ष्य चन्द्रमा पर गया तो मन वहीं पहुँच जाता है । यदि लक्ष्य अपने अन्तर में कहीं हो, तो मन भी वहीं होता है । यदि लक्ष्य किसी विचार पर केन्द्रित हो तो मन विचार-रूप होता है । यदि हृदय में कोई भाव हो, तो मन भी भावुक हो उठता है । मन का अपना कोई ठौर-ठिकाना नहीं । जैसे किसी पशु को जिधर हाँका जाए, उधर चल देता है ।

प्रश्न– ऐसा पशु समान मन तो, मनुष्य की दयनीय स्थिति है । इस समस्या के हल का कोई तो उपाय होगा !

महाराजश्री– मनुष्य के पास इसका कोई उपाय नहीं । मनुष्य केवल उसकी शरण में ही जा सकता है जिसके पास उपाय है ।

प्रश्न– तो किस के पास उपाय है ?

महाराजश्री– वही जो जगत का कर्ता है । जिसकी शक्ति से ही लक्ष्य तथा मन दोनों क्रियाशील होते हैं । जिसके लिए कोई भी कार्य असाध्य नहीं ।

प्रश्न– फिर तो कोई समस्या ही नहीं रही । ईश्वर की शरण ग्रहण की, काम हो गया !

महाराजश्री– यही तो नहीं हो पाता । मनुष्य के अन्तर का अहम् जिस ने पहले अहंकार का रूप ग्रहण किया, तथा अब अभिमान बना बैठा है, मनुष्य को शरण ग्रहण नहीं करने देता । उसे अपने प्रयत्न पर ही भरोसा है ।

सामान्यतया तो मनुष्य को अपनी दयनीय स्थिति का आभास ही नहीं होता, मन के आदेश पर लक्ष्य को घुमाता रहता है । मन की थाप पर नाचता रहता है, जगत के पीछे भागता रहता है । चाहे कितना भी सुख-दुःख या मान-अपमान क्यों न हो, अपनी मानसिक दयनीय स्थिति का आभास नहीं होता । रोगी भी बना रहना चाहता है तथा रोग का उपचार भी करना चाहता है । उसमें वासना भी बनी रहे, स्वतंत्रता भी लौट आए, अहंकार भी बना रहे और अध्यात्म-लाभ भी हो जाय अर्थात् जगत भी हाथ से न छूटने पाय, ईश्वर भी मिल जाय । रोग मुक्ति के लिए, रोग की जड़ काटने से बचना चाहता है । अपने प्रयत्न पर भरोसा बनाए रखना चाहता है । उसकी मान्यता है कि पुरुषार्थ नहीं करेगा तो प्राप्त कैसे करेगा ! यह सब बातें जीव को ईश्वर की शरण लेने से रोकती हैं । जब कोई समझाता है तथा जीव की शक्तिहीनता बतलाता है, शरण तथा समर्पण का मार्ग सुझाता है, तो थोड़ी देर स्वीकृति में सिर हिलाता है, फिर अहंकार तथा पुरुषार्थ के पीछे चल देता है ।

शरण तथा समर्पण इतने सरल- साध्य नहीं है, यदि होते तो अब तक सारा जगत मुक्त हो गया होता । बातें तो सभी करते हैं किन्तु कोई एक ही शरण ग्रहण कर पाता है । सभी पुरुषार्थ और अहंकार के नशे में ही झूम रहे हैं । जब गुरु-कृपा से अन्तर्शक्ति की जाग्रति हो जाती है, शक्ति की अपने से भिन्न क्रियाओं की अनुभूति होती है, दृष्टाभाव प्रत्यक्ष हो जाता है, तब भी अहंकार पीछा नहीं छोड़ता । क्रियाओं के प्रति आसक्ति तथा उनका अभिमान बना रहता है ।

प्रश्न– समर्पण सरल नहीं, दूसरा उपाय नहीं, यह तो समस्या हो गई !

महाराजश्री– कठिन तो बहुत है पर असंभव नहीं । साधक को यह बात समझ कर ही इस क्षेत्र में पाँव रखना चाहिए कि यह काम सरल नहीं, जो लोग सिर--धड़ की बाजी लगाकर इसमें प्रवृत्त हो जाते हैं, वे सफल भी हो जाते हैं ।

प्रश्न– अच्छा महाराज जी ! एक बात और बताइये ! समाधि अवस्था में मन कहाँ रहता है ?

महाराजश्री– तुम्हारा यह प्रश्न अभी केवल बुद्धि-विलास है क्योंकि तुम अभी उस अवस्था से बहुत दूर हो । सम्प्रज्ञात् समाधि में मन अभिमुख विषय पर स्थिर होकर, तदाकार हो जाता है । असम्प्रज्ञात् समाधि में मन तथा लक्ष्य दोनों विलीन हो जाते हैं । लक्ष्य तथा मन, दोनों चित्त की क्रियाएँ हैं, जो चित्त के शक्ति के संयोग से घटित होती हैं । असम्प्रज्ञात् में जब शक्ति ही अपनी क्रियाशीलता समेट लेती है तो मन भी परिणाम रहित हो जाता है । मन तथा लक्ष्य दोनों ही जगत का अंग तथा मिथ्या हैं । साधक का शरीर तथा चित्त के साथ शक्ति का संबंध विच्छेद होते ही, इनका कुछ पता नहीं चलता, किन्तु अभी तुम्हें यह बात पूरी तरह समझ नहीं आएगी, क्योंकि तुम केवल कल्पना ही कर सकते हो । अनुभव तो कुछ है नहीं ।

प्रश्न– तो मन की समस्या जगत से जुड़ी हुई है ?

महाराजश्री– एकदम । जगत मन की ही करामात है, फिर मन अपनी ही करामात में आसक्त हो जाता है तथा जीव को अपनी अन्य करामातें दिखाता है । जीव बेचारा आशा-निराशा के झूले में झूलता रहता है । ईश्वर ने मन बनाकर ही जीव को जगत् में उलझाया है ।

यह बातें करते-करते हम आश्रम पर लौट आए थे । वहाँ देखा तो एक नया तमाशा खड़ा था । एक साँप आकर महाराजश्री की कुटिया के दरवाजे पर बैठ गया था । कोई कह रहा था कि इसको मार डालो । महाराजश्री पहुँचे तो कहने लगे, "काहे को इसे परेशान करते हो, थोड़ी देर में अपने आप रास्ता दे देगा । हम थोड़ी देर बाहर चौक में बैठ जाएँगे ।"

फिर महाराजश्री कहने लगे, "सभी को इस धरती पर रहने का अधिकार है किन्तु मनुष्य ने सभी जगह अपना अधिकार जमा रखा है । पशु-पक्षी कहीं अधिक प्रकृति के समीप हैं । आप इसीलिए साँप को मार रहे थे न, क्योंकि उसने एक ऐसे क्षेत्र में आने का उत्साह दिखाया था, जिसको तुम अपना मान रहे हो ! किन्तु पशु-पक्षियों का किसी भूखण्ड पर अधिकार नहीं । ऐसा कोई ऑफिस ही नहीं है जहाँ उनके नाम पर किसी जमीन का पट्टा दर्ज किया जाए । अब वे बेचारे कहाँ जाएँ ? आप लोग उनके लिए सुरक्षित जंगलों को काट-काट कर, मकानों के जंगल खड़े किए जा रहे हो । यदि देखा जाए तो अतिक्रमण पशु-पक्षी नहीं, मनुष्य करता है ।"

थोड़ी देर के पश्चात् साँप ने रास्ता दे दिया ।

(४) प्रति-क्षण साधन

महाराजश्री के साथ मैं प्रात: भ्रमण के लिए जा रहा था कि मेरा पाँव एक पत्थर से टकरा गया । बड़े जोर की ठोकर लगी, खून बहने लगा था । घूमना वहीं निरस्त कर, आश्रम पर लौट आए । मैं किसी प्रकार लँगड़ा कर चल रहा था । आश्रम में आकर पट्टी बाँध दी थी । तब महाराजश्री ने कहा, "तुम ध्यान से क्यों नहीं चलते ?"

मैंने कहा– मैंने देखा नहीं था ।

महाराजश्री– देखा कैसे नहीं था ! तुम्हारी आँखें तो खुली थीं ।

मैंने कहा– मेरा ध्यान दूसरी ओर था ।

महाराजश्री– यही तो मैं कहना चाह रहा था । इन्द्रियाँ नहीं देखतीं, इन्द्रियों के माध्यम से मन की ग्रहण करने की शक्ति किसी पदार्थ को स्पर्श कर, उसका ज्ञान प्राप्त करती है । यदि मन इन्द्रियों के पीछे कार्यशील न हो, तो सामने रखा हुआ पत्थर भी दिखाई नहीं देता, मानो किसी गहन अंधकार में विलीन हो जाता है । वस्तु सामने हो चाहे न हो, किन्तु दिखाई वहीं देता है जहाँ मन होता है । स्वप्न में कौन सा जगत अभिमुख होता है, किन्तु क्या कुछ दिखाई नहीं देता । दूसरी ओर कई बार जगत् अभिमुख होते हुए भी, जगत दिखाई नहीं देता । आवाजें लगाते रहो, किन्तु व्यक्ति अनसुना बना भागता जाता है ।

अध्यात्म का भी यही हाल है । ईश्वर मन के अभिमुख नहीं होता, तो समक्ष प्रत्यक्ष होते हुए भी दिखाई नहीं देता है । न जाने किस अंधकार में गुम हो जाता है । ईश्वर के प्रति मन की इस उदासीनता को ही माया कहा जाता है । तब मन जगत की ओर होता है जो दिखाई देता रहता है । इसीलिए ईश्वर प्राप्ति का उपाय, मन को जगत से हटाना तथा ईश्वर की ओर लगाना, कहा जाता है । तब उदासीनता रूपी माया, धीरे-धीरे अपने आप निवृत्त होती जाती है । उदासीनता के पूरी तरह चले जाने पर, ईश्वर प्रत्यक्ष हो जाता है ।

प्रश्न– किन्तु ईश्वर तो जगत में सर्वव्यापक है, फिर जगत् से हटने तथा ईश्वर के उन्मुख होने का प्रश्न ही कहाँ पैदा होता है ?

महाराजश्री– ठीक है कि जगत् में ईश्वर सर्वव्यापक है, किन्तु फिर भी जगत दिखाई देता है, ईश्वर नहीं । जिस जगत से हटने की बात कही गई है वह इसका नामरूपात्मक स्वरूप है जो जल में लहरों के समान है । जगत् की अनुभूति सत्ता रूप में नहीं होती । यदि ईश्वर की सत्ता अनुभव में आ जाय तो जगत् का नाम रूपात्मक स्वरूप गौण हो जाता है । इसलिए पहले ईश्वरीय सत्ता की अन्तर में अनुभूति करनी पड़ती है क्योंकि भ्रान्ति एवं ईश्वर के प्रति मानसिक उदासीनता वहीं है । संस्कारों, वासनाओं को शुद्ध कर के, निर्मल अन्तर्दृष्टि सम्पादित करनी पड़ती है । तब बाहर ईश्वर की सर्वव्यापकता का अनुभव होता है ।

प्रश्न– इसमें मन की भूमिका क्या है ?

महाराजश्री– मन ही जगत् के नाम रूपात्मक स्वरूप में उलझ गया है, जिससे ईश्वरीय सत्ता की सर्वव्यापकता की अनुभूति नहीं हो पाती । इसलिए पहले मन को अन्तर्मुखी करके, ईश्वरीय शक्ति (सत्ता) के अनुभव के योग्य बनाना पड़ेगा । इसीलिए संतों ने बार-बार इस बात को दोहराया है कि ईश्वर जगत् में नहीं मिलेगा, उसे अन्तर में ही

खोजना पड़ेगा । क्या संत इस बात को नहीं जानते थे कि ईश्वर सर्वव्यापक है, ईश्वर के बिना कुछ है ही नहीं, फिर भी साधक को अन्दर की ओर ही झाँकने का निर्देश देते थे क्योंकि सर्वप्रथम यह अनुभूति अन्तर में ही करनी पड़ती है । यह सभी काम मन ही से संभव हो पाता है ।

प्रश्न– किन्तु शक्ति जाग्रत हो जाने के पश्चात् शक्ति की क्रियाशीलता ही मनुष्य का साधन हो जाता है, फिर मन का महत्व कहाँ रह गया ?

महाराजश्री– क्रियाओं का अनुभव तो मन ही करता है । दृष्टाभाव मन में ही उदय होता है । क्रियाओं का आनन्द भी मन में ही लिया जाता है । क्रिया पर लक्ष्य रखने का जो आदेश दिया जाता है, वह मन से भिन्न नहीं । अन्तंर्क्रियाओं पर स्थिर रहना ही, मन की अन्तर्मुखता का आरंभ है ।

प्रश्न– इस का अर्थ यह हुआ कि साधन में मन की उपेक्षा नहीं की जा सकती ?

महाराजश्री– इसीलिए तो कहा गया है कि मन ही बंधन का कारण भी है और मोक्ष का भी । बहिर्मुखी विषयासक्त मन बंधन का कारण है तो अन्तर्मुखी वैराग्ययुक्त मन मोक्ष का । यह मनुष्य पर आधारित है कि वह किस प्रकार का मन रखना चाहता है ।

प्रश्न– यह मन का फंदा कब तक बना रहेगा ?

महाराजश्री– जब तक अध्यात्म लाभ नहीं हो जाता । भव रोग समाप्त हो जाने पर ही मन से छुटकारा हो सकता है ।

प्रश्न– मन पर क्रियाओं का क्या प्रभाव पड़ता है ?

महाराजश्री– मन भी एक क्रिया ही है, संकल्प विकल्पात्मक क्रिया । मन शक्ति के संयोग के बिना द्रष्टाभाव भी धारण नहीं कर सकता, न ही कर्ताभाव । संसारी जीवों का मन वासना से प्रेरित होता है । मन की क्रियाशीलता शक्ति पर अवलम्बित है, किन्तु क्रिया की दिशा वासना के अनुसार निर्धारित होती है । जाग्रति के पश्चात् शक्ति मन को वासना के चंगुल से छुड़ा लेती है । वासना तथा संस्कारों को क्षीण कर देती है, जिससे मन की अन्तर्मुखता बढ़ती जाती है । यही नारद भक्ति सूत्र की आत्माराम अवस्था है । चित्त के पूर्णतया निरुद्ध हो जाने पर, चित्त की सभी क्रियाओं को साथ लेकर शक्ति, आत्मा में विलीन हो जाती है । यही योग दर्शन की कैवल्यावस्था है ।

प्रश्न– फिर ईश्वर की सर्वव्यापकता का क्या हुआ ?

उत्तर– वह कैवल्यावस्था के पश्चात् की स्थिति है । जब अन्तर में आत्मलाभ हो जाता है तो आत्मा की सर्वव्यापकता का प्रश्न उपस्थित होता है । अन्तर में जो आत्मा है वही बाहर सर्वव्यापक परमात्मा है । अर्थात् आत्मा व्यष्टि है तो परमात्मा समष्टि ।

किन्तु मैं एकबार यह याद करवा दूँ कि अभी इस प्रकार के प्रश्न तुम्हारे लिए बौद्धिक वासना है, अन्यथा तुम्हारा अधिकार नहीं । इसीलिए तुम्हें यह अभी समझ भी नहीं आ सकते । तुम्हारा स्तर बढ़ते जाने के साथ, तुम्हारा अधिकार भी बढ़ता जायगा ।

प्रश्न– इन अवस्थाओं को प्राप्त करने में कितनी देर लगेगी ?

उत्तर– साधक ऐसे प्रश्न नहीं किया करते । उनका काम साधन करना है, पूरी लगन से, पूरी गंभीरता से । जो कच्चे साधक होते हैं तथा साधना के रहस्य को नहीं समझते, वही ऐसी बातें करते हैं । अपना लक्ष्य साधन करने पर रखो, उसका परिणाम ईश्वर पर छोड़ दो । अन्यथा धैर्य खो बैठोगे ।

प्रश्न– महाराजश्री, साधक किसे कह सकते हैं ?

महाराजश्री– किस को साधना है ? मन को । जो मन को साधने का सतत् साधन करता है, वही साधक है । सधा हुआ मन नियंत्रण में रहता है, विवेक के आदेश का पालन करता है, यथार्थ ज्ञान को प्रकट करता है तथा शुभ-कर्मों में रुचि लेता है, अनावश्यक तथा अनर्गल संकल्प नहीं करता, ऐसे मन का स्वामी ही सच्चा साधक है ।ऐसे मन का सतत् विकास करते रहना ही साधना है ।

सभी साधनाएँ वास्तव में; मन को साधने के लिए ही हैं, यही सबसे बड़ी सिद्धि है । साधक का प्रथम कर्त्तव्य ईश्वर-प्राप्ति नहीं, मन का साधना है । इसी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए शक्ति की जाग्रति, क्रियाओं का अवलोकन तथा वासनाओं-संस्कारों का क्षय किया जाता है । मन: सिद्धि के लिए ही समर्पण के गुण गाये जाते हैं, भाँति-भाँति की तपस्याएँ की जाती हैं, पठन-पाठन, तीर्थ-यात्राएँ तथा हवन-यज्ञ किए जाते हैं । जिसका लक्ष्य मन को साधना नहीं होकर कोई अन्य कामना पूर्ति हो, वह साधक कोटि में नहीं आ सकता ।

प्रश्न– इस नाप के अनुसार तो बहुत कम लोग ही साधक कहे जा सकते हैं !

महाराजश्री– हाँ, साधन करते हुए भी, हर व्यक्ति को साधक नहीं कहा जा सकता । साधक वही है जिसके साधन की दिशा ठीक है । व्यावहारिक भाषा में तो साहित्य-साधना, संगीत-साधना या किसी कला अथवा विद्या-विशेष के अभ्यास को भी साधना कहा जाता है, किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से साधन तथा साधना का स्वरूप यही है ।

कई साधक साधन तो करते हैं किन्तु उनमें क्रोध, उत्तेजना, पर-दोष दर्शन का स्वभाव आदि विकार बने ही रहते हैं । इसका अर्थ यह है कि उनकी साधन में प्रगति नहीं हो रही है । मन अभी तक नियंत्रण में नहीं आ रहा है । उन्हें अपने साधन की समीक्षा करने की आवश्यकता है ।

प्रश्न– अब मैं जैसे चलते-चलते ठोकर खा गया, तो इसका भी साधन से कोई संबंध है ?

महाराजश्री– बिल्कुल है । साधन का विषय अत्यन्त सूक्ष्म है जिस में हर समय मन की लगाम कसकर रखनी पड़ती है ताकि नियंत्रण बना रह सके । तुम्हारे ठोकर खाने का अर्थ ही यही है कि उस समय मन की लगाम ढीली हो जाने से वह अनियंत्रित होकर, इधर-उधर चंचल हो गया था तथा इसी बीच तुम ठोकर खा बैठे अर्थात् उस समय तुम साधन से गिर गए थे । मन की लगाम ढीली हो जाने से शक्ति की क्रियाशीलता का भी पूरा-पूरा लाभ नहीं उठाया जा सकता । व्यवहार में तो मन एकदम ही अनियंत्रित हो जाता है । मनुष्य पहले अन्तर में ठोकर खाता है, फिर बाहर ।

प्रश्न– इसका अर्थ यह हुआ कि साधन सतत् चलने वाला एक क्रम है । हर क्षण साधन की वृत्ति बनाए रखनी पड़ती है ।

महाराजश्री– साधक पहले साधक होता है, फिर कुछ और । इसलिए कर्म करते समय वह कर्मी नहीं हो जाता, साधक रहता है । गाते-समय, सोते-खाते या चलते समय, देखते-सुनते समय, वह साधक ही बना रहता है । उसका क्षण मात्र के लिए भी साधक-वृत्ति से हट जाना, उसका गिरना कहा जाता है । उसकी अपने मन पर दृष्टि गड़ी ही रहती है । मन जरा सा भी मार्ग से भटक जाने की ओर उन्मुख होता है कि चाबुक फटकार देता है । समय का हर क्षण, साधन का ही समय है । जीवन का प्रत्येक व्यवहार साधन का ही स्वरूप है । सभी क्रियाएँ, प्रवृत्तियाँ, विचार, भाव तथा संकल्प साधन के ही अन्तर्गत् हैं । इनमें से साधक ने यदि कुछ भी साधन से अलग कर लिया, कि वह साधक-समाज से बाहर हो जाता है ।

महाराजश्री के सोचने में कितनी सूक्ष्मता थी, किन्तु इन बातों को लागू करना हमारा अपना उत्तरदायित्व है । सचमुच सँभल कर चलने का नाम ही साधन-पथ है । प्रत्येक क्षण तथा प्रत्येक पग पर सावधानी । संभवत: साधन से असावधानी का नाम ही जगत् है, किन्तु इस समय तो जगत् ही मुख्य बना बैठा है ।सभी क्रियाएँ, वृत्तियाँ, विचार एवं भाव जगत् को ही समर्पित हैं ।

जीव मन के हाथों कैसा लाचार हो कर रह गया है, जैसे किसी शेर को पिंजरे में बंद कर दिया गया हो । उसी के अन्दर चक्कर खाने को विवश है । पिंजरे में से बाहर देखता है तो सोचता है, मैं भी कभी उन्मुक्त था । यदि इस संसार को एक बड़ा हास्पिटल माना जाय तो सभी जीव रोगियों के समान है । कई लोग अपने आपको चिकित्सक मान लेते हैं जबकि वह स्वयं भी रोगी ही हैं ।

ईश्वर ने संसार रूपी बंधन में, जगत् के छुटकारे का उपाय भी इसके कण-कण में ओत-प्रोत कर दिया है । दिव्य शक्ति संसार की प्रत्येक वस्तु एवं दृश्य में व्याप्त है ।वही माता रूप में अपने बालक को मोह-बंधन से छुड़ा सकती है ।वही अन्तर—बाहर आनन्द प्रदान कर सकती है । वही जीव को उसके निज घर में स्थापित कर सकती है ।

(५) साधनानुभव

सायंकाल का समय था, महाराजश्री आश्रम में बाहर प्रांगण में बैठे थे । गुफा में कई लोग साधन कर रहे थे । कुछ साधकों का वेग अत्यधिक तीव्र था । ऐसा लगता था मानो सारी गुफा सिर पर उठा रखी हो । एक साधक उसी आवेश में बार-बार गुफा से बाहर आ जाता था, जिसे बार-बार पकड़कर अन्दर ले जाया जा रहा था । ऐसे लगता था जैसे सारा आश्रम ही क्रियामय हो रहा हो ।

दूसरे दिन प्रात: भ्रमण में मैंने महाराजश्री से कहा, "कई साधकों को कितनी तीव्र क्रियाएँ होती हैं ! वेग सँभाले भी नहीं सँभलता ।"

महाराजश्री– हाँ, काफी तीव्र होती हैं, किन्तु जैसी क्रियाएँ तथा जितनी तीव्र क्रियाएँ दीक्षा के पश्चात् मुझे हुईं थी, वैसी किसी में देखने में नहीं आती । वेग एक तूफान की तरह आता था तथा मन-शरीर को अपने साथ उड़ा ले जाता था । तब शरीर पूरी तरह क्रियाओं से भर जाता था । ऐसी-ऐसी क्रियाएँ होती थीं जिन का हठयोग के शास्त्रों में उल्लेख ही मिलता है, या भक्ति के शास्त्रों में केवल संकेत है । ज्ञान मार्गीय ज्ञान की बहुत चर्चा करते हैं किन्तु ज्ञान अन्तर में कैसे प्रस्फुटित होता है ? इसका उन्हें अनुभव नहीं । वज्रौली तथा खेचरी बिना प्रयास ही घटित हो जाती थी । आसन बिना प्रयत्न ही पृथ्वी से उठ जाता था । देवताओं तथा सिद्धों के दर्शन होते थे । ज्ञान के रहस्य स्वयमेव खुलते जाते थे । एक अजीब सा अलौकिक नशा, हर समय चढ़ा रहता था । आवेश में ही घूमना, गंगा-स्नान करना तथा आवेश में ही सब व्यवहार होता था । एक बार नाचता हुआ सड़क पर जा रहा था, तो एक व्यक्ति ने दूसरे से कहा, "देखो ! पागल है, संभल कर निकलना ।"

उस समय विज्ञान-भवन अभी नहीं बना था । गुरुजी स्वर्गाश्रम में एक कुटिया में रहा करते थे । उनके पास ही सेवानिवृत्त एक जज साहिब की कोठी थी, जिसमें मेरी दीक्षा हुई थी । दीक्षा समय जो क्रियाएँ हुई थीं, उनसे स्वयं गुरुजी भी चकित थे । इतनी तीव्रता, ऐसा वेगवान आवेश, साधन का ऐसा विचित्र नशा कभी देखने में नहीं आया था । अभी गुफा में, तुम जिन क्रियाओं की बात कर रहे हो, वह उन क्रियाओं के सामने कुछ भी नहीं । लोगों को थोड़ी सी भी क्रिया का अनुभव होता है तो अभिमान से भर जाते हैं । मैं जानता था कि इन क्रियाओं में मेरा कुछ भी प्रयत्न नहीं है, सब गुरु-शक्ति की लीला है ।

प्रश्न– क्रियाओं की तीव्रता चित्त में रजोगुण की अधिकता से होती है या शक्ति की क्रियाशीलता के अधिक वेगवान् होने से ?

महाराजश्री– दोनों ही कारण सही हैं । प्राय: साधकों में रजोगुण की अधिकता ही क्रियाओं में तीव्रता का कारण होती है, किन्तु शक्ति का अधिक वेग भी क्रियाओं में तीव्रता ला सकता है । जब रजोगुण की अधिकता एवं शक्ति-वेग की तीव्रता, दोनों मिल जाते हैं, क्रियाएँ अत्यन्त ही तीव्रता ग्रहण कर लेती हैं ।

दीक्षा के पश्चात् मैंने ऋषिकेश में ही जय जय राम आश्रम में एक कमरे की व्यवस्था कर ली । सर्दियों का मौसम था, यात्री कोई विशेष थे नहीं । खुलकर क्रियाएँ होने की सुविधा थी । आवेश बहुत अधिक था । क्रियाएँ बड़ी भयानक होती थीं । पागलों जैसी स्थिति थी । उस समय मैं अपनी डायरी लिखा करता था ।* लोग चाहे मुझे पागल समझते थे किन्तु मुझे अन्तर में सारा ज्ञान था ।

प्रश्न– यदि आप को इतना वेग था तो गुरुजी (योगानन्दजी महाराज) उसे नियंत्रित क्यों नहीं कर देते थे ?

महाराजश्री– मैं विरक्त था, मेरे ऊपर कोई उत्तरदायित्व नहीं था, इसलिए मेरा कोई व्यवहार अधिक वेग के कारण बिगड़ने वाला नहीं था । यदि कोई गृहस्थ साधक होता तथा उस का व्यवहार बिगड़ता, तो गुरुजी उस को नियंत्रित भी करते । फिर वृथा संस्कारों के क्षय के क्रम को क्यों रोका जाय ? संस्कार क्षय हो जाने पर अपने आप क्रियाएँ नियंत्रित हो जाती हैं । वैसे गुरुजी इसके लिए समर्थ थे । एक बार उन्होंने मुझे कहा कि तुम बोलते बहुत हो । उसी समय से मेरी वाणी बंद हो गई । एक सप्ताह मैं बोला ही नहीं । तब गुरुजी ने कहा कि नहीं बोलने का यह अर्थ नहीं कि एकदम बोला ही नहीं जाय । जो बात करनी हो, वह तो करनी ही पड़ती है । तब मेरी वाणी खुल गई ।

एक बार मैं गंगाजी के अत्यन्त ठण्डे जल का घड़ा भर, गुरुजी के पास गया तथा रुद्राष्टाध्यायी का पाठ करते हुए, गुरुजी पर जल डालना शुरू कर दिया । गुरुजी ने कहा कि वकील बाबू ! यह क्या कर रहे हो ? तो उत्तर दिया कि शंकर जी का अभिषेक कर रहा हूँ । यह सारी बातें क्या एक पागल को याद रह सकती हैं ?

मेरे छोटे भाई ने क्रियाओं के कारण मेरा हाल देखा तो घबरा गया । जाकर गुरुजी से झगड़ा करने लगा कि भाई साहिब को क्या कर दिया है ?

मैं विरक्तावस्था में तो था ही, उसी पागलों जैसी अवस्था में भ्रमण करने लगा क्योंकि मैं पागल नहीं था । अन्दर से मुझे सभी ज्ञान था कि मैं क्या कर रहा हूँ, केवल आवेश को नियंत्रित नहीं कर पा रहा था । जल से भरे मटके की तरह, शक्ति भी बाहर छलकती फैल रही थी । मैं गुजरात में बंसीवाले महाराज के आश्रम में जा पहुँचा । बंसीवाले महाराज उस समय गुजरात में काफी प्रख्यात थे । नादयोग उन का साधन था । आश्रम वालों ने भी मुझे पागल समझ लिया क्योंकि मेरी बाह्य हरकतें ऐसी ही थीं । वे मेरी वास्तविक स्थिति को समझ नहीं पाए । आश्रम के बीच में एक बरसाती नाला था जिसके उस पार एकान्त में एक कुटिया बनी थी । उन्होंने मुझे वहीं ठहरा दिया । मेरे लिए तो एकान्त अच्छा था । साधन की स्वतंत्रता थी । वहाँ पहले तो बड़े जोरों की क्रियाएँ हुई । फिर ऐसा लगा कि अब देव दर्शन होने वाले

* महाराजश्री के हाथ की स्वलिखित डायरी आज भी सुरक्षित रखी हैं ।

हैं । सामने दीवार पर मंडल रूप में प्रकाश उभर आया । ऐसा लगा कि शंकरजी आ रहे हैं तथा शंकर-पार्वती उस प्रकाश में उभर आए । फिर ऐसा लगा कि अब गणेशजी आ रहे हैं, तब गणेशजी प्रकाश में उभर आए । इस प्रकार जिस देवता के दर्शन होने होते थे, पहले उस का आभास हो जाता था । यह प्रक्रिया काफी देर तक चलती रही ।

प्रश्न– देवदर्शन आप को चित्रों की भाँति हुए या जीवन्त मानव आकृतियों के रूप में !

महाराजश्री– जीवन्त । ऐसे अनुभव कई बार हुए । देवास में एक बार एक सज्जन से गायन सुन रहा था । बड़े तन्मय होकर भैरवी गा रहे थे । मैं एकाग्रता से आँखें मूँदे सुन रहा था । उस समय भैरवी के, नारी रूप में नृत्य करते हुए दर्शन हुए थे । अस्तु ।

देव दर्शन के पश्चात् मैं उठा, तथा एक कंधा आगे किए हुए तीव्र गति से भागता, बंद दरवाजे को तोड़ता हुआ बाहर निकल गया । मेरी क्रियाएँ नियंत्रित हो गईं, मैं शान्त हो गया ।

प्रश्न– क्या इस अनुभव के साथ क्रियाओं का कोई संबंध था ?

महाराजश्री– प्रत्येक अनुभव के साथ क्रिया का संबंध होता है । पहले अन्तर में रजोगुण एवं सत्त्वगुण दोनों प्रधानावस्था में थे । क्रियाओं में रजोगुण की प्रधानता समाप्त हो गई तथा इस अनुभव ने सत्त्वगुण की प्रधानता स्थापित कर दी । संस्कार एवं गुण बदलते ही क्रियाएँ शान्त हो गईं ।

प्रश्न– इन क्रियाओं के सामने इन लोगों की क्रियाएँ कुछ भी नहीं ।

महाराजश्री– ऐसा मत कहो । इन के चित्त की अवस्था के अनुसार यही क्रियाएँ, इतनी ही मात्रा में उपयुक्त हैं । इसीलिए जाग्रत शक्ति को ज्ञानवती कहा जाता है । वह चित्त-स्थिति से पूरी तरह अवगत है । यदि इन लोगों ने साधन की निरन्तरता बनाए रखी तो इन्हें अन्य अनेक अनुभव होंगे ।

प्रश्न– अच्छा महाराजजी ! आप ने अभी कहा कि आप का आसन पृथ्वी से उठ जाता था तो मन की एकाग्रावस्था में आप को यह कैसे पता लगता था कि आप का आसन उठा हुआ है ?

महाराजश्री– एकाग्रता का विषय यदि कोई अन्य हो, तथा साथ ही आसन की उठने की क्रिया हो, तब तो पता नहीं चलता किन्तु आसन का उठना ही एकाग्रता का विषय हो, तो यह ज्ञान होता है । मैं केवल दृष्टाभाव से ही इस अनुभव को देखता था । उस समय शरीर में वायु की मात्रा बहुत अधिक हो जाती थी, जिससे शरीर हल्का हो जाता था ।

प्रश्न– किन्तु यह तो अभ्यास का मार्ग है, शक्तिपात् का साधन नहीं !

महाराजश्री– यह केवल तुम्हारा सोचना ही है । मैं उस समय कोई अभ्यास नहीं करता था । क्रिया में ही मेरा मन अपने आप उधर लग जाता था । शरीर में वायु भी क्रिया रूप में अपने आप भर जाती थी । मेरा मन भी क्रिया में ही इस लक्ष्य पर एकाग्र हो जाता था । इसलिये इसे अभ्यास का मार्ग नहीं कह सकते । साधन में बैठते समय मेरे मन में इस प्रकार की कोई कल्पना भी नहीं होती थी ।

प्रश्न– यदि शरीर पृथ्वी से ऊपर उठ जाता है तो आध्यात्मिक दृष्टि से क्या लाभ होता है ?

महाराजश्री– इससे प्राण का उत्थान होता है । कुण्डलिनी की जाग्रति में सहायता होती है ।

प्रश्न– किन्तु आपकी कुण्डलिनी गुरुकृपा से पहले ही जाग्रत है !

महाराजश्री– कुण्डलिनी जाग्रत है तभी तो पूर्व संस्कार जाग्रत होते हैं । किसी जन्म में हठयोग का अभ्यास किया होगा । प्रयत्नपूर्वक शरीर में वायु की मात्रा बढ़ाकर, शरीर के उत्थान के संस्कार संचित होंगे । उन्हीं की शुद्धि के लिए अब इस प्रकार के अनुभव क्रिया रूप में प्रकट होते होंगे ।

प्रश्न– क्या ऐसा अनुभव अभी भी आप को होता है ?

महाराजश्री– नहीं । अब उस अभ्यास के संस्कार या तो समाप्त हो गए होंगे, या और अभी उदय नहीं हुए । इसलिए अभी ऐसा अनुभव नहीं होता । यदि कभी इस प्रकार के संस्कार भविष्य में उदय हुए, तो ऐसा अनुभव हो भी सक़ता है ।

प्रश्न– जाग्रत शक्ति भी मन में कितनी गहराई तक उतरकर न जाने कब-कब के गड़े हुए संस्कारों को उखाड़ कर ऊपर लाती है !

महाराजश्री– आगाशा की सूचनानुसार, मैं आज से सात हजार वर्ष पूर्व, उनके साथ मिश्र देश में था । हो सकता है उस समय के हठयोग के अभ्यास के संस्कार हों । उसके अगले जन्मों में मैं एक स्त्री के संपर्क में आया । अनेक जन्मों तक उसके साथ दाम्पत्य सुख भोगता रहा । साधना भी साथ-साथ होती रही । दोनों के संस्कार संचय होते रहे । साढ़े चार हजार वर्ष पूर्व वह स्त्री फिर मुझे मिली । अतीव रूपवती, तपस्विनी तथा विदुषी । मैं भी उस जन्म में तपस्वी, विद्वान तथा कर्मकांडी था, किन्तु मिलने पर फिर से पूर्व संस्कार उदय हो गए । उस स्त्री ने दाम्पत्य जीवन की याचना की । शंकर जी के मना करने पर भी हम दोनों दाम्पत्य जीवन में बँध गए तथा इस प्रकार जन्म–जन्मान्तर के लिए अपने पैरों में जगत-बंधन की बेड़ियाँ पहन लीं । हम बड़े प्रसन्न थे तथा एक दूसरे के प्रति मोहित भी । आने वाले साढ़े चार हजार वर्षों में हमने अनेक जन्म धारण किए । क्योंकि हम साधन-भजन

भी खूब करते थे, इसलिए प्रत्येक बार हम को ब्राह्मण का जन्म मिला तथा प्रत्येक ही बार हम पति-पत्नी हुए ।

प्रश्न– इस बात का आप को कैसे पता है ?

महाराजश्री– साधन में एक अनुभव के आधार पर ऐसा कह रहा हूँ । वह अनुभव मैंने अपनी डायरी में लिखा जो इस समय जनार्दन के पास हैं ।यह बात १९३३ की है । संभवत: अक्टोबर का महीना था । मैं प्रात: काल स्नान करने के लिए गंगाजी पर गया था । पहले माता को जल दिया, फिर पत्नी को । पहले तो उसने जल ग्रहण करने से इन्कार किया, फिर ग्रहण करने लगी । मुझे भी पागलों की तरह आवेश आ गया । जल को खूब उछाला तथा उसने भी खूब पिया ।

शिवजी ने कहा तुम दोनों का परस्पर संबंध पिछले साढ़े चार हजार वर्षों से चल रहा था । अब तक इस स्त्री ने तुम्हारा पीछा नहीं छोड़ा किन्तु अब इस जन्म में छोड़ दिया है । अब तुम दोनों एक दूसरे से मुक्त हो गए हो । यह सुनकर पत्नी (नन्दकुमारी देवी) रोने लगी । शिवजी ने कहा "अब क्यों रोती है ? अब तो प्रसन्नता का समय है ।साढ़े चार हजार वर्ष से पाँव में पड़ी बेड़ियाँ कट गई हैं । अब तुम स्वर्ग में जाओ ।"

फिर मुझे कहा, "तुम्हारे पुण्य निष्काम थे जब कि उसके पुण्य सकाम । इसीलिए तुम अध्यात्म पथ पर आरूढ़ हो, जब कि उसे स्वर्ग भेजा गया है । मैंने ही तुम्हारी धन की कामना पूर्ण नहीं होने दी । वह तुम्हारे लिए विघ्न रूप होती । तुम्हारी सभी निष्फलताएँ मेरे ही कारण हुईं ।"

तो जाग्रत शक्ति कब-कब के संस्कारों को खींच कर ऊपर ले आती है तथा विभिन्न प्रकार के अनुभव कराती है । योगी लोग अभ्यास के माध्यम से अन्तर के संस्कारों को प्रत्यक्ष करते हैं । संस्कारों का भी एक क्रम होता है । उस क्रम को पकड़कर वे अतीत की बातें जान जाते हैं तथा इस प्रकार पूर्व जन्मों का हाल ज्ञात कर लेते हैं ।

प्रश्न– हाल तो जान लेते होंगे, किन्तु अध्यात्म-उत्थान में इस बात की क्या भूमिका है ? यह तो समय तथा श्रम की बरबादी है । बाज़ीगर जैसा खेल है ।

महाराजश्री– अध्यात्म लाभ तो इसमें कुछ नहीं होता किन्तु चित्त की एकाग्रता तथा सूक्ष्मता का अवश्य अनुभव हो जाता है । एकाग्रावस्था प्राप्त कर लेने के पश्चात् ही चित्त की निरुद्धावस्था का प्रश्न पैदा होता है । इस प्रकार अध्यात्म की ओर बढ़ने वाला यह एक-एक पग है ।

प्रश्न– योगी अपने संस्कारों को ही प्रत्यक्ष कर सकते हैं या अन्यों के भी ?

महाराजश्री– यह बात योगी के अभ्यास पर आधारित है । पहले अपने चित्त पर मन को एकाग्र करना होता है, फिर दूसरे के चित्त पर । यह एकाग्रता के विभिन्न स्तर हैं । लोग इन्हें सिद्धियाँ कहते हैं ।

शक्तिपात् की साधन प्रणाली में यह सब अभ्यास करने की आवश्यकता नहीं होती। साधन में अपने आप ही चित्त की विभिन्न अवस्थाएँ प्रकट होती जाती हैं किन्तु साधक का प्राप्तव्य यह अवस्थाएँ नहीं हैं, अपितु आत्मस्थिति प्राप्त करना होता है।

(६) नारायण कुटी में निवास का आरंभ

एक दिन महाराज श्री बतला रहे थे कि वे नारायण कुटी में कैसे आ कर रहने लगे। इस विषय में उनका अनुभव साधकों के लिए विचारणीय है।

"यह बात संभवतः १९४९ की होगी, तब देवास से मार्तण्ड नामक एक पत्रिका निकला करती थी। उसीके आफिस में मुझे एक कमरा मिल गया था। उससे पहले मैं शीलनाथ धूनी संस्थान में तीन महीने रहकर आया था। वहीं मैंने शंकराचार्य विरचित सौंदर्य लहरी पर टीका लिखी थी। वहाँ से मार्तण्ड वाले कमरे में आ गया था। कोई दो महीने वहाँ रहा।

"एक दिन मैं रात को सोने की तैयारी कर रहा था कि सहसा एक अदृश्य महापुरुष मेरे कमरे में प्रकट हो गए। मैंने प्रणाम किया तो हाथ से आशीर्वाद देने के पश्चात् बोले, "यह जो माताजी की टेकड़ी है इसे सामान्य पहाड़ी मत समझो। इस पर कई सिद्ध महापुरुषों का वास है, जो अपने साधन में तो रत रहते ही हैं, साधकों की सहायता भी करते हैं। हंम जानते हैं कि तुम महू (इन्दौर से कोई बीस किलोमीटर दूर, आगरा-बम्बई राजमार्ग पर स्थित) में रहने का विचार कर रहे हो, किन्तु आगे चल कर, इसी देवास नगर में ही टेकड़ी की तलहटी में तुम्हें रहना होगा। तुम भी उन सिद्ध महापुरुषों में से एक हो जिसे कुछ कर्म भोग भोगने तथा शक्तिपात् का प्रकाश करने लिए जगत् में भेजा गया है।"

"कर्म-भोग वाली बात मेरी समझ में आ गई क्योंकि उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति मैं कर चुका था, किन्तु सिद्ध-पुरुष होने में मुझे शंका थी। कर्म भोग तथा सिद्ध-स्थिति दोनों बातें एक साथ कैसे हो सकती हैं? संभवतः उन महापुरुष ने मेरे मन की शंका जान ली। बोले, "दोनों बातें एक साथ हो सकती हैं। तपस्या के बल पर सिद्धावस्था, किन्तु किसी जन्म के गहरे दबे हुए प्रसुप्त संस्कार, एक साथ हो सकते हैं। एक दिन तुम्हें इस बात की प्रत्यक्ष अनुभूति भी हो जायेगी कि तुम उन्हीं सिद्ध पुरुषों में से एक हो। इस समय तुम्हें मैं यही कहने आया हूँ कि महू में अपना निवास नहीं बना लेना, क्योंकि तुम्हें देवास में ही रहना है, इसी माताजी की टेकड़ी की तलहटी में।"

मैंने कहा- किन्तु टेकड़ी की तलहटी में कहाँ रहूँगा? न कोई जमीन है, न ही कुटिया है।

महापुरुष– नारायण कुटी में।

नारायण कुटी का नाम सुन कर मैं चौंक गया, बोला"वहाँ तो स्वामी नारायणानन्द जी रहते हैं । कुटी इतनी बड़ी नहीं कि दो जने रह सकें ।"

महापुरुष– स्वामी नारायणानन्द का समय अब सन्निकट ही है । उसके पश्चात् कुटी खाली हो जाएगी । फिर तुम्हें वहीं वास करना होगा । तुमने चामुण्डा माता से प्रार्थना नहीं की कि मुझे दे वास, किन्तु माता ही कृपा करके अपने चरणों में तुम्हें वास दे रही है । बस यही सूचना तुम्हें देने आया था कि कहीं तुम महू में स्थान बनाकर रहने न लग जाओ ।

महाराजश्री– यह कह कर वह महापुरुष अदृश्य हो गए । मैं सोच में पड़ गया ।

प्रश्न– आप ने पूछा नहीं कि वह महापुरुष कौन थे ?

महाराजश्री– इससे पहले कि मैं सचेत होता, वह अदृश्य हो गए ।

प्रश्न– तो क्या आपने उनकी बात पर विश्वास कर के महू का विचार त्याग दिया ?

महाराजश्री– ऐसे महापुरुषों की बात के अविश्वास का तो प्रश्न पैदा ही नहीं होता । वैसे भी कुछ ही दिनों में स्वामी नारायणानन्दजी के ब्रह्मलीन होने का समाचार मिल गया तथा कुछ लोगों के प्रयत्न से हम नारायण कुटी में आ गए ।

प्रश्न– आपको क्या अपने सिद्ध-पुरुष होने का अनुभव हुआ ?

महाराजश्री– (हँसते हुए) अभी तक तो नहीं हुआ ।

प्रश्न– नारायण कुटी में आप कब आकर रहने लगे ?

महाराजश्री– कुटिया मिल जाने के पश्चात् तत्काल हम यहाँ रहने के लिए नहीं चले आए । हमारा बाहर जाने का कार्यक्रम बन चुका था, इसलिए एक सज्जन को, जो दीक्षित थे, कुटी में रख दिया, किन्तु विघ्न तो फिर भी आए ही । एक साधु जो कुटी पर कब्जा जमाना चाहता था, वह आता तथा गाली बकता था । वह सज्जन कुटी का दरवाजा अन्दर से बंद कर लेते थे । कुछ दिनों के पश्चात् उस साधु ने आना बंद कर दिया ।

प्रश्न– क्या साधुओं में भी जायदाद के विवाद होते हैं ?

महाराजश्री– साधुओं में भी गृहस्थों की तरह ही जायदाद के झगड़े होते हैं । समझ नहीं आता कि वे साधु बनते ही क्यों हैं ! यदि झगड़ा ही करना है तो विरक्ति कहाँ रही ? जब हम भ्रमण करके, कई महीनों के पश्चात् वापिस आए तो नारायण कुटी में रहने लगे ।

प्रश्न– यह शरीर भी नारायण कुटी ही है । इसमें नारायण का वास है ।

महाराजश्री– वास्तविक नारायण कुटी तो आत्मा है, किन्तु प्रसव-क्रम में आत्मा रूपी नारायण कुटी को, कारण शरीर रूपी नारायण कुटी में रखा जाता है । कारण शरीर को सूक्ष्म शरीर रूपी नारायण कुटी में, सूक्ष्म शरीर को स्थूल शरीर रूपी नारायण कुटी में तथा

स्थूल शरीर को किसी बाह्य भौतिक नारायण कुटी में, किन्तु बाह्य भौतिक नारायण कुटी भी जगत रूपी नारायण कुटी में अवस्थित रहती है । प्रतिप्रसव क्रम में यह कुटियाएँ उत्तरोत्तर एक दूसरे में समाती जाती हैं । अन्तत: जीव वास्तविक नारायण कुटी में स्थित होकर विश्राम पाता है । इस प्रकार नारायण कुटी साधन क्रम की ओर भी संकेत करती है । नाम में अर्थ छुपा होता है । उस पर विचार किया जाए तो विषय बहुत कुछ समझ आ जाता है ।

प्रश्न– क्या स्वामी नारायणानन्दजी भी सिद्ध पुरुष थे ?

महाराजश्री– मैंने केवल दो-तीन बार ही उनके दर्शन किए । अच्छे महात्मा थे । उनकी आन्तरिक स्थिति तो वही जानते थे ।

प्रश्न– तो यह नारायण कुटी, आंतरिक नारायण कुटी का बाह्य प्रतीक है ?

महाराजश्री– प्रतीक भी है तथा साधन–स्थल भी । इसके पीछे जो विचारधारा है वह अन्दर की ओर ले जाती है ।

प्रश्न– संभवत: इसी दृष्टिकोण से आप ने साधन गुफा का निर्माण कराया होगा ?

महाराजश्री– दृष्टिकोण तो यही था । विचार तो पहले से ही हमारा ऐसा था । नारायण स्वामी ने पहले यहाँ कुआँ खुदवाने का विचार किया था, खोदा भी, किन्तु पानी नहीं निकला । फिर उन्होंने नीचे किचन के पास कुआ खुदवाया । तब से यह गड्ढा ऐसे ही पड़ा था । हम ने उस का उपयोग गुफा के निर्माण में कर लिया । नारायण स्वामी को कुआँ खोदने पर पानी तो नहीं मिला, किन्तु साधन के आनन्द के कई आन्तरिक स्रोत अवश्य फूट पड़े हैं । पहले बाहर की गोल गुफा बनवाई । वह छोटी पड़ने लगी, तो उसके अन्दर एक और गुफा बनाकर उसे बढ़ा दिया गया । कुएँ के बहाने नारायण स्वामी यह गड्ढा हमारे लिए छोड़ गए थे ।

प्रश्न– अब तो आश्रम काफी सुन्दर हो गया है ?

महाराजश्री– इस की असली सुन्दरता साधन है । यदि साधन नहीं, तो बाहरी सुन्दरता किस काम की ? फिर तो एक से एक सुन्दर भवन निर्मित हैं ।

प्रश्न– आपने एक बार कहा था कि गुफा में अदृश्य महापुरुषों का आना-जाना भी बना रहता है !

महाराजश्री– आना-जाना तो बना ही रहता है । कई साधकों के ऐसे कुछ अनुभव भी हैं । कुछ लोग उन्हें भूत समझ लेते हैं । ऐसे लोग भूत तथा अदृश्य महापुरुष में अन्तर नहीं समझ पाते । यदि सच पूछो तो एक अदृश्य महापुरुष ने तो गुफा में अपना निवास ही कर लिया है । वह यहीं समाधिस्थ रहते हैं ।

प्रश्न– बाहर की गुफा में या अन्दर की गुफा में ?

महाराजश्री– अन्दर की गुफा में ।

प्रश्न– दूसरे साधकों के साथ उनका शरीर टकराता नहीं ?

महाराजश्री– उनका शरीर चिन्मय है । दूसरे साधकों के भौतिक शरीर उन्हें स्पर्श नहीं कर सकते, न ही साधकों की क्रियाओं से उनकी समाधि में कोई व्यवधान आता है ।

प्रश्न– उनकी समाधि अवस्था का वातावरण पर कुछ आध्यात्मिक प्रभाव तो अवश्य पड़ता होगा !

महाराजश्री– अवश्य पड़ता है । उनके चिन्मय शरीर से आध्यात्मिक आनन्द की जो रश्मियाँ फूटती हैं, वह गुफा के सारे वातावरण को आनन्दमय बना देती हैं । इसीलिए गुफा में साधन करना इतना अच्छा लगता है । वैसे भी साधन करते-करते गुफा का वातावरण शक्ति से भर गया है, फिर उस पर उन महापुरुषों के चिन्मय शरीर से निकली आनन्द रश्मियाँ !

प्रश्न– मेरा अनुभव तो यह है कि सारा आश्रम ही शक्तियुक्त है ।

महाराजश्री– जहाँ साधक होंगे, अदृश्य महापुरुषों का आवागमन होगा, वहाँ शक्ति का प्रसार होगा ही ।

प्रश्न– महाराजजी, यदि आप अप्रसन्न नहीं हों, तो एक बात पूछूँ ?

महाराजश्री– हम कभी अप्रसन्न ही तो नहीं होते । जो कभी-कभी क्रोध दिखाई देता है वह केवल झुँझलाहट होती है । क्रोध हृदय को छू जाता है ।

प्रश्न– इतना कुछ होते हुए भी प्राय: साधकों में अभिमान, राग-द्वेष तथा क्रोध क्यों शान्त नहीं हुआ ? उनके व्यवहार में मधुरता क्यों नहीं ? क्यों वे प्रतिशोध की ज्वाला में जलते रहते हैं ? मेरी भी यही स्थिति है । बाहर से भले ही प्रकट न करूँ किन्तु अन्तर प्रभावित हो ही जाता है । कई बार मन में शंका होने लगती है कि हम साधक हैं भी कि नहीं ?

महाराजश्री– इस विषय में मैं कई बार समझा चुका हूँ । सबसे पहले तो यह जान लो कि अपने दोषों के प्रति ध्यान आकर्षित हो जाना, साधक का प्रथम लक्षण है । बाकी रही बात दोष दूर होने की, तो उनकी जड़ें मन में इतनी गहरी हैं कि उनके उखड़ने में समय लगेगा । सभी साधक उसके लिए प्रयत्नशील हैं, इतना क्या कम है ? उन्हें सँभलने का अवसर दो ।उनकी हँसी मत उड़ाओ, उन्हें और मत गिराओ । जो गिरते को गिराता है, एक दिन उसे भी गिराया जाता है । सभी साधकों के प्रति दयाभाव तथा सद्भाव आवश्यक है । प्रभु कृपा से कभी न कभी पार पड़ ही जाएँगे ।

प्रश्न– कुछ तो अन्तर दिखाई देना चाहिए ।

महाराजश्री– अन्तर तो होता है पर दिखाई नहीं देता क्योंकि उसकी गति बहुत धीमी होती है । तुम दूसरों के दोष देखने के स्थान पर, अपने अन्तर में देखो, शक्ति की क्रियाओं पर लक्ष्य रखकर उनका अवलोकन करो । इसी में तुम्हारा लाभ है ।

महाराजश्री के व्यक्तित्व, चिन्तन तथा वर्णन शैली का चित्त पर प्रभाव पड़ता जा रहा था किन्तु विकारों की मात्रा इतनी अधिक थी कि शुद्धि में समय लगना स्वाभाविक था । मन में इतना संतोष अवश्य था कि महाराजश्री जैसे समर्थ गुरु की छत्र-छाया में आश्रय प्राप्त हो गया था । वह डाँटते, फटकारते या स्नेह करते, सब कुछ अच्छा लगता था । उनकी डाँट में जो प्यार तथा अपनत्व था, वह न जाने कितने जन्मों के शुभकर्मों तथा साधना के पश्चात् ही प्राप्त हुआ था । जब वह प्रेम से बुलाते थे, तो मन गद्‌गद् हो जाता था ।

प्रश्न– तो नारायण कुटी एक प्रकार से मंदिर ही है ?

महाराजश्री– वास्तव में अपना मन ही मंदिर है, वही नारायण कुटी है, वही साधन-स्थल है । मंदिर को निर्माण करना पड़ता है, कहीं से प्रतिमा की व्यवस्था करनी पड़ती है, फिर प्राण-प्रतिष्ठा आवश्यक है, फिर उस मंदिर में नित्य प्रति पूजा–अर्चना होती रहनी चाहिए । मंदिर में चल कर जाना पड़ता है । मन मंदिर में यह सब कुछ भी नहीं, न निर्माण, न प्रतिमा, न प्रतिष्ठा, न कहीं चल कर जाना । जब चाहो मन में झाँक कर भगवान के दर्शन कर लो । मन ही मंदिर है, मन ही तीर्थ है, मन ही सब से बड़ा शास्त्र है । मन से होकर ही प्रभु मिलन का मार्ग है ।

प्रश्न– आप ने तो मन को इतना ऊँचा उठा दिया जब कि सारा संसार मन को सारी कठिनाइयों तथा दुखों का कारण बतलाता है ! महापुरुषों तथा संतों ने भी यही कहा है ।

महाराजश्री– संतों ने ठीक कहा है किन्तु मैं उस मन की बात कर रहा था जो वैराग्यवान होकर तथा अन्तर्मुखी होकर, नारायण कुटी का स्वरूप धारण कर चुका है । ऐसा निर्मल, प्रभु प्रेमी, आत्मोन्मुख मन ही मंदिर है । ऐसे मन-मंदिर में बैठकर ही साधन किया जा सकता है ।

मन-मन्दिर का निर्माण तो नहीं करना पड़ता किन्तु मन को मन्दिर का रूप देने के लिए तैयारी बहुत करनी पड़ती है । इसी तैयारी को योग मार्ग में बहिरङ्ग साधन तथा भक्तिमार्ग में गौणी भक्ति कहा गया है । यह न ही योग है, न ही भक्ति । यह योग-भक्ति को प्राप्त करने का प्रयास है । मन को मन्दिर बनाने की प्रक्रिया है, मन को जगत से उखाड़ना तथा प्रभु में लगाने का उपक्रम है । मंदिर का रूप लेते ही, भगवान से पहले भगवान की क्रिया प्रकट हो जाती है । जिस प्रकार सूर्योदय से पूर्व आकाश में सर्वत्र लालिमा व्याप्त हो जाती है ।

जब प्रतीकोपासना का प्रचलन आरंभ हुआ उस समय भगवान के प्रतीक को तपोबल से प्रकट किया जाता था । यज्ञ-याग के लिए भी यज्ञाग्नि तपोबल से ही प्रज्वलित की जाती थी । जब तपोबल क्षीण हो गया तो प्रतिमाएँ घड़ी जाने लगीं तथा उनमें प्राण-प्रतिष्ठा का विधान किया गया । अब प्राण प्रतिष्ठा भी दिखावा मात्र ही रह गई है ।

प्रश्न– आपका तात्पर्य यह है कि अब मंदिरों की कोई आवश्यकता नहीं !

महाराजश्री– मंदिरों की बड़ी भारी आवश्यकता है । जन समाज की धर्म के प्रति रुचि जगाए रखने में ये अत्यन्त सहायक हैं । यदि मंदिर भी उठा दिए जाएँ तो रही सही धार्मिक चेतना भी लुप्त हो जाए । मैं जो बात कह रहा था वह उच्च साधकों को ध्यान में रखकर कहा रहा था । वे किसी मंदिर में जा कर भी अपने मन-मंदिर से बाहर नहीं आते । वे जहाँ भी बैठते हैं उनका मंदिर उनके साथ ही होता है । वे जहाँ भी जाते हैं, मंदिर साथ ही जाता है ।

१९५४ की बात है । तब यह शिव मंदिर अभी बना था । शंकर ने कृपा कर हम से यह बनवाया था । खूब हवा तथा रौशनी थी । लोगों ने कहा कि कहीं से अब एक नर्मदेश्वर लाया जाय । हम भला शंकर को लाने वाले कौन हैं ? जिन का मंदिर है वह अपने आप आ जाएँगे ।

वही बात हुई । देवास में एक महिला थी, बड़ी सात्विक तथा भावुक । उनके यहाँ एक शिवलिंग था जिसकी तीन पीढ़ी से पूजा करते चले आ रहे थे । रात को उस महिला को स्वप्न हुआ, दर्शन देकर शंकर जी ने कृतार्थ किया । उस महिला को कहने लगे, "हमें नारायण कुटी छोड़ आओ, अब हम वहीं रहेंगे ।" प्रात: काल उसने परिवार जनों से रात के स्वप्न की बात की, तो सब ने यही निश्चय किया कि शंकर जी को नारायण कुटी पहुँचा देना चाहिए ।

दोपहर में थोड़ा आराम करके हम अभी उठे ही थे कि वह महिला एक अन्य व्यक्ति के साथ, शंकरजी उठाए हुए आश्रम में प्रविष्ट हुई । आकर कहने लगी, "तीन पीढ़ियों से हम इनका नित्य पूजन करते चले आं रहे हैं, किन्तु अब यह यहीं रहना चाहते हैं । आपने मंदिर तो बनवा ही लिया है, इन्हें यहीं पर प्रतिष्ठित करने की कृपा करें ।" इस प्रकार शंकर जी मंदिर में स्वयं ही पधार गए ।

यदि आपका मन भी मंदिर की तरह प्रकाशित हो उठे, ईर्ष्या-द्वेष तथा काम-क्रोध रूपी चमगादड़ भगा दिए जाएँ, संस्कार-वासना रूपी कचरा बाहर फेंक दिया जाए, प्रेम तथा भावना से इसको रँग दिया जाए, तो भगवान् को आप के मन-मंदिर में आ कर विराजने में देर नहीं लगेगी । फिर भगवान् को आना भी कहाँ से है ? अन्दर से ही तो प्रकट होना है । आप को इस बात का कोई ज्ञान ही नहीं है कि आप भगवान को साथ लिए घूम रहे हैं । जैसे चश्मा

आँखों पर लगा होता है तथा हम चश्मा ढूँढते फिर रहे होते हैं । एक बार की बात मुझे याद है, तब मैं वकालत करता था । माला जैकेट की जेब में रखकर भूल गया । सारा घर छान मारा । जैकेट पहने था, जेब में माला थी, मैं ढूँढता फिर रहा था । प्रात: काल जब कचहरी जाने का समय हुआ, जैकेट पहनी, तो अकस्मात हाथ जेब में चला गया, माला मिल गई ।

यही हाल जगत का है । प्राय: लोग इस बात से ही अनभिज्ञ हैं कि सब से मूल्यवान वस्तु गुम हो गई है । यदि कभी ध्यान जाता भी है तो भी इधर से उदासीन बने रहते हैं । यदि उसे ढूँढने का प्रयत्न करते भी हैं तो जगत में ही । जैसे सूअर कचरे में मुँह घुसाता फिरता है, इस वासना, स्वार्थ और अभिमानमय संसार में ही ईश्वर को ढूँढते हैं । वस्तु कहाँ रखी है, ढूँढ कहाँ रहे हैं । मन में झाँक-टटोल कर देखें, तब न, किन्तु किसी की सुनते भी नहीं । मन में अभिमान जो बैठा है ।

प्रश्न– शराबी को कहाँ अपने ऊपर नियंत्रण रहता है ? माया का नशा भी अन्य किसी नशे से कम नहीं । फिर जीव बेचारे का भी क्या दोष है ?

महाराजश्री– उसका दोष यही है कि उसने नशा किया । अब नशे में बहकी-बहकी बातें करेगा तो लोग तो उस पर हँसेंगे ही । पहले जीव जगत के प्रति आकर्षित हुआ तो मन में विषय-रस की लालसा जागी । विषय रस-पान के लिए समुद्र में उतरा, तो उतरता ही चला गया । पीता ही चला गया यहाँ तक कि जगत रूप ही होकर रह गया, किन्तु अभी भी कुछ नहीं बिगड़ा। उसके अपने अन्तर में ऐसा मीठा स्वादिष्ट रस है कि उसके आगे विषय रस फीके हैं, पर जीव, विषय रस को छोड़ने के लिए तैयार ही नहीं है । वह शराबी बन चुका है, तथा शराब कम्बख्त मुँह से लगी छूटती नहीं ।

प्रश्न– भगवान ही कृपा करें तो बात बने !

महाराजश्री– भगवान तो दयालु हैं, सब पर कृपा करते हैं, पर जीव ही विषय रस का दीवाना बन चुका है । प्रभु-कृपा के आश्रित कहाँ है ! जैसे शराबी कहता है कि यह मत समझना कि मैं नशे में हूँ, सब समझता हूँ या जैसे पागल कहता है कि आपने क्या मुझे पागल समझ रखा है ? वही हालत विषयरस के पियक्कड़ की होती है । उसे कोई समझाए तो आगे से बहस करता है । अध्यात्म को बौद्धिक व्यायाम कहता है । कहीं सत्संग हो रहा हो तो उधर का मुँह नहीं करता । घर में कोई संत आ जाए तो घर से ही चला जाता है । ऐसा व्यक्ति क्या प्रभु-कृपा के आश्रित हो सकता है ?

प्रश्न– अच्छा ! एक बात बताइए ! क्या आसक्ति की तरह अनासक्ति के भी संस्कार होते हैं ?

महाराजश्री– अनासक्ति के भी संस्कार संचय होते हैं । यदि आसक्ति जगत है तो अनासक्ति विवेक । आसक्ति यदि जगत बंधन में डालती है, तो अनासक्ति जगत बंधन से छुड़ाती है । दोनों में कुछ करना पड़ता है । जब तक कर्म, भाव, विचार या संकल्प का संबंध

जगत से है, चाहे जगत में प्रवेश करना हो, चाहे जगत से निकलना हो, तब तक दोनों के संस्कार संचय होंगे । यदि आसक्ति के होंगे तो अनासक्ति के भी होंगे । फिर अनासक्ति के संस्कारों को क्षीण करने के लिए साधना करनी पड़ती है, किन्तु यह समस्या तभी तक है जब तक अनासक्ति को समाप्त करने का क्रम अभ्यास या प्रयत्न के स्तर पर आधारित होता है । अर्थात् अनासक्ति के संस्कारों की क्षीणता की समस्या आणवोपाय में ही है । अनासक्ति भी चित्त का एक भाव ही है, उसका भी शमन होना चाहिए ।

शक्ति जाग्रति के साधन-स्तर पर, अनासक्ति के संस्कारों के क्षय की समस्या उदय नहीं होती, क्योंकि उसमें आसक्ति के संस्कारों का क्षय जाग्रत शक्ति की क्रियाओं में स्वभावत: होता है । अनासक्ति, आसक्ति का विरोधी भाव है । जब तक दोनों में से, कोई एक भी है, संस्कार संचय होगा, किन्तु शक्ति जाग्रति के साधन में कोई विरोधी भाव उदय नहीं किया जाता । विरोधी भाव उदय करने की साधना अभ्यास के अन्तर्गत है । जाग्रति के पश्चात् दृष्टाभाव में क्रियाओं का अवलोकन ही रह जाता है, कोई कर्त्ताभाव या विरोधी भाव नहीं होता । इसलिए आसक्ति के संस्कार क्षीण तो होते हैं, किन्तु अनासक्ति के संचय नहीं होते ।

यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार कर देखा जाए तो अनासक्ति में भी आसक्ति छिपी है । तब साधक को अनासक्ति से आसक्ति हो जाती है । अत: जहाँ आसक्ति या अनासक्ति कुछ भी है, वहां संस्कार संचय है ।

प्रश्न– मन में आसक्ति या अनासक्ति कुछ तो रहेगा ही ।

महाराजश्री– नहीं ! मन में से आसक्ति तथा अनासक्ति के दोनों भाव निकल जाने चाहिये, तभी चित्त की स्वाभाविक अवस्था आएगी । आसक्ति एवं अनासक्ति दोनों आवरण रूप हैं ।

प्रश्न– तभी मन नारायण कुटी का रूप लेगा !

महाराजश्री– नहीं, तभी नारायण कुटी बनने की प्रक्रिया आरंभ होगी ।

प्रश्न– किन्तु शक्ति जाग्रति के पश्चात् तत्काल ईश्वरीय शक्ति की जाग्रति की अनुभूति आरंभ हो जाती है ।

महाराजश्री– तुम वही भूल फिर कर रहे हो । भगवान तथा उसकी लीला में अन्तर है । जाग्रति के पश्चात् ईश्वरीय शक्ति का नहीं, उसकी लीलाओं के आरंभ का अनुभव, वह भी साधक के संस्कारों के आधार पर, आरंभ होता है । अन्तर में होने वाली क्रियाएँ उसकी लीला ही तो हैं ।

प्रश्न– नारायण कुटी की अवस्था तो बड़ी दूर है !

महाराजश्री– तुमने फिर वही बात कर दी । यह किसने कहा कि समीप ही है । अरे भई ! जाना तो इससे भी आगे है । यदि यह अवस्था दूर है तो जाना दूर से भी दूर है । पुस्तकों में ही सिर दिए रहने से, या घण्टे-घड़ियाल ही बजाते रहने से यह अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती । इसके लिए भी प्रभु की कृपा, उसकी लीलाओं का अनुभव तथा मन की निर्मलता की आवश्यकता है ।

मैं मन ही मन श्री गुरुचरणों का ध्यान करने लगा । आप की लीला को कोई जान-समझ नहीं सकता । अभी तो मनुष्य जगत में ही रमा है । पूजा-पाठ आदि यदि कुछ करता भी है तो सामान्य से क्रम के रूप में ही । जब जगत दु:खी करता है तो अवश्य कुछ देर के लिये प्रभु की याद आती है, अन्यथा यदि मनुष्य प्रभु से कुछ माँगता भी है तो जगत ही । मन को नारायण कुटी बनाकर प्रभु प्रेम का अखण्ड एवं अनन्त रस भी लूटा जा सकता है, इसकी मन में कल्पना भी नहीं होती । यदि कोई साधु जीवन अपना भी लेता है तो भी आश्रम, चेले, धन, यश अर्थात् यही जगत् । एकान्त कुटिया में पड़ा हो तो मन में वासनाएँ ही घूमती रहती हैं । कैसे बनेगा यह मन नारायण कुटी, जिसमें प्रभु का आनन्द, प्रकाश तथा चेतना सर्वत्र फैली हो ? प्रभु ही एक सहारा है । जगत तो फँसाने-उलझाने वाला ही है ।

(७) कल्पना लोक

संभवत: संसार में सबसे कठिन कार्य गुरु-सेवा में निरंतर बने रहना है । अधिकांश शिष्य कोई न कोई बहाना बना कर गुरुसेवा से विरत हो जाते हैं । गुरुसेवा के आकर्षण में शिष्य को बहुत कुछ सहन करना पड़ सकता है । उसे अपने मन को मार कर रखना पड़ता है । सेवक की अपनी इच्छा, सम्मान भावना या आकांक्षा कुछ नहीं होती, गुरु सेवा ही मुख्य होती है । गुरुसेवक इसी भाव को पकड़कर चलता रहता है तथा अन्य सभी बातों को गौण मान कर पृष्ठभूमि में धकेलता रहता है । गुरुसेवा में, गुरु के अन्य शिष्यों, भक्तों, आगंतुकों के रूप में जन-समाज से व्यवहार भी गुरुसेवा का ही अंग हैं, किन्तु लोगों की सभी अपेक्षाओं को पूरा कर पाना किसी के भी वश की बात नहीं ।

अब तक, अन्तर में मलीनता तथा बाहर ज्ञानियों जैसे दोहरे व्यक्ति की ही समस्या एक थी, किन्तु अब यही समस्या एक अन्य रूप में भी शीघ्र ही मेरे समक्ष उदय होने वाली थी । एक साथ गुरुसेवक तथा स्वयं गुरु का उत्तरदायित्व निभाने की समस्या । गुरु से दूर रहकर, गुरुसेवा के भाव से, किसी के लिए गुरु कर्त्तव्य मानकर निभा ले जाना, अपेक्षाकृत सरल कार्य है । गुरु के सानिध्य में रहते हुए दोनों कर्त्तव्यों का निर्वाह कर पाना कितना कठिन है, इसको केवल वही समझ सकता है, जिसके कंधों पर दोनों बोझ एक साथ आ पड़े हों । मैं एक ऐसा गुरु बनने जा रहा था जिसमें गुरुत्व का एक भी लक्षण नहीं था । ठीक है कि शिष्यों की क्रियाएँ गुरु संकल्प के अधीन होने लगेंगी, किन्तु अपने में भी तो कोई सार होना चाहिए !

यह भी सही है कि आज संसार का यही ढंग है । जो स्वयं भटका है वह दूसरों को राह दिखा रहा है । जो स्वयं अंधकार में बैठा है वह दूसरों को प्रकाश के लक्षण बता रहा है । पर इससे मुझे क्या लेना था ? क्या मैं भी उन्ही में से एक होने जा रहा हूँ ?

गुरुसेवा यदि आसक्ति रहित की जाए तो वह मन को अन्दर की ओर धकेलती है, जबकि मन बाहर की ओर भागना चाहता है । साधक में अन्दर—बाहर का द्वन्द्व चला ही करता है । मेरा मन भी कभी अन्तर्मुखता धारण कर लेता था तो अन्तर में उत्साह तथा धैर्य भर उठता था । जब मन बहिर्मुखी चंचल हो जाता था तो तरह-तरह की शंकाएँ घेर लेती थीं । तब मैं एकदम सभी हथियार फेंक कर, निरुत्साहित हो जाता था । गुरु तथा शिष्य का कर्त्तव्य एक साथ निभाने में भी जब सेवाभाव की प्रबलता हो जाती थी, तो ऐसा प्रतीत होता था मानों मैं पहाड़ लाँघ जाऊँगा, किन्तु चित्त में एक भाव स्थिर नहीं रह पाता था । मैं नित्य ही आशा-निराशा के झूले में झूल रहा था ।

महाराजश्री का मैं शिष्य था तथा उनका मेरे प्रति व्यवहार एक शिष्य के रूप में ही था । मुझे उनका अपार स्नेह भी प्राप्त था किन्तु जब मुझ से कोई भूल हो जाती थी तो डाँटने में भी कोई कसर नहीं छोड़ते थे । मेरे अन्दर यह अभिमान तथा भय घर किए था कि यदि कभी महाराजश्री ने मेरे शिष्यों के सामने मुझे डाँट दिया तो मेरे शिष्यों पर इसकी क्या प्रतिक्रिया होगी ? यह विचार तथा शंकाएँ मेरे सेवाभाव तथा उत्साह को कुण्ठित कर देता थीं ।

मैं बड़ा सँभल-सँभल कर चलने लगा गया था । मैं जितना अधिक सावधान था, भूलें भी उतनी ही अधिक होती थीं तथा उतनी ही डाँट भी अधिक पड़ती थी । डाँट को मैं महाराजश्री का आशीर्वाद समझता था किन्तु अन्तर का अभिमान मुझे बेचैन किए हुए था । अन्ततः वह दिन आ ही गया जब महाराजश्री ने मुझे मेरे कुछ शिष्यों के सामने ही फटकार दिया । मुझे अपने शिष्यों से आँख मिलाने की हिम्मत नहीं हो रही थी । वह सब भी मुँह नीचा किए बैठे थे । मैं उठकर वहाँ से चला गया था ।

अकेले में उचित अवसर देखकर मैं ने महाराजश्री से डरते-डरते निवेदन किया "क्या यह नहीं हो सकता कि अकेले में चाहे आप मुझे कुछ भी कह लें किन्तु मेरे शिष्यों की उपस्थिति में आप मुझे नहीं डाँटे ?" सुन कर महाराजश्री एक क्षण मौन रहे, फिर बोले, "जब तुम अपने शिष्यों के साथ मेरे सामने बैठे हुए होते हो तो उस समय क्या तुम मेरे शिष्य नहीं होते ?" सुनकर मैंने कहा, "मैं तो सदैव ही आपके चरणों का दास हूँ ।"

महाराजश्री– यह कैसा दास है जो अपने आदेशानुसार चलने को कह रहा है ?

मैंने कहा "आदेश नहीं, विनय कर रहा हूँ ।"

महाराजश्री– किन्तु तुम्हारी विनय में आदेश छुपा है । क्या तुम्हारे शिष्यों को यह नहीं पता कि तुम मेरे शिष्य हो ! फिर वह तुम्हें डाँटने का बुरा क्यों मानेंगे ? हाँ, तुम्हारा अभिमान अवश्य ही तुम्हें परेशान कर रहा है ।

मेरा ध्यान एकदम अन्तर की ओर मुड़ गया । देखा तो वहाँ अभिमान तथा भय जमे बैठे थे । मुझे यह समझते देर न लगी कि सारी समस्या की जड़ अपने अन्तर में ही लिए बैठा हूँ । लक्ष्य अन्तर की ओर जाते ही अभिमान तथा भय शिथिल होने लगे । थोड़ी ही देर में मैं स्वस्थ हो गया । मैंने उठकर महाराजश्री के चरण पकड़ लिए बोला, "आप के मार्गदर्शन से मेरी समस्या का समाधान हो गया ।"

महाराजश्री– समस्या कोई थी ही नहीं । केवल तुम्हारे मन की कल्पना थी । मनुष्य कल्पनाओं में कभी सुगंधित फुलवाड़ी का निर्माण कर लेता है, तो कभी सूखे मरुस्थल में रेत फाँकता फिरता है । कभी समस्याओं तथा चिन्ताओं की लहरें उठने लगती हैं तो कभी मन में निश्चिन्तता का क्षीर-सागर हिलोरें लेने लगता है । कल्पनाओं में मनुष्य गिरता-उठता रहता है । कल्पनाओं के आधार पर ही जगत खड़ा है ।

प्रश्न– किन्तु कल्पनालोक में यथार्थता का ज्ञान आप की कृपा से ही हुआ ।

महाराजश्री– गुरुकी यही उपयोगिता है ।

प्रश्न– महाराज जी ! एक समस्या और है, अनुमति हो तो निवेदन करूँ ?

महाराजश्री– उसे भी कह डालो ।

प्रश्न– जब मेरे सामने कोई प्रश्न उपस्थित करता है तो बड़े ज्ञानियों की तरह उसे उपदेश करने लगता हूँ, जबकि अपने अन्तर में मलिनता लिए बैठा हूँ । क्या यह दोहरा व्यक्तित्व नहीं है ? अन्दर कुछ तो बाहर कुछ ।

महाराजश्री– तुम ऐसा सोचते ही क्यों हो कि तुम किसी को उपदेश कर रहे हो ! तुम यह सोचो कि दूसरे के माध्यम से तुम अपने आप को समझा रहे हो । दूसरे ने प्रश्न करके, तुम्हें अपने आप को समझाने का अवसर प्रदान किया है । जो समस्या प्रश्नकर्ता तुम्हारे समक्ष प्रस्तुत करता है, वही समस्या यदि तुम्हारे अन्तर में भी हो तो तुम ही वक्ता और तुम ही श्रोता । तुम्हारे पास बैठकर यदि दूसरा कोई भी लाभ उठाने का प्रयत्न करता है, तो इसमें तुम्हें क्या आपत्ति हो सकती है ?

प्रश्न– यह बात तो मुझे अभी तक सूझी ही नहीं थी ! अब तो ऐसा प्रतीत होता है कि मैं यथार्थ मार्ग से स्वयं ही भटक रहा था ।

महाराजश्री– यही वक्तृत्व का मार्ग है । जब तक वक्ता स्वयं पर लक्ष्य रखकर, अपने अवगुणों को सामने करके नहीं बोलता, उसमें मिथ्या अभिमान बढ़ता रहता है । अपने दोष सामने होने पर वक्ता श्रोता दोनों लाभान्वित होते हैं ।

यह सुनकर मैं सोच में पड़ गया । महाराजश्री भी मौन हो गए । थोड़ी देर के पश्चात् बोले, "जब कठिनाइयाँ आती हैं, चारों ओर अंधकार फैल जाता है, अपने भी मुँह दूसरी ओर घुमा लेते हैं, मनुष्य नितान्त अकेला रह जाता है, यदि ऐसे समय में भी स्थिरता धारण किए रहता है, तो उसके लिए अध्यात्मिकता के द्वार खुल जाते हैं । खाने के लिए एक दाना न हो, बियाबान के अंधकार में असहाय भटकता हो, चारों ओर निराशा ही पसरी पड़ी हो, यदि ऐसे में भी मन को वश में किए रखे तथा आशा की डोरी को कसकर पकड़े रखे, तो उसका बेड़ा पार हो जाता है । जहाँ खड़ा हो, वहीं की जमीन भी खिसकने लगे, सिर पर अग्नि के बादल फट पड़ें, सिर छुपाने के लिए कोई सहारा न हो, ऐसे में भी साहस बनाकर रखे, वह बड़े-बड़े तूफानों को सहन कर जाता है । जगत् में अनुकूल-प्रतिकूल जो कुछ भी घटित होता है, सब मन की कल्पना या वासना है । जो कल्पनाओं की लहरों तथा वासना की आँधियों को सहन कर लेता है उसकी कल्पनाएँ शान्त हो जाती हैं तथा वासनाएँ सूख जाती हैं । बाकी रह जाता है मन का आनन्द ।

प्रश्न– किन्तु लहरों तथा आँधियों से बचने का उपाय करना कर्त्तव्य है !

महाराजश्री– साधक का काम बचने का उपाय करना नहीं, सहन करना है, ताकि जो इन लहरों तथा आँधियों का उद्गम है, वह सूख जाए । यदि कुछ उपाय करने से लहरें ठहर भी गईं तथा आँधियाँ रुक भी गईं तो कल्पनाएँ तथा वासनाएँ मन में ऐसे ही रखी रह जाएँगी । कुछ समय के पश्चात् फिर से लहरें उठने लगेंगी, और भी अधिक वेग से आँधियाँ चलने लगेंगी । तब बचने का उपाय भी काम नहीं करेगा । बचने का उपाय मन की दुर्बलता है । उपाय वही करता है जो लहरों तथा आँधियों को सहन नहीं कर सकता । यही पलायन है ।

महाराजश्री कुछ गूढ़ तथा रहस्यमय बातें कर रहे थे ।

महाराजश्री– जीवन में अच्छा-बुरा समय सभी का आता रहता है । वैसे भी बीच-बीच में प्रतिकूल हवाएँ चलने लगती हैं, उन्हें तुम छोटी लहरें या आँधियाँ कह सकते हो । साधक को जीवन में आने वाली इन कठिनाइयों को, बिना उपाय किए धीरज से न केवल सहन करना चाहिए, अपितु उनका स्वागत करना चाहिए । किसी के लिए भी कभी भी, प्रतिकूल हवाएँ चलने लग सकती हैं । साधक जितना इन आँधियों को सहन करता है, उतना ही उसका अध्यात्म का मार्ग प्रशस्त होता जाता है । इसमें साधक को मानसिक कष्ट बहुत होता है, किन्तु प्रसन्नता पूर्वक कष्ट सहन करना ही तपस्या है ।

मेरे अन्तर में अब तक विषय काफी स्पष्ट हो चुका था । मन हर प्रकार की लहरों तथा आंधियों को शान्तिपूर्वक सहन करने के लिए तैयार था । अपितु मन ऐसी इच्छा करने लगा

था कि खूब जोर से आँधियाँ चलें, ताकि अधिकाधिक संस्कार क्षय होकर, मन निर्मलता ग्रहण करे ।

इस प्रकार सोचते-सोचते मैं तन्द्राभिभूत हो गया ।

(८) चढ़ाई

महाराजश्री आश्रम के प्रांगण में कुर्सी डाले बैठे निरन्तर टेकड़ी की ओर निहार रहे थे । फिर सहसा बोल पड़े, "कौन जाने यह टेकड़ी यहाँ कब से स्थित है ! जब से देवास का इतिहास उपलब्ध है, निश्चय ही यह उससे भी प्राचीन है । कभी इसके चारों ओर घना जंगल होगा । हिंसक जंगली पशु इसमें विहार करते होंगे । संभवत: कई बार चोर—डाकू भी यात्रियों को लूटने के लिए इस में सक्रिय रहे होंगे । यह टेकड़ी न जाने कब-कब की स्मृतियाँ अपने में सँजोये खड़ी है । इसने कितनी बहारें देखी हैं, शिषिर ऋतुओं की कितनी ठण्डक सहन की है । गरमी के कितने मौसम इसने तपिश और लू में तपते हुए बिताए हैं । कितनी वर्षाओं में इसने उन्मुक्त स्नान किया होगा, किन्तु यह स्थिर, मौन, कभी सहमी सी तो कभी हर्षित सी, आस-पास के वातावरण तथा घटित होने वाले परिवर्तनों को निहारती रहती है ।

"इसने यवनों के आक्रमण देखे, मराठों का राज्य देखा, भारत की स्वतंत्रता देखी, रियासतों का विलीनीकरण देखा, देवास को एक छोटे से गाँव से महानगर के रूप में विकसित होते देखा, किन्तु स्वयं कूटस्थ ब्रह्म की तरह अटल और अचल बनी, सब घटनाओं की साक्षी है ।

"शीलनाथ महाराज आए तथा इसके नीचे धूनी रमा कर चले गए। स्वामी नारायणानन्द सरस्वती आए तो नारायण कुटी की स्थापना कर ब्रह्मलीन हो गए । हम आए तो नारायण कुटी का विकास कर गए । इसी के नीचे रज्जब अली खाँ ने राग-रागनियों की रंगीनियाँ बिखेरी । कुमार गंधर्व ने संगीत के सुर छेड़े, किन्तु माताजी की टेकरी अडोल, निस्पृह अप्रभावित यह सब परिवर्तन देखे जा रही है ।

"यही टेकरी भारत की हृदय-स्थली है । मेरूपृष्ठ पर अंकित भारत रूपी श्रीयंत्र का केन्द्र बिन्दु है । जहाँ से सूक्ष्म आध्यात्मिक रश्मियाँ भारत भर में प्रसारित होती हैं । यह भगवती की सिद्ध पीठ है । एक बार मैं टेकड़ी पर जा रहा था तो माँ चामुण्डा की आवाज सुनाई दी, "तूने मेरे चरणों में शरण ग्रहण की है तो मैं भी तेरी उँगली कभी नहीं छोड़ूँगी ।" मालवा में अदृश्य सिद्ध महापुरुषों का वास है ही, जो मालवा को केन्द्र बनाकर, भारत भर में ही नहीं, सारे संसार में भ्रमण करते हैं । साधकों की सहायता एवं मार्गदर्शन करते हैं ।"

प्रश्न– जिस प्रकार टेकड़ी के आस-पास परिवर्तन होते रहते हैं किन्तु टेकड़ी स्थिर बनी देखती रहती है, उसी प्रकार आत्मा के आस-पास शरीर में भी कई परिवर्तन घटित होते रहते हैं किन्तु आत्मा सदैव ही अपरिवर्तनीय एवं स्थिर बना रहता है । शरीर कभी बच्चा,

युवा, वृद्ध होता है, कभी रोगी तो कभी निरोगी, कभी जागता तो कभी सोता, कभी भूखा या प्यासा, कभी पवित्र कभी अपवित्र । क्या यह टेकड़ी तथा आत्मा में समानता नहीं !

महाराजश्री– इस अर्थ में तो समानता है किन्तु टेकड़ी जड़ द्रष्टा है जबकि आत्मा चेतन दृष्टा । टेकड़ी केवल द्रष्टा है जब कि आत्मा से देह, चित्त तथा इन्द्रियों पर शक्ति भी प्रतिबिम्बित होती है, जिसकी क्रियाशीलता से ही सभी परिवर्तन घटित होते हैं । इस प्रकार आत्मा एक ऐसा दृष्टा है जिसकी शक्ति परिवर्तनों में कारण है । उसी की शक्ति से देह चलती है, इन्द्रियाँ क्रियाशील होती हैं तथा चित्त में परिणाम संभव होते हैं, जिन्हें वह द्रष्टा बनकर देखता है । जब शक्ति आत्मा में लौट जाती है तो परिवर्तन होने भी बंद हो जाते हैं ।

प्रश्न– जिस प्रकार टेकड़ी पर हम घूमने जाते हैं, क्या उसी प्रकार आत्मा पर भी चढ़ा जा सकता है ?

महाराजश्री– हाँ, आत्मा पर चढ़ने को ही साधन कहा जाता है । टेकड़ी पर तो जब चाहा चढ़ गए किन्तु आत्मा की चढ़ाई बहुत कठिन है । पग-पग पर शत्रुओं से लड़ना पड़ता है । कदम-कदम पर काँटे, पत्थर तथा फिसलन है । हर क्षण कई प्रकार के प्रलोभन तथा अवरोध हैं । कोई हिम्मत वाला ही पहुँच पाता है ।

प्रश्न– जब आत्मा की चैतन्य शक्ति से ही मन, इन्द्रियाँ तथा देह परिचालित है, तो उसी शक्ति से आत्मा रूपी टेकड़ी पर भी चढ़ा जा सकता है । फिर तो कोई कठिनाई नहीं होना चाहिए !

महाराजश्री– होनी तो नहीं चाहिए, पर बहुत कठिनाई होती है । जीवत्व भाव सब से बड़ी बाधा है, जो अभिमान रूपी घोड़े पर सवार है । इसी के कारण बाकी सभी बाधाएँ हैं ।

प्रश्न– यह जीवत्व भाव क्या है ?

महाराजश्री– जीवत्व एक भाव है जो आत्मा से उसकी शक्ति को अलग कर, उसमें अहम् भाव ला देता है । तब शक्ति आत्मा की होती हुए भी आत्मा की नहीं रहती । जीव उसे अपनी मान लेने के मिथ्या अभिमान में फँस जाता है । यहीं से सारी समस्याओं का आरंभ हो जाता है ।

प्रश्न– किन्तु जीव तो काम क्रोधादि पंच विकारों से ही जूझ रहा है, जीवत्व की ओर किसी का ध्यान ही नहीं जाता, जबकि आप ऐसा कहते हैं कि जीवत्व ही सभी समस्याओं की जड़ है !

महाराजश्री– काम–क्रोधादि सब जीवत्व के अन्तर्गत् ही हैं । असली चोर वही है । जब तक उसे नहीं पकड़ा जायेगा, चोरियों का उपद्रव समाप्त नहीं हो सकता ।

प्रश्न– तो काम-क्रोधादि से लड़ना निरर्थक है क्या ?

महाराजश्री– नहीं, निरर्थक नहीं है । जीवत्व रूपी चोर तक पहुँचने के लिये पहले काम-क्रोधादि पंचविकारों को समाप्त करना आवश्यक है जिससे जीवत्व काफी शिथिल होकर पकड़ में आ जाता है । आत्म शिखर पर चढ़ाई भी चलती रहती है, पंच विकारों से युद्ध भी होता रहता है । काम-क्रोधादि को वासना रूपी युद्ध सामग्री जीवत्व ही उपलब्ध कराता रहता है । इसकी आपूर्ति को ध्वस्त करने का कार्य भी साधक को साथ ही करना होता है । बड़ा कठिन कार्य है ।

मनुष्य अज्ञान के अंधकार में भ्रमित होता है, मार्ग सुझाई नहीं देता, न ही शत्रु दिखाई देते हैं । वे छिप कर वार करते हैं ।

प्रश्न– यदि अंधकार में मनुष्य को दिखाई नहीं देता तो काम-क्रोधादि को कैसे दिखाई दे जाता है ?

महाराजश्री–वे चमगादड़ों की भाँति अंधकार में ही उड़ते हैं । ज्ञान के प्रकाश में उनकी गतिविधियाँ बंद हो जाती हैं, जबकि अज्ञान का अंधकार मनुष्य को दिशा भ्रमित कर देता है । सामने खड़ा शत्रु भी दिखाई नहीं देता । फिर वह युद्ध कैसे कर सकता है ? जीवत्व एक ओर बैठा हँसता रहता है ।

प्रश्न– ऐसे में मनुष्य को गुरु का वरद् हस्त सहायक होता होगा ?

महाराजश्री– गुरु अर्थात् ईश्वर । वही मनुष्य शरीर के माध्यम से मार्ग-दर्शन प्रदान करता है, अन्तर्गुरु होकर शत्रुओं से लड़ने की शक्ति देता है, संकट आने पर वही रक्षा करता है । निराशा में आशा का दीप जलाता है । बेसहारों का वही सहारा है ।

माताजी की टेकड़ी अब मेरे लिए काफी सुन्दर तथा आकर्षक हो उठी थी । उसके शिखर पर माँ चामुण्डा का प्रकाश देदीप्यमान था । जैसे-जैसे मनुष्य चढ़ता जाता है, हृदय में सौंदर्य तथा आनन्द निखरता जाता है । बस समर्थ गुरु की आवश्यकता है एवं गुरु के प्रति समर्पण की । फिर तो मार्ग सरल हो जाता है ।

(९) हलकी-फुलकी बातचीत

महाराजश्री चौक में भक्तों से घिरे बैठे थे । कुछ इधर-उधर की हलकी-फुलकी आध्यात्मिक चर्चा चल रही थी । महाराजश्री कह रहे थे –

"लोगों को दिखाने के लिए धर्म का आचरण करना, अपने आप को धर्म से पतित करना है । इसके समान दूसरा अधर्म नहीं । धर्म-भावना हृदय की वस्तु है तथा हृदय किसी के भी समक्ष खोलकर नहीं रखा जा सकता । अपने धार्मिक होने का प्रचार करना, उसका अभिमान करना, अधर्मियों को छोटा तथा घृणित समझना, अपने मन को ही मलीन करता है ।"

प्रश्न– तो क्या यह धार्मिक आयोजन, प्रवचन आदि सब धर्म विरोधी हैं ?

महाराजश्री– नहीं, एक स्तर पर इनकी उपयोगिता है, किन्तु जैसे-जैसे चित्त-वृत्ति अन्तर्मुखी होती जाती है, यह सब सारहीन प्रतीत होने लगते हैं । तब इनसे भी मन हटता जाता है । संभवत: इसीलिए घेरण्ड संहिता में धर्मशाला, बावड़ी, बगीचा बनवाना, उत्सव करना आदि को साधन का विघ्न कहा गया है ।

प्रश्न– इस प्रकार तो धर्म के कार्य ही बंद हो जायेंगे !

महाराजश्री– नहीं, जो इसी को धर्म तथा साधना मानते हैं, चाहे उनमें कितना भी अभिमान हो, वह इसे करते रहेंगे या जिन की चित्त की स्वाभाविक अवस्था उदय हो चुकी है, तथा अभिमान नाम को भी नहीं रहा, वे इसे कर सकते हैं ।

प्रश्न– अच्छा महाराजजी, यह तो याद नहीं रहा कि किस संत का कथन है कि जो बाहर से साफ तथा अन्दर से मैला है, वह नरक के द्वार की चाबी हाथ में लिए हुए है !

महाराजश्री– इसमें क्या शंका हो सकती है ? स्वर्ग-नरक का निर्णय चित्त-स्थिति के आधार पर ही होता है । चाहे कोई कितनी भी गर्वोक्तियाँ करता रहे, अन्दर की बात को छिपाता रहे, अच्छा दिखने का प्रयत्न करता रहे, किन्तु यदि उसका मन मलीन है तो उसके लिए नरक के द्वार खुले हैं । जीव मन की मलीनता को छिपाने का जीवन-पर्यन्त प्रयत्न करता रहता है, किन्तु ईश्वर से कोई बात नहीं छिपा सकता । जीव ईश्वर को भी धोखा देने से बाज नहीं आता । यही बात आश्चर्यजनक है ।

जगत् स्वार्थी तथा लोलुप है । जिस संतान को दु:ख सहन कर, पाल-पोस कर बड़ा किया जाता है, बड़े होकर आँखें फेर लेती है । जब तक धन कमाने या काम करने की शरीर में क्षमता बनी है, तब तक सब आगे-पीछे घूमते हैं । अशक्तता आई तो बूढ़े को कौन पूछता है ? किन्तु जीव फिर भी संतान के पीछे, संतान की संतान के पीछे भागता फिरता है पर भगवद् भजन में मन नहीं लगाता । ऐसे आसक्तियुक्त चित्त नरक में नहीं जाएँगे तो और कहाँ जाएँगे !

प्रश्न– किसी ने यह बात भी क्या सुन्दर कही है कि मनुष्य कुछ भी कर सकता है किन्तु यह तीन बातें प्राय: सभी के लिए कर पाना कठिन है । (१) निर्धनता में उदारता (२) एकान्त में वैराग्य (३) उद्दण्ड व्यक्ति के समक्ष सत्य भाषण ।

महाराजश्री– बहुत खूब ! यह तो अद्वितीय वाक्य है ।

प्रश्न– किन्तु एक बात समझ नहीं आई । लोग तो प्राय: साधन करने के लिए एकान्तवास करने को लालायित रहते हैं । यहाँ कह रहे हैं कि एकान्त में वैराग्य नहीं हो पाता !

महाराजश्री– वे ठीक कहते हैं । एकान्त में विपरीत भावनाएँ तथा वासनाएँ कहीं अधिक प्रबल होकर उभरती हैं । पूर्व अनुभूत विषयों की स्मृति भी अधिक आती है, जिससे मन चंचल हो जाता है । यदि विवेक साथ देता हो तो जन-समाज में रहकर, वैराग्य की परिपक्वता शीघ्र उदय होती है । जैसे-जैसे जगत की ठोकरें पड़ती है, वैराग्य में निखार आता जाता है ।

प्रश्न– सहजो बाई ने क्या पते की बात कही है ! जो राग-द्वेष से रहित है, जो वैराग्यवान है, जो इच्छा-शून्य है, वही साधु है ।

महाराजश्री– कैसी अनुभवयुक्त बात है ! सहजो बाई तत्वज्ञ थी, उत्कृष्ट साधिका थी । उसकी बात में जीवन का सार छिपा है । किसी विशेष प्रकार का वेश बना लेने से कोई साधु नहीं हो जाता । मन न रंगायो, रंगायो जोगी कपड़ा । जिसका मन राग-द्वेष तथा जगत-वासना में भीगा है, उसमें प्रभु का प्रेम कैसे अंकुरित हो सकता है ? जिसके अन्तर में प्रभु-प्रेम है, वह गृहस्थ होकर भी साधु ही है ।

प्रश्न– किन्तु जगत वासना इतनी प्रबल है कि किसी का पीछा नहीं छोड़ती । या यों कहो कि जीव के आसक्ति के संस्कार इतने गहरे हैं कि वह जगत छोड़ना ही नहीं चाहता । तो क्या यह अध्यात्म की सब चर्चा तथा साधना की बातें व्यर्थ का व्यायाम है ?

महाराजश्री– अध्यात्म की चढ़ाई बहुत सीधी तथा कठिन है । इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि कोई चढ़ने का प्रयत्न ही नहीं करता । हाँ, कुछ लोग भक्ति को अवश्य सरल कहते हैं, किन्तु हमारे विचार में वे भक्ति को गंभीरता से नहीं लेते । कोई भाग्यशाली ही चोटी तक पहुँच पाता है । यदि कोई यह चाहे कि जगत के सुख भी भोगता रहे तथा आत्म-स्थिति भी प्राप्त कर ले तो यह असंभव है ।

प्रश्न– संभवतः इसी ओर आदि शंकराचार्य महाराज ने संकेत किया है जब वह यह कहते हैं कि विषयों का प्रेमी ही बंधन में है, विषयों का त्याग ही मुक्ति है, अपना शरीर ही घोर नरक है तथा तृष्णा का नाश ही स्वर्ग है ।

महाराजश्री– यह बात तो है ही । विषयों के प्रति प्रेम तथा आकर्षण, आसक्ति के बिना संभव नहीं । आसक्ति के त्याग के बिना विषयों का त्याग नहीं होता । जो मनुष्य अपने शरीर तथा इन्द्रियों का उपयोग विषयों के प्रति करता है, उसे इसी शरीर में ही नाना दुःख भोगने पड़ते हैं । उसका शरीर ही उसके लिए नरक हो जाता है, किन्तु जिसे विषयों की तृष्णा नहीं होती, वह आनन्द में जीवन व्यतीत करता है । स्वर्ग का भाव यह है कि जहाँ कोई दुःख नहीं हो ।

सच्चा साधु राग-द्वेष रहित होता है, उसका मित्र–शत्रु का भाव समाप्त हो चुका होता है । राग-द्वेष रहित वृत्ति ही वैराग्य है, इच्छा-शून्य वृत्ति ही वैराग्य है । वैराग्य ही साधुता है, चाहे सांसारिक दृष्टि से कोई गृहस्थ ही क्यों न हो ।

प्रश्न– जो महापुरुष होते हैं उनमें नम्रता-दीनता का भाव प्रबल होता है । उनकी ऐसी मान्यता होती है कि जो व्यक्ति छोटा बनकर रहता है, प्रभु के घर में उसे उच्च स्थान प्राप्त होता है । जो व्यक्ति जगत में अपनी अकड़ में रहता है, उसे प्रभु के दरबार में निम्नतम स्थान प्राप्त होता है ।

महाराज श्री– जिसमें अकड़ है उसमें अभिमान होता है । अभिमान ही आत्मा से पतन का कारण है । अभिमान ही सभी विकारों की जड़ है । अभिमानी व्यक्ति धर्माधर्म का विचार भी नहीं कर सकता, इसलिए अभिमानी आध्यात्मिक दृष्टि से नीच होता है, किन्तु अपनी अकड़ में सिर ऊँचा रखता है । जो सिर जगत में ऊँचा होता है प्रभु के यहाँ उसे गिरा दिया जाता है । जो सिर नीचा कर के रखता है, प्रभु के यहाँ उसे उठा दिया जाता है । इसलिए नम्रता को आध्यात्मिक साधनों में महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है । सभी संत, ऋषि, महापुरुष अत्यन्त नम्र थे । यह नम्रता कोई ओढ़ी हुई नहीं होती, स्वाभाविक होती है ।

प्रश्न– तो जीवन जीने का सर्वोत्तम उपाय क्या है ?

महाराजश्री– ईश्वर की इच्छा के अनुसार ही जीवन बिता देना जीने का सर्वोत्तम उपाय है ।

मैं एक ओर बैठा यह सब वार्तालाप सुन रहा था । अब मेरी हृदय-मंथन की बारी थी । क्या मैं आसक्तियुक्त धार्मिक आयोजनों में तो नहीं उलझा ? क्या मैं बाहर से साफ़ किन्तु अन्दर से मैला तो नहीं ? क्या मैं एकान्त में वैराग्य को स्थिर रख पाता हूँ ? क्या मैं वैराग्यवान् इच्छा शून्य साधु हूँ ? क्या मैं छोटा बन कर रहता हूँ ? क्या ईश्वर की इच्छानुसार जीवन बिताता हूँ ?

जब मैंने एक-एक बात को लेकर अपना अन्तरात्मा टटोला, तो मेरा सिर शर्म से झुक गया । किसी बात में भी मैं पूरा नहीं उतरता था । यदि अंकों में बात की जाए तो मेरे भाग में शून्य ही आता था । मैं उत्तराधिकारी बन गया था और वह भी महाराजश्री जैसे सिद्ध महापुरुष का । अब गुरु भी बनने जा रहा था, किन्तु मेरा व्यक्तित्व साधन, ज्ञान तथा वैराग्य की दृष्टि से शून्य था । अपनी आन्तरिक दयनीय स्थित पर मुझे रोना आ गया । भाग कर जा भी कहाँ सकता था । महाराजश्री के कक्ष में उन्हीं के पास जा पहुँचा तथा अपनी अयोग्यता की गठड़ी एक बार फिर खोल कर बैठ गया ।

किन्तु महाराजश्री ने झटक दिया, "पागल हो गए हो क्या ? मैं तुम्हारा अयोग्यता का रोना कब तक सुनता रहूँगा ? तुम भी कब तक इस भूल-भुलैया में भटकते रहोगे ? इन्हीं विचारों में जो तुम अपना समय बरबाद करते हो, उसका कुछ सदुपयोग करो । एक ही बात पर चिपके रहना सांसारिकता की निशानी है । प्रवाह में यदि ठहराव आ जाता है तो जल गंदा होने लगता है । इसलिए अब आगे बढ़ो ।"

अपना सा मुँह लेकर महाराजश्री के कक्ष से बाहर आ गया । विचित्र प्रकार की दुविधा में मन उलझा हुआ था । न छोड़ते बनता था, न ही पकड़ते । महाराज श्री अपनी बात पर अड़े थे, किन्तु महाराजश्री का यह स्वरूप, किसी और के साथ व्यवहार में देखने में तो आया नहीं था । फिर मेरे से क्या आशा करते हैं ?

एक दिन महाराजश्री ने मुझे बुलाया । बोले, "मेरी कुटिया छोटी देखकर, बड़ी कुटिया तो बनवा दी है किन्तु जीवन का क्या भरोसा है ? अब मैं ७८ वर्ष का हो गया हूँ, कब तक और बैठा रहूँगा ? जब यह शरीर रूपी कुटिया ही साथ छोड़ देने वाली है तो बाहर की कुटिया क्या साथ देगी ?"

महाराजश्री के यह शब्द सुनकर मैं डर गया । मुझे ऐसा लगा कि महाराजश्री कुछ संकेत दे रहे हैं । मैं ने चिन्ता व्यक्त करते हुए कहा, "महाराजजी ! ऐसी बातें कर के आप हम लोगों को भयभीत न करें । अभी आपका स्वास्थ्य एकदम उत्तम है । महात्माओं के लिए ७८ वर्ष की आयु कोई अधिक नहीं होती । कितने ही लोग आपके आश्रय में अपने आप को सुरक्षित अनुभव करते हैं ।"

महाराजश्री– उत्तम स्वास्थ्य की भी तुमने भली कही । यह पंचभौतिक शरीर है, बिगड़ते देर नहीं लगती । देखते ही देखते कुछ का कुछ हो जाता है । फिर एक न एक दिन तो सब को जाना ही है । इसमें आश्चर्य या भय की क्या बात है ? कोई आगे, कोई पीछे, आना-जाना लगा ही रहता है । जगत में प्रकट सभी जीव काल के ग्रास हैं, कोई पता नहीं, कब, कहाँ किसको निगल जाय । जो जीव मृत्यु का स्मरण बनाए रखते हैं वह कई प्रकार के अशुभ कर्मो से बचे रहते हैं ।

यह बातें तुम्हें मैं इसलिए कह रहा हूँ कि अपने आप को सँभाल कर रखो । कभी-कभी तुम बहकी-बहकी सी बातें करने लगते हो, इसमें न तुम्हारा हित है, न ही आश्रम का । यदि देखा जाय तो संसार में कोई भी व्यक्ति योग्य नहीं है । सब लोग अपने प्रारब्ध का भोग भोग रहे हैं । जब किसी का समय अनुकूल होता है तो उलटा किया हुआ भी सीधा हो जाता है तथा उस व्यक्ति को योग्य मान लिया जाता है । समय प्रतिकूल होने पर ठीक इससे उलटा हो जाता है । हाँ, कुछ लोगों में योग्यता का अभिमान अवश्य होता है ।

मुख्य बात यह है कि तुम्हारे जीवन का लक्ष्य गुरुसेवा है । गुरु के निर्णय तथा प्रसन्नता के अनुरूप व्यवहार गुरुसेवा है । तुम्हारे सामने हर समय गुरु इच्छा या आदेश होना चाहिए अपनी योग्यता-अयोग्यता नहीं । यह सब गुरुसेवा से विरत होने के, मन के बहाने हैं । तुम्हारा सुख-दुःख, अनुकूलता-प्रतिकूलता सब गौण है । एक लक्ष्य को लेकर उसके पीछे चलते रहो । उत्तराधिकार, दीक्षा-कार्य सब गुरुसेवा के निमित्त ही हैं । यदि तुम्हारा ऐसा भाव बना रहा, तो संसार चाहे कुछ भी समझता रहे किन्तु इससे आध्यात्मिक दृष्टि से तुम्हें लाभ ही होगा ।

क्या तुम यह समझते हो कि मैं इस बात को देख-समझ नहीं रहा कि तुम आग में कूदने जा रहे हो ! किन्तु मैं यही चाहता हूँ कि तुम आग में कूद जाओ, क्योंकि मुझे इसी में तुम्हारा हित दिखाई देता है । मैं चाहता हूँ कि तुम्हारे मन को इतना रगड़ा जाए कि उसमें चमक आ जाए । रगड़े लगने में कष्ट तो होता ही है । मनुष्य सब छोड़कर एक ओर हो जाना चाहता है, क्योंकि कि वह रगड़े खाने से बचना चाहता है, पर तुम रगड़े खाते रहना । आध्यात्मिकता का सार अपने अहम को मिटा देने में ही है । भगवान् के यहाँ वही पहुँच पाता है जो अहम को यहीं छोड़ जाता है ।

प्रश्न– जब अहम् कुचला जायगा तो गुरुसेवा तथा आश्रम का काम कैसे होगा ?

महाराजश्री– तब इसकी आवश्यकता ही नहीं रह जाएगी, किन्तु अभी तुम्हें यह सब सोचने की आवश्यकता नहीं है । यह बहुत दूर की बात है । अभी तो तुम अपना सिर कुटवाते रहो । तुम जिन लोगों की सेवा करोगे, वही तुम्हारे सिर में राख डालेंगे । जिनको तुम प्यार करोगे, वही तुम्हारा विरोध करेंगे । यही जमाने की चाल है । मुझे वह सब भी दिखाई दे रहा है जो तुम्हें नहीं दिख रहा । मैं तुम्हें जलता, तड़पता, अन्दर ही अन्दर कसमसाता हुआ देखना चाहता हूँ । यही तुम्हारा तप होगा, किन्तु एक बात की ओर अवश्य ही तुम्हारा ध्यान दिलवाना चाहता हूँ कि जो लोग तुम्हें विरोध करते हुए दिखाई देंगे, वह तुम्हारे परम हितकारी, पूज्य एवं आदरणीय होंगे क्योंकि प्रारब्ध के घर से कर्म-फल को निकाल कर, तथा तुम्हारे समक्ष उपस्थित कर, तुम्हारी चित्त शुद्धि का कारण वही होंगे । तुम्हारे साथ जो भी बीते उसे शान्तिपूर्वक, बिना मुँह पर शिकायत का एक शब्द भी लाए, सहन कर लेना ।स्वयं भूल कर भी, किसी के बारे में कोई विरोधी टीका–टिप्पणी नहीं करना । इससे मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी ।

प्रश्न– गुरु महाराज ! क्या मैं यह सब निभा पाऊँगा ?

महाराजश्री– कार्य तो कठिन है पर मैं समझता हूँ कि तुम निभा पाओगे ।

प्रश्न– आप के आशीर्वाद के बिना यह कैसे संभव है ?

महाराजश्री– मैं तो चाहता ही हूँ कि तुम्हें सफलता मिले । बस अपना मन उदार रखना तथा भली-बुरी हर बात को सहन कर लेना । किसी से कोई गिला नहीं, किसी से रोष नहीं । निन्दक या विरोधी कोई भी हो, सब का स्वागत, यही है साधुता ।

मैं सोचने लगा कि महाराजश्री ने कितने कष्ट सहन कर इन सारी बातों का अनुभव प्राप्त किया होगा, तभी तो इनका व्यक्तित्व इतना निखरा हुआ है । मन में कितना धीरज तथा उदारता होगी, तभी तो संकटों को पार किया होगा । फिर कितना साधन है ! कैसी विद्वता है ! देख कर आश्चर्य होता है । किन्तु मेरे पास न इतना धीर है, न ही उदारता, बस गुरुकृपा का ही एक सहारा है ।

(१०) दक्षिणामूर्ति

प्रात: एवं सायंकाल, नित्यप्रति आश्रम-स्थित भगवान शंकर के मंदिर में आरती हुआ करती थी –

'जय दक्षिणा मूर्ति, स्वामी जय दक्षिणा मूर्ति ।'

कई बार मन में यह प्रश्न उदय हुआ कि यह दक्षिणामूर्ति क्या है ? भगवान् शंकर को दक्षिणामूर्ति कहकर आरती होते,अन्य किसी मंदिर में नहीं देखा था । दक्षिण भारत में कहीं ऐसे होता हो तो पता नहीं । फिर आरती में आगे, भगवान् शंकर का नहीं, सारा गुरु का ही वर्णन है । मैंने महाराजश्री से तो इस विषय में कभी बात नहीं की, किन्तु एक अन्य स्वामीजी आश्रम में पधारे, तो उनके सामने यह जिज्ञासा प्रकट की । उन्होंने कहा कि यह दक्षिणामुख भगवान् शंकर की आरती है । सुनकर मैं चुप रह गया, किन्तु संतोष नहीं हुआ ।

आज फिर जब आरती के पश्चात् एक व्यक्ति ने इस विषय में मुझ से प्रश्न पूछा तो मैं कुछ भी उत्तर न दे सका । कह दिया कि महाराजश्री से पूछकर, आप से बात करूँगा । प्रात: भ्रमण में महाराजश्री से चर्चा हुई तो उन्होंने कहा –

"दक्षिणामूर्ति को समझने के लिए हमारे पास तीन साहित्यिक आधार उपलब्ध हैं (१) दक्षिणा मूर्ति उपनिषद (२) दक्षिणामूर्ति की आरती (३) आदि शंकराचार्य विचरित दक्षिणामूर्ति स्तोत्र । इन का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है । (१) दक्षिणामूर्ति उपनिषद् अर्थात् उपासना काण्ड जिसे हम आणवोपाय भी कह सकते हैं (२) दक्षिणामूर्ति की आरती अर्थात् साधन-काण्ड जिसे शाक्तोपाय भी कहा जा सकता है (३) दक्षिणामूर्ति स्तोत्र अर्थात् ज्ञान-काण्ड, यही शाम्भवोपाय है । इन तीनों पर सूक्ष्म विचार करने से विषय को बहुत कुछ समझा जा सकता है ।

"सबसे पहले समझने की बात यह है कि दक्षिणा का क्या अर्थ है ? दक्षिणामूर्ति उपनिषद् में दक्षिणा का अर्थ इस प्रकार दिया गया है कि तत्व-ज्ञान-रूपिणी तथा ब्रह्म प्रकाशक बुद्धि ही दक्षिणा है तथा वही परम तत्त्व के अभीक्षण अर्थात् साक्षात्कार में मुख अर्थात् द्वार है । ब्रह्मवादी इसे दक्षिणामुख शिव कहते हैं । इसका यह अर्थ हुआ कि दक्षिणामुख का संधिविच्छेद दक्षिण + आमुख नहीं, अपितु दक्षिणा + मुख है । प्राय: इस का अर्थ दक्षिणामुख अर्थात् दक्षिण अभिमुख किया जाता है, किन्तु उपनिषद् के अनुसार यह आत्मा की शक्ति ही है क्योंकि बुद्धि भी शक्ति की एक क्रिया ही है जो आत्मा की बोधस्वरूपता (अथवा ज्ञप्ति) को चित्त पर प्रतिबिम्बित कर देती है । वही शक्ति, बुद्धि के रूप में जगत् के ज्ञान का भी कारण है तथा आत्मज्ञान का मुख अर्थात् द्वार भी । ईश्वर शक्ति-स्वरूप है इसलिए उसे ही दक्षिणामूर्ति कहा गया है । वही गुरु है, वही प्राप्तव्य है, तथा वही उसका साधन भी है ।

युग पर युग तथा कल्प पर कल्प व्यतीत हो जाने पर भी दक्षिणामूर्ति रूपी गुरु में कोई परिवर्तन नहीं होता, वह नित्य युवा ही बना रहता है जबकि शिष्य (जीव) जिन की स्थिति चित्त में स्थापित है, वह जन्मते-मरते रहते हैं, कभी युवा तो कभी वृद्ध हो जाते हैं। वही नित्य-गुरु, दक्षिणा रूप में जड़ चित्त को चेतना प्रदान करता है, बुद्धि रूप में विकसित होता है, स्वयं ही माया बनकर बुद्धि पर आच्छादित हो जाता है तथा स्वयं ही मौन उपदेश द्वारा बुद्धि को माया मुक्त करता है। उसका स्वभाव सदैव ही जगत् के लिए कल्याणकारी है। वह इतना दयालु है कि शिष्यों पर अपने आप को भी प्रकट कर देता है। जिस प्रकार चित्त को गुरु की चेतन शक्ति का दान मौन होता है, उसी प्रकार उसका ज्ञानोपदेश भी मौन ही है जो शिष्य में दिव्य मौन जाग्रत कर देता है, जैसा कि आरती में कहा गया है कि 'दिव्य मौन उपदेश जगाता।'

प्रश्न– मौन तथा दिव्य मौन में क्या अन्तर है ?

महाराजश्री– मौन में वाणी पर संयम किया जाता है। यह संयम प्राय: वैखरी वाणी तक ही हो पाता है। यदि मन जप या ध्यान में लग जाता है तो मौन में ध्येय पदार्थ पर एकाग्रता होकर, मध्यमा तथा पश्यन्ति तक भी जा सकता है, किन्तु दिव्य मौन में परा, पश्यन्ति, मध्यमा तथा वैखरी, चारों वाणियाँ मौन हो जाती हैं। अन्दर या बाहर, कोई भी विषय अभिमुख नहीं रहता। सकल ध्येय पदार्थ अर्थात् सारी सृष्टि ही विलीन हो जाती है। आत्मा अपने स्वरूप में ही स्थित हो जाता है। यह चित्त की स्वाभाविक मौनावस्था से भी ऊँची अवस्था है, जो किसी भी बाहरी उपदेश से प्राप्त नहीं हो सकती। इसके लिए आन्तरिक दिव्य तथा मौन उपदेश की ही आवश्यकता है जो दक्षिणा के लिए कर पाना ही संभव है।

प्रश्न– इस का अर्थ यह हुआ कि आन्तरिक चेतन शक्ति ही, दक्षिणा शक्ति है जो जीव को ईश्वर की ओर से, दक्षिणा के रूप में प्राप्त हुई है। उसी की क्रियाएँ बंधन का कारण भी हैं, तथा बंधन मुक्त करके मोक्ष प्रदाता भी दक्षिणा ही है। उसके मोक्षदाता स्वरूप को गुरु कहा गया है।

उत्तर– ऐसा ही है। कल्याण, कल्याण प्रदाता तथा कल्याण का मार्ग, सभी कुछ अन्दर ही है। बाहर केवल भटकन है। जब तक मन में भटकन रहती है, जीव बाहर भटकता रहता है, जब गुरुकृपा होती है तो अन्दर की ओर लक्ष्य घूम जाता है।

प्रश्न– यह जो कहा गया है कि वटवृक्ष के मूल में, पृथ्वी पर गुरु बैठा है, उसका क्या भाव है ?

महाराजश्री– यह दृश्यमान जगत् एक वट-वृक्ष के समान है जिसका मूल ईश्वर या गुरु ही है। दक्षिणा रूपी गुरु वट-वृक्ष के मूल में बैठा है अर्थात् प्रसुप्त शक्ति मूलाधार में ही

स्थित है । मूलाधार का तत्व पृथ्वी ही है । विशाल वट-वृक्ष के बीज के समान ही, मूलाधार स्थित गुरु में भी बीज के समान ज्ञान का भण्डार समाया है, किन्तु विशाल वट-वृक्ष बनने के लिए बीज को पृथ्वी में ही अंकुरित होना पड़ता है, अर्थात् मूलाधार से ही मौन-उपदेश आरंभ होता है ।

प्रश्न– गुरु, गुरु का ज्ञान तथा गुरु का मार्ग, सब अन्दर ही हैं, फिर जगत् में शरीरधारी गुरू की क्या आवश्यकता है ?

महाराजश्री– मनुष्य देह केवल पंच भूतात्मक तत्वों का संघटन है, चाहे वह शरीर किसी भक्त का हो, या संसारी का । यह मिथ्या शरीर दक्षिणामूर्ति स्वरूप कैसे हो सकता है ? किन्तु यह मिथ्या शरीर भी दक्षिणामूर्ति से ही प्रकाशित है । वैसे तो प्रत्येक शरीर में दक्षिणा की विद्यमानता तथा क्रियाशीलता रहती है, किन्तु केवल इसी आधार पर किसी को गुरु मान लिया जाय तो सभी मनुष्यों को गुरु मानना पड़ेगा । गुरु की संज्ञा केवल उसी शरीर को दी जाती है जिसने कम से कम, दक्षिणा के मुख के खुल जाने की योग्यता प्राप्त कर ली हो । जैसे मंदिर तथा रहने का सामान्य घर, दोनों ही ईंट, पत्थर, रेत, सीमेन्ट इत्यादि से बने होते हैं, किन्तु सामान्य घर को मंदिर नहीं कहा जा सकता । मंदिर तो वही है जिसमें ईश्वर का कोई स्वरूप विशेष प्रतिष्ठित हो, किन्तु इस विचार में भी कुछ अधूरापन है । यदि इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जाय तो प्रत्येक साधक जिसमें दक्षिणा का मुँह खुल गया है, गुरु बन बैठेगा, यद्यपि अभी तक भी उसके अन्दर वासनाओं को क्षीण करने का कार्य शेष होता है । इसलिए दक्षिणा का मुख खुल जाना ही पर्याप्त नहीं है, बंधन का कारण भी शिथिल हो जाना चाहिए । शक्ति के प्रचार तथा संवेदन की शक्ति भी प्रकाशित हो जानी चाहिए, तथा दूसरों में आवेश उत्पन्न करने का अधिकार प्राप्त हो जाना चाहिए ।

योगदर्शन में संस्कार जो कि बंधन का कारण हैं, के शिथिलता की बात कही गई है, न कि उनके निर्मूल होने की, अर्थात् संस्कारों के आवरण, दक्षिणा शक्ति पर इतने तनु हो जाते हैं कि शक्ति का प्रकाश उनमें से छन्–छन् कर चित्त में बाहर फैलने लगता है । प्रारंभिक अवस्था में शक्ति की केवल क्रिया की अनुभूति होती है, किन्तु शक्ति तथा उसकी क्रियाशीलता दो भिन्न बातें हैं । क्रिया के सूक्ष्म तथा सौम्य होते जाने पर शक्ति का दक्षिणामूर्ति स्वरूप प्रकट होने लगता है, जिसे घटावस्था कहा जाता है । इस समय यदि ऐसी स्फुरणा हो तो गुरुकार्य आरंभ किया जा सकता है । एक उपाय और है । यदि गुरु चाहें तो किसी जाग्रत-शक्ति संपन्न शिष्य को गुरुपद पर आसीन कर सकते हैं । ऐसे में शिष्य के माध्यम से गुरु संकल्प कार्य करता है ।

भगवद्पाद शंकर ने दक्षिणामूर्ति स्तोत्र में दक्षिणा मुख खुल जाने के पश्चात् भगवद् शक्ति का पूर्ण रूपेण आश्रय ग्रहण कर लेने अथवा उसके प्रति समर्पण को ही साधन

कहा है तथा संकेत दिया है कि मुख खुल जाने से पूर्व अभिमान—पुरुषार्थ को यदि किसी सीमा तक मान भी लिया जाय किन्तु दक्षिणा की जाग्रति के पश्चात् समर्पण ही पुरुषार्थ हो जाता है । यदि फिर भी पुरुषार्थ का सहारा लिया जाए तो दक्षिणा शक्ति की क्रियाशीलता बंद हो जाती है ।

जगत का ज्ञान हो अथवा पुस्तकीय अध्यात्म ज्ञान, हैं तो सभी प्रतिबिम्बित ज्ञान ही । चित्त में स्वप्रकाशित ज्ञान कुछ नहीं । सब कुछ इधर-उधर से लिया हुआ ही है । वह भी उस अवस्था में ही, जब चित्त पर आत्मा की स्वप्रकाशित बोधस्वरूपता प्रतिबिम्बित हो । इसका अर्थ यह हुआ कि ज्ञान कुछ वस्तु नहीं, मनुष्य का वास्तविक लक्ष्य आत्मा की बोधस्वरूपता (ज्ञप्ति) को अनुभव करना है । ज्ञप्ति ही इन्द्रियों के माध्यम से सर्वविस्तारित होती है, ज्ञप्ति ही चित्त को परिचालित करती है तथा ज्ञप्ति का चित्त से संयोग ही ज्ञान का हेतु है । उसकी अनुभूति हो जाने पर, समाधि अवस्था प्राप्त हो जाने से जगत विलीन हो जाता है । सहजावस्था प्राप्त होकर नाम-रूपात्मक जगत् गौण हो जाता है ।

जब दक्षिणा मुख खुल जाता है तो जीव में उसकी कृपामयी लीला आरंभ हो जाती है । दक्षिणा सदैव ही लीला विहार करती रहती है किन्तु जीव ही अहंकारवश उसकी लीला को समझ नहीं पाता । भगवती दक्षिणा तो बोध स्वरूपा है, चित्त पर अपनी स्वाभाविकता प्रकाशित करती रहती है, किन्तु जीव चित्त पर अविद्या का आवरण ओढ़ लेता है, जिससे न दक्षिणा अनुभवगम्य हो पाती है, न ही उसकी स्वाभाविकता, परिणामतः जीव की सभी क्रियाएँ तथा भाव अस्वाभाविकता ग्रहण कर लेते हैं । उसके अहंकार की प्रबलता ही, उसकी दयनीय स्थिति का क़ारण है । इस स्थिति से निकाल पाना, दक्षिणा शक्ति के ही वश की बात है । जीव तो अपने अहंकार में ही मरा जा रहा है ।

दक्षिणा का मुख सदैव खुला रहता है । प्रसवक्रम में जगत की ओर तथा प्रति प्रसव क्रम में आत्मा की ओर । मुख का खुल जाना केवल औपचारिक प्रयोग है । जगदामुखी प्रवाह में, चित्त के वासनाओं के छिद्रों से दक्षिणा हर समय टपकती रहती है तथा उसका दक्षिणा स्वरूप दब जाता है । जिस प्रकार सूर्य प्रकाशित होते हुए भी बादलों के कारण दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार दक्षिणा भी नित्य एवं स्वप्रकाशित होते हुए भी, अविद्या के कारण अनुभव नहीं हो पाती ।

दक्षिणा मुख के आत्माभिमुख खुलने के पश्चात् भगवद् शक्ति का आश्रय ग्रहण करने अथवा उसके प्रति पूर्ण समर्पण को ही साधन कहा जाता है । आरती में उसी शुद्ध बोध स्वरूप आत्मतत्त्व की, भगवान शंकर के रूप में प्रार्थना की गई है जो दक्षिणा शक्ति का स्वामी ही नहीं, स्वयं दक्षिणा स्वरूप है तथा जो गुरु शरीरों के माध्यम से शिष्यों पर कृपा करके, अपनी शक्ति को अन्तर्मुख समेटना आरंभ कर देता है और इस प्रकार माया को हटा लेने का उपक्रम करता है । भगवान शंकर को इसीलिए प्रलयंकारी कहा जाता है क्योंकि

दक्षिणा शक्ति को अपने में लौटा लेने का क्रम आरंभ कर, शिष्य में प्रलय की स्थिति उपस्थित करते हुए उसके आन्तरिक व्यष्टि जगत का नाश करते हैं । इस कार्य का सम्पादन ही साधन की सिद्धि माना जाता है ।

दक्षिणामूर्ति की आरती में गुरुकी कार्य-विधि, प्रभाव तथा शिष्य के कर्त्तव्य-बोध का वर्णन किया गया है —

दृष्टिपात् संकल्प मात्र से जगती कुण्डलिनी
क्रियावती क्रीड़ाएँ करती, जाय न जो वरणी

जब शिष्य को गुरु की कृपा प्राप्त हो जाती है तो उसके पश्चात् क्या होता है ? उस विषय में कहा गया है :-

षट् चक्रों को वेध उर्ध्व गति प्राणों की होती
दिव्य मौन उपदेश जगाता, निष्ठा की ज्योति

उपर्युक्त पंक्तियाँ विशेष रूप से मननीय है । दक्षिणा स्वयं भी मौन रहकर साधक के हित में कार्य करती है, अपनी मौनावस्था से साधक को भी मौन का उपदेश करती है, यह उपदेश भी मौन होता है तथा साधक भी मौन होकर ही उसे ग्रहण करता है । आध्यात्मिकता की आन्तरिक प्रक्रियाएँ जगत के लिए अदृश्य तथा अगम्य होती हैं, इसीलिए संसार के लिए सब मौन होता है, किन्तु अन्दर ही अन्दर शिष्य के संशय निवृत्त हो जाते हैं, माया के आवरण उतरने का क्रम चलता रहता है तथा संस्कारों- वासनाओं का नाश होता जाता है । ईश्वर जगत को उपजाने, परिचालन करने तथा समेट लेने का कार्य मौन रहकर ही करता रहता है । जब तक जीव जगत् में रहता है, बक्-बक् करता रहता है । जगत् से हट जाता है तो मौन हो जाता है ।

प्रश्न– किन्तु क्रियाओं में तो कई प्रकार की आवाजें होती हैं, फिर उपदेश मौन कैसे हो सकता है ?

महाराजश्री– क्रिया की आवाजें चित्त-शुद्धि का क्रम है, उनका प्रभाव तथा ज्ञान मौन ही होता है । जिस प्रकार समुद्र की लहरें उठते तथा विलीन होते समय शोर करती हैं किन्तु परिणामत: समुद्र की शान्तता ही प्रकट होती है ।

प्रश्न– दक्षिणा शक्ति जगत् का रूप ग्रहण करती है ?

महाराजश्री– नहीं । जगत् का रूप ग्रहण नहीं करती । जगत केवल भासित होता है । जिस प्रकार हाल में बैठकर चल-चित्र परदे पर देखते हैं, दृश्य तथा परिस्थितियाँ दिखाई देती हैं, किन्तु यह सभी कुछ आभासित होता है, वास्तव में कुछ नहीं । जीव उसे यथार्थ समझकर उलझ जाता है । लहर एक कल्पना है, वास्तव में समुद्र ही है । कल्पना के संस्कार

संचित होने में भी तथा विलीन होने में भी शोर करते हैं, फिर तो मौन ही है । शास्त्रीय अथवा बौद्धिक ज्ञान भी शोर ही है । विज्ञान होने पर मौन होता है ।

प्रश्न– गुरु महाराज ! एक निवेदन है कि यदि दक्षिणामूर्ति के विषय पर आपके द्वारा एक पुस्तक लिखी जाय, जिसमें दक्षिणामूर्ति उपनिषद्, दक्षिणामूर्ति स्तोत्र तथा अपनी आरती, तीनों की विषद् व्याख्या हो तो साधकों पर बहुत उपकार होगा ।

महाराजश्री– हमने जो लिखना था लिख चुके । हमारा समय ही अब कितना बाकी है ? अब तो यदि हो सके तो तुम्हीं इस विषय पर कुछ लिखना ।

यह सुनकर मैं हत्प्रभ रह गया । कुछ देर तो सूझा ही नहीं कि क्या कहूँ ? फिर अपने आप को सँभाला तथा निवेदन किया, "पहले भी आपने आपके द्वारा रचित शक्तिपात् सूत्रों पर कुछ लिखने के लिए कहा हुआ है । पता नहीं, वह भी हो पाएगा कि नहीं । अब आप दक्षिणामूर्ति पर लिखने का बोल रहे हैं ।

महाराजश्री– योग्यता की चिन्ता मत करो । दक्षिणा शक्ति में सभी योग्यताएँ निहित हैं । उसे समर्पित होकर करोगे, तो वह सब सँभाल लेगी ।

सुनकर मैं चुप रह गया ।

(११) आगाशा

आज प्रात: काल जब भ्रमण के लिए निकले तो आगाशा का विषय एक बार फिर छिड़ गया । यह तो अब याद नहीं है कि बात कैसे आरंभ हुई किन्तु ऐसा प्रतीत होता था जैसे आगाशा महाराजश्री के साथ-साथ चल रहे हों । महाराजश्री बात करते-करते बीच में एकदम रुक जाते थे, जैसे किसी दूसरे की बात सुन रहे हों । कभी चलते-चलते खड़े हो जाते थे । यह समझ नहीं आती थी कि वह कुछ सोच रहे हैं या किसी की बात सुन रहे हैं !

महाराजश्री– देखो ! जगत की भौगोलिक, धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक अथवा आध्यात्मिक परिस्थितियाँ कभी एक समान नहीं रहती । कभी एशिया, अफ्रीका तथा अमेरिका, सब एक ही भूखण्ड थे । भारत की वर्तमान सीमाएँ सदैव ऐसी नहीं थीं । भारत कहाँ तक फैला था, आज उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती । रावण की पत्नी मन्दोदरी मय देश (वर्तमान मैक्सिको) की थी । धृतराष्ट्र की पत्नी गांधारी गांधार (वर्तमान कंधार) की थी, तथा महाराज दशरथ की रानी केकयी कैकेय देश, (वर्तमान काकेशिया) की थी । कई लोग एक विवाद खड़ा करते हैं कि आर्य भारत के मूल निवासी नहीं है । हमारे विचार में यह विवाद निरर्थक है । सब भूभाग एक दूसरे से जुड़े हुए थे । कभी वर्तमान मिश्र आदि देश भी भारत का ही भाग थे । उस समय कोई पासपोर्ट या वीजा का झंझट नहीं था । लोग एक भूभाग से दूसरे में स्वतंत्रता से आते-जाते थे । आज यह कह पाना बड़ा कठिन है कि रावण की लंका कहाँ थी, अथवा यादवों ने द्वारिका कहाँ बसाई थी ।

प्रश्न– किन्तु हम तो भारत की वर्तमान सीमाओं को लेकर ही किसी विषय पर विचार कर सकते हैं !

महाराजश्री– वर्तमान सीमाओं को लेकर, वर्तमान विषयों पर विचार करना ठीक है, किन्तु वर्तमान सीमाओं के आधार पर दस-बीस हजार वर्ष पूर्व की स्थितियों पर विचार कैसे उचित कहा जा सकता है ?

भाव यह है कि प्राचीन भारतीय ऋषि, संत तथा आध्यात्मिक महापुरुष कहाँ-कहाँ रहते थे, कहाँ-कहाँ घूमते थे, आज इस विषय में कल्पना नहीं की जा सकती । पौराणिक गाथाओं के अनुसार उनका आवागमन अन्य लोकों तक भी था । पूर्व-पश्चिम सब मनुष्य की कल्पनाएँ हैं । कभी कोई भूभाग एक देश का भाग बन जाता है, तो कभी कट कर अलग हो जाता है । बहती नदियाँ सूख जाती हैं, घने जंगलों के स्थान पर मरुस्थल उभर आते हैं । समुद्र की जगह पर्वतों की ऊँची चोटियाँ आकाश से बातें करने लगती हैं । विकसित नगर बियाबान हो जाते हैं । कभी आध्यात्मिक अनुष्ठान तो कभी मार-काट मचने लगती है । यह जगत परिवर्तनशील है ।

आगाशा के कथनानुसार जैसा कि उसने लास एंजलिस (कैलीफोर्निया) स्थित अपने चेतना मंदिर में कहा था कि आज से नौ हजार वर्ष पूर्व वह संसार के उस भूभाग में वर्तमान था जिसे आज ईरान कहा जाता है । उस समय के उस भूभाग की अपनी सभ्यता थी, किन्तु देखते ही देखते सब कुछ समाप्त हो गया । अगले दो हजार वर्षों में आगाशा के कई जन्म हुए । अन्तत: आज से सात हजार वर्ष पूर्व वह भूभाग के उस देश में अवतीर्ण हुआ जिसे वर्तमान में मिश्र कहा जाता है । उस समय मिश्र का अभी जन्म भी नहीं हुआ था । आगाशा के कथनानुसार उस समय उस भूभाग का नाम आस्टा था जहाँ प्राय: ईरान से आए हुए लोगों का निवास था तथा जिन्होंने अपने सैंतीस सम्प्रदाय बना लिए थे । प्रत्येक सम्प्रदाय का अपना नेता था, अपना विधि-विधान था । आगाशा का यह अन्तिम जन्म था । उसके पश्चात् वह चेतन जगत का वासी बन जाने वाला था । बड़े परिश्रम तथा योग्यता से वह एक सम्प्रदाय का मुंखिया बन गया । उससे पहले अपने जीवन की एक घटना सुनातें हुए उसने कहा, "एक दिन आस्टा के रेगिस्तान में मैं पैदल यात्रा कर रहा था । पानी तथा खाद्य सामग्री समाप्त हो चुकी थी, पाँवों की चप्पल भी टूट गई थी । इसलिए तपती रेत में खुले पाँवों ही चलना पड़ रहा था । गला सूख रहा था । भूख से आँतड़ियाँ बाहर आने को हो रही थीं । पाँव जल रहे थे । मीलों तक छाया का कोई निशान नहीं था । ऐसे में निढाल हो कर अर्धमूर्छित अवस्था में गिर पड़ा । सहसा मुझे ऐसा लगा कि कोई कह रहा है कि उठो तथा धैर्य धारण करो तथा अन्तर के दैवी स्तर पर स्थिर हो जाओ । पास अन्य कोई भी नहीं था, फिर आवाज कहाँ से आ रही थी ?"

तब अदृश्य में से एक आकृति, हाथ में खाद्य सामग्री लिए एकदम प्रकट हुई। आगाशा सोच में डूब गया कि यहाँ तो दूर-दूर तक कोई भी दिखाई नहीं दे रहा था, यह आकृति कहाँ से प्रकट हो गई ? वह भूखा-प्यासा तो था ही। उसने खाद्य सामग्री लेने का भरसक प्रयत्न किया, मिन्नतें की, किन्तु भूख मिटाने या प्यास को दूर करने के लिए वह कुछ भी प्राप्त न कर सका। तब उस चेतन आकृति ने कहा, "यदि मैं तुम्हारी प्राण रक्षा कर देता हूँ तो निश्चय ही तुम बहुत प्रसन्न होओगे, किन्तु इस समय मेरे आने का उद्देश्य दूसरा है। सब से महत्वपूर्ण बात तुम्हें यह स्मरण कराना चाहता हूँ कि मेरी तरह तुम भी समष्टि चैतन्य के ही एक अंश हो।" आगाशा इतनी एकाग्रता से यह सब बातें सुन रहा था कि रेत की तपिश से भी उसका ध्यान हट गया।

चेतन-आकृति कहे जा रही थी, "भोजन तथा जल पहले से ही तुम्हारे अन्दर हैं, तुम्हारी भूख मर चुकी है, तुम्हारी प्यास बुझ चुकी है, किन्तु तुम्हारा अभी लक्ष्य नहीं है कि ऐसा हो चुका है। जब तुम यह सब समझ जाओगे, तो मैं तुम्हें यहाँ से थोड़ी ही दूर एक गाँव में ले जाऊँगा, जहाँ तुम्हें भौतिक शरीर की आवश्यकतानुसार सब कुछ उपलब्ध हो जाएगा।"

शान्त चित्त हो जाने के उपरान्त आगाशा चेतन आकृति के पीछे हो लिया तथा थोड़ी ही देर में एक छोटे से गाँव में जा पहुँचा। चेतन आकृतिं विलीन हो गई। आगाशा की इस गाँव से आवश्यकता पूर्ति हो गई।

चेतन– आकृति खाने-पीने का सब सामान साथ लेकर विलीन हुई थी किन्तु आगाशा ने समझ लिया कि वह मुझे यथार्थ ज्ञान का वास्तविक मार्ग दिखला गई है।

कई वर्षों पश्चात् आगाशा अपने सम्प्रदाय का मुखिया बन गया। उसके भी कई वर्ष पश्चात् उस पर यह रहस्य प्रकट हुआ कि रेगिस्तान में दिखाई देने वाली चेतन-आकृति, उसके गुरु कोमन कोबाँ की थी। एक दिन उस के गुरु ने उसे कहा था कि मैंने ही प्रकट होकर, यह अनुभव कराया था। आगाशा में अभिमान आ गया था, जिसे तोड़ने के लिए मैंने वह सारी परिस्थिति निर्माण की थी।

प्रश्न– गुरु के क्रिया कलापों के रहस्य को कौन समझ सकता है ? शिष्य कष्ट उपस्थित होने पर चिल्ला उठता है। यह नहीं जानता कि उसमें उसका कल्याण निहित है।

महाराजश्री– शिष्य की बुद्धि अल्प तथा सीमित होती है अपितु मोह तथा अभिमान के कारण विपरीत भी होती है। वह कष्टों के आवरण में छिपे कल्याण को नहीं जान पाता, अतः उसके लिए समर्पण का साधन कहा गया है।

वर्षों व्यतीत हो गए। आगाशा अपनी साधना तथा मानवता के कार्यों में लगा रहा। एक दिन वह आवाज उसे फिर सुनाई दी जो कई वर्षों पूर्व उसने रेगिस्तान में सुनी थी। थोड़ी देर में कोमन कोबाँ उसके समक्ष प्रत्यक्ष था।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि मनुष्य के जीवन में जो कुछ दिखाई देता है उससे अनन्त गुणा अधिक वह अपने अन्तर में समेटे है । प्रत्येक क्रिया तथा घटना का संचालन अन्तर से ही होता है । संचालन कौन करता है ? कहाँ से करता है ? किस विधि से करता है ? इसको समझ पाने में मनुष्य पूर्णतया असमर्थ है । अपने यथार्थ गंतव्य तक पहुँचने के लिए, पहले उसे इन सभी प्रश्नों को हल करना होता है । सारी बातों को प्रत्यक्ष अनुभव में लाना होता है तथा जीव और संचालक के बीच पड़े हुए आवरणों तथा अवरोधों को हटाना होता है । कई बार वह इस कार्य में लग जाता है, कई बार भूल जाता है । कई बार अवरोध हटते जाते हैं तो कई बार नए-नए खड़े करता जाता है । अनन्त युगों से वह इस आन्तरिक यात्रा के भटकाव भरे मार्ग पर चलता आ रहा है ।

ईरान से लेकर आस्टा तक की, दो हजार वर्षों की लम्बी यात्रा में आगाशा ने अनेक जीवन धारण किए । कई प्रकार की साधनाएँ कीं, विभिन्न प्रकार के उतार-चढ़ाव देखे, अन्ततः अपनी यात्रा के अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आस्टा में, आगाशा के रूप में प्रकट हुआ । इसी जन्म में कोमन कोबाँ ने उसे पूर्व जन्मों का प्रत्यक्ष अनुभव कराया । भविष्य की कई सूचनाएँ दी । उसके अन्दर तथा बाहर भासित जगत की कल्पनाओं को समाप्त कर दिया तथा समष्टि चैतन्य की अनुभूति करवा कर, उसे चैतन्य में स्थापित कर दिया । अब आगाशा चैतन्य सृष्टि का वासी है । वह भौतिक जगत में विचरण करे अथवा चेतन में, उसकी स्थिति सदैव चेतना में ही बनी रहती है ।

आगाशा ने किसी माध्यम से मिश्र देश में स्थित पिरामिड का विशद वर्णन किया है । इसे सात हजार वर्ष पूर्व किसी अन्य लोक के लोगों द्वारा निर्मित किया गया था । तब आधुनिक उपकरणों का कहीं नाम तक नहीं था । पिरामिड (१३ एकड़ भूमि पर स्थित, चालीस मंजिल के करीब ऊँचा, अन्दर कई हाल कमरे और गलियारे) संसार में विशालतम निर्माण है । वह भी रेगिस्तान में, जहाँ रेत के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी उपलब्ध नहीं । संभवतः यह आगाशा के समय में निर्मित किया गया । अवश्य ही वह उस समय का विशालतम आध्यात्मिक केन्द्र रहा होगा ।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है (हृदय मंथन भाग दो में) कि आगाशा के साथ २७३ लोग और थे जो कि आध्यात्मिक प्रवृत्तियों को चलाते थे । उनके कथनानुसार उनमें एक मैं भी था ।

प्रश्न– तब तो आप जन्म-जन्मान्तर से आध्यात्मिक यात्रा पर चल रहे हैं । सात हजार वर्ष पूर्व भी, आध्यात्मिकता की काफी ऊँचाई छू रहे थे । अभी तक चले ही जा रहे हैं । कितनी लम्बी तथा कठिन है यह यात्रा ?

महाराजश्री– तुम हमारी सात हजार वर्ष की यात्रा से ही चकित हो रहे हो ! आगाशा को देखो एटलांटीज से भी पहले से अध्यात्म पथ का पथिक है ।

प्रश्न– यह एटलांटीज क्या है ?

महाराजश्री– पश्चिम के विद्वानों के मतानुसार आज से एक लाख पचहत्तर हजार वर्ष पूर्व एटलांटिक महासागर में एक विशाल टापू था, जिसके लोग आध्यात्मिक एवं आधिदैविक विद्याओं में काफी बढ़े-चढ़े थे । उनकी गति अन्य लोकों तक भी थी, तथा अन्य लोकों के लोग भी उनके पास आते थे । एक रात वह टापू समुद्र में विलीन हो गया । उसके साथ ही वहाँ के सभी लोग तथा वहाँ की सभ्यता भी समाप्त हो गई । आधुनिक लोगों ने उस टापू का नाम एटलांटीज रखा है ।

आगाशा भी एटलांटीज का ही एक नागरिक था । उस समय भी कोमन कोबाँ उसका गुरु था । एक लाख पचहत्तर हजार वर्ष कोमन कोबाँ ने आगाशा की गतिविधियों पर दृष्टि रखी । उसे समय-समय पर सहारा दिया । उसके प्रारब्ध कर्म क्षय करने में उसकी सहायता की । अन्त में आस्टा (मिश्र देश) में आकर आगाशा चेतन लोक का वासी हो गया, अर्थात् भौतिक देह तथा जगत से मुक्त हो गया ।

आस्टा में आगाशा को जो पूर्व जन्मों का अनुभव हुआ, वह दो हजार वर्ष उसके इरान में वर्तमान रहने से लेकर आस्टा तक ही था । आगाशा ने कोमन कोबाँ से पूछा कि एटलांटीज तक अर्थात् एक लाख पचहत्तर हजार वर्षों के अनुभव क्यों नहीं हुए ? कोमन कोबाँ ने कहा कि संभव है इसी में तुम्हारा कल्याण हो । यदि भविष्य में, भगवान तुम्हारे लिये कल्याणकारी समझेंगे, तो यह अनुभव भी करा देंगे ।

प्रश्न– हमारे यहाँ भी एटलांटीज का कोई उल्लेख है क्या ?

महाराजश्री– पुराणों में कई प्रकार की कथाएँ मिलती हैं किन्तु यह कह पाना कठिन है कि किस कथा का एटलांटीज से कितना संबंध है । इस बारे में हमने कभी विचार भी नहीं किया । वैसे द्वारिका का इस प्रकार का वर्णन मिलता है जो समुद्र में चली गई थी, किन्तु वह घटना पाँच हजार वर्ष पुरानी मानी जाती है जबकि एटलांटीज की एक लाख पचहत्तर हजार वर्ष ।

प्रश्न– प्राय: आध्यात्मिक साधक भारत की ही चर्चा करते हैं, आध्यात्मिक उन्नति के लिए भारत में जन्म लेने को अनिवार्य मानते हैं, जबकि आप अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर चर्चा कर रहे हैं ?

महाराजश्री– यह भी कुछ साधकों का दृष्टिकोण हो सकता है । हमारे विचार में आध्यात्मिक साधकों का दृष्टिकोण तथा हृदय उदार तथा विशाल होता है । सारा संसार ही उनका भारत है । भारत ही क्या ? उनकी चर्चा का आधार सारी सृष्टि होती है ।

प्रश्न– क्या आप का भी एटलांटीज से कुछ संबंध रहा है ?

महाराजश्री– मुझे इस विषय में कुछ ज्ञात नहीं । न ही आगाशा ने या अन्य किसी महापुरुष ने इस विषय में कुछ कहा है ।

प्रश्न– किन्तु इस सारे विवरण से दो बातें स्पष्ट हो गईं। एक तो यह कि आध्यात्मिकता इतनी सहज नहीं । लोग साधन आरंभ करते ही सिद्ध हो जाने की कल्पना करने लगते हैं । यदि यात्रा इतनी लम्बी तथा कठिन है तो उतने ही धैर्य की भी आवश्यकता है । दूसरे गुरु का उत्तरदायित्व केवल दीक्षा देकर ही समाप्त नहीं हो जाता । जन्म-जन्मान्तर तक उसे शिष्य की सँभाल करनी पड़ती है । तब तक संभवत: गुरु को भी अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए धीरज धारण करना पड़ता है, जब तक कि शिष्य भी इस योग्य नहीं हो जाता ।

महाराजश्री– तुम्हारी यह दोनों बातें ठीक हैं । यदि इस जन्म में साधन की निरन्तरता बनी रहे तभी अगले जन्मों में भी बनी रह सकती है । इसके लिए धैर्य तथा समर्पण तो आवश्यक हैं ही, दूसरे गुरु का उत्तरदायित्व महानतम है यदि शिष्य साधन-पथ पर आगे नहीं बढ़ता, तो गुरु के पाँव की बेड़ी बन जाता है, अत: गुरु को शिष्य बनाते समय बड़ा सँभल कर चलने की आवश्यकता है ।

प्रश्न– यदि कोमन कोबाँ एटलांटीज में गुरुपद पर आसीन था तथा उसके पश्चात् भी सूक्ष्म स्तरों पर रहकर आगाशा का मार्ग-दर्शन करता रहा, तो इस का अर्थ यह है कि एटलांटीज से पूर्व भी लाखों वर्षों तक साधनरत रहा होगा ?

महाराजश्री– इसका अर्थ तो यही है, किन्तु जिस साधक में संपूर्ण समर्पण आ जाता है तथा अपने आप को भगवान् के हाथ का यंत्र बना लेता है, उसे समय तथा जन्म-मरण की कोई चिन्ता नहीं रहती, अर्थात् समर्पण एक ऐसा साधन है जो साधक को तत्काल मुक्ति प्रदान कर देता है । चित्त शुद्ध होता रहेगा, माया हटती रहेगी, साधक को कोई जल्दी नहीं रहती ।

प्रश्न– क्या आपकी भी कभी कोमन कोबाँ से बात हुई ?

महाराजश्री– उसकी उपस्थिति का आभास अवश्य हुआ । बात नहीं हुई ।

प्रश्न– कोमन कोबाँ जैसी महानात्मा का आप के संपर्क में आना ही बहुत बड़ी बात है । क्या पता आगाशा की तरह ही कोमन कोबाँ आपकी गतिविधियों पर भी नजर रखे हों, तथा अदृश्यावस्था में रहकर आप का भी मार्गदर्शन कर रहे हों ? इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि आप भी एटलांटीज में से एक हैं !

महाराजश्री– इस बात की जानकारी, संभव है, कोमन कोबाँ के पास हो । अतीत की सभी स्मृतियाँ अन्तर्मन में संचित रहती हैं, जिन्हें मनुष्य स्वयं भी नहीं जान पाता । यदि कोई समर्थ महापुरुष आपके अन्तर्मन के साथ संपर्क करे तो उससे वह अवश्य ही अवगत हो

सकता है । कोमन कोबाँ मेरे पास आते हैं तो हो सकता है कि उनके पास यह जानकारी भी हो । यह भी संभव हो सकता है कि वह एटलांटीज से ही मेरा पीछा कर रहे हों ।

ऊपर लिखित विवरण ने मुझे कई बातें सोचने पर विवश कर दिया था । ईश्वर एक दम पास होकर भी कितनी दूर है ! समझ नहीं आता कि यह दूरी जीवन ने पैदा की है या ईश्वर ने । आगाशा जैसा महापुरुष भी एक लाख पचहत्तर हजार वर्षों तक भौतिकता में ऊपर नीचे होता रहा । हमारे जैसे सामान्य जीवन किस बाग की मूली है । कौन-कौन खिसक कर अपने स्तर से नीचे नहीं गिरा । ईश्वर से जीवन की दूरी कभी कम हो जाती है, कभी बढ़ जाती है । उसे मिटाने के लिए लाखों वर्ष एवं अनन्त जन्मों तक साधन की आवश्यकता है । कहते हैं कि जीव अपने प्रयत्न से इस खाई को नहीं पाट सकता । तो क्या जीव ने अपने प्रयत्न से यह खाई बनाई है ? या यह भी ईश्वर निर्मित है ? यह भी कहा जाता है कि जिस की माया है वही हटा सकता है । सब कुछ ईश्वराधीन है ।

सुनते आए हैं कि जीव माया में उलझ गया है । उलझ गया है या ईश्वर ने उलझा दिया है ? अब तड़पते-कसमसाते जीव का तमाशा देख रहा है । कुछ भी हो, यह तड़पन तथा कसमसाहट दूर हो कर शान्ति प्राप्त करना ही आध्यात्मिकता है, किन्तु यह मार्ग कितना लम्बा, कितना कठिन तथा विघ्नों से भरा है ! चलते-चलते मनुष्य कभी ठहर जाता है, कभी गिर पड़ता है, कभी भटक जाता है । कई बार उसे गिर जाने का भान ही नहीं होता । कई बार गिरावट में ही सुख मानने लगता है । कैसा विचित्र खेल है, कैसी अद्भुत माया है ? जीव कैसा लाचार है ? लक्ष्य सामने हो कर भी लक्ष्य-प्राप्ति उसके हाथ में नहीं है । कभी एक क़दम आगे बढ़ाता भी है तो पता नहीं कौन उसे दो कदम पीछे धकेल देता है !

मनुष्य की बुद्धि ही उसकी सब से बड़ी शत्रु बनी बैठी है । जितनी अधिक प्रखर उतना ही ज़गत में अधिक उलझाव । यदि शास्त्र-ज्ञान में लग जाती है, तो उसीमें फँस कर रह जाती है । ईश्वर-कृपा के बिना बुद्धि की दिशा ठीक नहीं हो पाती । बुद्धि भी ठीक हो तथा उसकी दिशा भी ठ़ीक हो, तभी काम बन पाता है । संभवत: इसीलिए साधना तथा साधन पर बल दिया जाता है । पर साधन तो कई लोग करते हैं, बुद्धि उन्हें भी उलझा देती है । कहीं का कहीं पहुँचा देती है । साधन की दिशा भी बदल देती है । यही तो माया है । बाहरी माया ।

मुझे इस बात की भी चिन्ता थी कि जब कोमन कोबाँ जैसा समर्थ चैतन्यावस्थित गुरु तथा आगाशा जैसे अधिकारी एवं निष्ठावान शिष्य का मिलन था, तब भी आगाशा की चैतन्य-स्थापिति में लाखों वर्ष लग गए । फिर मैं तो भौतिकता के चंगुल से भी अपने आप को मुक्त नहीं कर पाया था । कैसे कर पाऊँगा ? कैसे निभा सकूँगा मैं गुरु के महान उत्तरदायित्व को ? क्षमता तथा योग्यता के अभाव में, शिष्यों के साथ यह छलावा नहीं है ?

(१२) साधन एक झाड़ू

प्रात: भ्रमण से आने के पश्चात् महाराजश्री वराण्डे में एक कुर्सी पर विराजमान थे। एक आश्रमवासी चौक में भी झाड़ू लगा रहा था। दीवार के साथ वाले जोड़ तथा कोनों से कचरा बाहर निकलता आ रहा था। चौक साफ होता जा रहा था। महाराजश्री बड़े ध्यान से देख रहे थे। बोले, "देखो झाड़ू कैसा काम कर रहा है।" मैं भी झाड़ू की क्रियाओं को देखने लगा।

महाराजश्री– देखा तुमने ! झाड़ू कैसे कचरा बाहर निकाल रहा है। यह केवल झाड़ू ही नहीं, साधकों का आदर्श भी है।

मैंने कहा, "झाड़ू और साधकों का आदर्श !"

महाराजश्री– हाँ, जिस प्रकार किसी स्थान को साफ करने के लिए झाड़ू का उपयोग किया जाता है उसी प्रकार अन्तर की गंदगी को साफ करने के लिए साधन रूपी झाड़ू की आवश्यकता पड़ती है। जिस प्रकार पलंग के नीचे जहाँ आप का हाथ नहीं पहुँच पाता, वहाँ तक झाड़ू जा कर कचरे को बाहर खींच लाता है। उसी प्रकार साधन भी मन में कब-कब के छिपे संस्कारों को बाहर खींच कर क्षीण कर देता है।

मैंने कहा, "किन्तु साधन को झाड़ू की उपमा देना अच्छा नहीं लगता।"

महाराजश्री– अच्छे और बुरे की मिथ्या कल्पना में जीव अच्छी बात को ग्रहण करने से भी चूक जाता है। क्या यह बात गलत है कि झाड़ू गंदगी की सफाई करता है ? जीव तो अपने मन में चाहे-अनचाहे कचरा एकत्रित करता जाता है। झाड़ू से हम कचरा भी निकालते हैं तथा फिर एक ओर पटक भी देते हैं। जब हम स्नानादि कर के पवित्रता के भ्रम से ग्रसित हो जाते हैं तो झाड़ू को छूना भी घृणित मानते हैं, किन्तु अभिमान-रहित झाड़ू, आप के द्वारा एकत्रित कचरे को साफ करने के लिए दूसरे दिन फिर उपस्थित एवं तत्पर हो जाता है। ऐसी ज्वलंत उपमा को साधन से उपमित करने में क्या बुराई है ? क्या साधन मन के मैल को नहीं निकालता ? क्या साधन से आप झाड़ू का काम नहीं लेते ?

प्रश्न– आप के कहने का भाव यह है कि झाड़ू में अभिमान नहीं है !

महाराजश्री– अभिमान नहीं है, इसीलिए आप की सेवा कर पाता है। यदि अभिमान होता तो कहता, कि गंदगी तो आप करो और सफाई मैं करूँ ? किन्तु ऐसा नहीं है। आप गंदगी करते जाते हैं, झाड़ू सफाई में लगा रहता है। वह अपमानित तथा उपेक्षित होता रहता है, फिर भी आप की सेवा से मुँह नहीं मोड़ता। यही तो एक सच्चे सेवक का लक्षण है। साधक को अच्छी बात जहाँ से भी मिले, ग्रहण करने में संकोच नहीं करना चाहिए।

प्रश्न– किन्तु केवल गंदगी निकालने के लिए ही झाड़ू का उपयोग नहीं किया जाता, कई लोग झाड़ू से धन भी एकत्रित करते हैं ।

उत्तर– अध्यात्म की दृष्टि से धन भी गंदगी ही है, जिसे जीव अज्ञानतावश सँभाल-सँभाल कर रखता है । ऐसे लोग झाड़ू का उपयोग गंदगी दूर करने के लिए नहीं, इकट्ठी करके अन्दर भरने के लिए करते हैं । झाड़ू तो जीव का सेवक है, जैसा आदेश होता है, सेवा कर देता है ।.

प्रश्न– साधन का भी तो यही हाल है !

महाराजश्री– शक्ति की क्रियाशीलता का अवलोकन ही साधन है । चाहे साधन का उपयोग अन्दर संस्कार संचय के लिए करो, अथवा संस्कार क्षय के लिए । साधन तथा झाड़ू में कितनी समानता है !

प्रश्न– प्राय: लोगों का ध्यान मन की मैल निकालने की ओर होता ही नहीं । वह अपने आप को विद्वान, साधक, कलाकार, बुद्धिमान, गुणवान् मानकर अन्यों की अपेक्षा उत्तम समझते हैं !

महाराजश्री– यही तो मनुष्य की भूल है । देखने-सुनने, साँस लेने, खाने आदि के मार्ग सभी के एक समान हैं, कोई विद्वान हो या मूर्ख, अथवा किसी भी विचारधारा का अनुयायी हो, नाक से आहार ग्रहण नहीं करता, न ही आँखों से सुन सकता है । छोटे-बड़े की कल्पना सब मानसिक विकार है ।झाड़ू तथा साधन के सहयोग से ही वह विकार निर्मूल हो सकते हैं ।

प्रश्न– परन्तु झाड़ू तो साधन हुआ, आदर्श नहीं ?

महाराजश्री– झाड़ू साधन भी है तथा आदर्श भी । जहाँ एक ओर सफाई करता है वहीं दूसरी ओर निरभिमानता, सहनशीलता तथा सेवा का आदर्श भी उपस्थित करता है ।

प्रश्न– फिर तो झाड़ू पूजनीय है !

महाराजश्री– झाड़ू अपनी पूजा नहीं कराना चाहता । वह सेवक ही बन रहना चाहता है । पूजा कराने में अभिमान आ जाने की सँभावना है ।

प्रश्न– किन्तु जो आन्तरिक जाग्रत शक्ति, आन्तरिक सफाई का कार्य करती है, वह तो पूज्य है !

महाराजश्री– क्योंकि जाग्रत शक्ति साधन तथा आदर्श होने के साथ-साथ इष्ट भी है । वह साधन, साधक तथा साध्य सभी कुछ है, इसलिए साधक के मन में शक्ति के प्रति पूज्य भाव होना आवश्यक है, किन्तु झाड़ू इष्ट नहीं, केवल साधन तथा निरभिमानता और सहनशीलता का प्रतीक है ।

प्रश्न– कुछ भी हो, आपकी बातें सुनकर मन में ऐसा आता है कि झाड़ू से सफाई का काम लेना बंद कर, उसे आदरणीय स्थान पर स्थापित कर दिया जाए ।

महाराजश्री– तो फिर वह झाड़ू ही नहीं रह जायगा। अपने आदर्श तथा सेवा-भावना से च्युत होकर, आदर्श रूप नहीं रहेगा । उसका महत्व इसीमें है कि उपेक्षित तथा अपमानित रहकर मूक बना वह, आपकी सेवा में लगा रहे ।

प्रश्न– इसका अर्थ यह हुआ कि सेवा का आदर्श स्थापित करने के लिए स्वयं उपेक्षित रहना पड़ता है !

महाराजश्री– देखो ! मार्बल का एक सुन्दर भवन बनाया जाता है, किन्तु उस भवन को आधार प्रदान करने वाला सामान्य पत्थर, नींव में गाड़ दिया जाता है, जहाँ उसे फिर कोई देख भी नहीं पाता । वह सामान्य पत्थर मार्बल के भवन का बोझ उठाए खड़ा रहता है । लोग भवन की प्रशंसा करते हैं, सामान्य पत्थर को कोई नहीं पूछता । लोग आते हैं, साफ-सुथरा घर देखकर प्रसन्न हो जाते हैं, किन्तु जिस झाड़ू से घर साफ किया जाता है, उसकी कोई बात नहीं करता । सेवक अपनी उपेक्षा से ही प्रसन्न रहता है ।

प्रश्न– पर मनुष्य हर हालत में मनुष्य ही रहेगा, झाड़ू नहीं बन सकता ।

महाराजश्री– मनुष्य को झाड़ू बन जाने के लिए कहता भी कौन है ? किन्तु वह झाड़ू के आदर्श का पालन अवश्य कर सकता है। मन की मलीनता को दूर करके तथा सहनशीलता और सेवा धर्म को अपना कर ।

मैं गहरी सोच में डूब गया । महाराजश्री ने झाड़ू जैसी सामान्य सी लगने वाली वस्तु के माध्यम से कैसा मार्मिक उपदेश दिया है ! मनुष्य का कर्त्तव्य है कि साधना रूपी झाड़ू से, मन की मलीनता को बाहर निकाल दे । तभी निरभिमानता, उदारता, सेवा भावना, प्रभु-प्रेम आदि सद्लक्षण प्रकट होंगे । तभी मानसिक शान्ति विकसित हो पाएगी, तभी जगत की मिथ्या आसक्ति दूर होगी तथा तभी अध्यात्म लाभ होगा । शास्त्र भी साधनरूप झाड़ू के प्रयोग की ओर ही संकेत करते हैं । प्राचीन काल में संभवत: इसीलिए शिष्य का शिक्षण गुरुकुल में झाड़ू लगाने से आरंभ होता था ।

आज झाड़ू उपेक्षित है । सफाई के बाद लोग उसे कोने में फेंक देते हैं, किन्तु झाड़ू इस उपेक्षामय व्यवहार में भी प्रसन्न है । जिन बर्तनों में मनुष्य भोजन करके उन्हें गंदा करता है, फिर उनकी रगड़ाई करके साफ करता है । लैम्प स्वयं तप-जल कर प्रकाश देता है । बिजली के पंखे को हवा देने के लिए स्वयं कितना घूमना पड़ता है । स्वयं कष्ट सहन कर ही सेवा हो पाती है, किन्तु जब मनुष्य के मन की रगड़ाई होने लगती है तो चिल्लाने लगता है, बचने के उपाय सोचता है ।

(१३) विकृत गुरु

आश्रम में एकबार एक सज्जन आए जो सरकारी नौकरी में अत्यन्त उच्च पद पर आसीन थे । वह दो चार बार पहले भी आ चुके थे तथा इस बात से अवगत थे कि महाराजश्री दीक्षा देना बंद कर चुके हैं इसलिए उन्होंने मेरे पास आकर दीक्षा के लिए प्रार्थना की । मैंने उन्हें सामान्य क्रमानुसार महाराजश्री के पास भेज दिया कि दीक्षा की स्वीकृति वहीं से होगी । महाराजश्री ने उन्हें दीक्षा के लिए मना कर दिया ।

मैं अभी नया-नया गुरु बना था । नए गुरुपने के विकार मेरे मन में भी पनपने लगे थे । बड़े लोगों को शिष्य बनाने का लोभ उन विकारों में से एक था । यह अभिमान का ही एक स्वरूप था । मुझे पता भी नहीं चल पाया था कि यह विकार मन में कब प्रवेश कर गया था । उन सज्जन को महाराजश्री का दीक्षा के लिए मना करना, मुझे अच्छा नहीं लगा । मैं जब महाराजश्री के पास गया, तो पता नहीं कैसे ? उन्होंने मेरे मनोभावों को जान लिया ।

महाराजश्री– देखो ! हम लोग स्वामी नारायण तीर्थ देव महाराजकी परम्परा में साधनरत् हैं, जिन्होंने अत्यन्त गरीबी में जीवन बिता दिया किन्तु पैसे या अन्य किसी लोभ में किसी को दीक्षा नहीं दी । भिक्षा माँग कर आश्रम चलाया तथा इस प्रकार त्याग, तपस्या एवं वैराग्य का आदर्श उपस्थित किया । केवल मौखिक उपदेश से ही नहीं, क्रियात्मक रूप से भी जगत को यह बतलाया कि गुरुपद कोई दुकानदारी नहीं है । यदि शिष्य के कल्याण की भावना के अतिरिक्त कुछ भी अन्य कामना हो, तो गुरुपद दूषित हो जाता है । इसी आदर्श के पालन की, इस परम्परा के गुरुओं तथा साधकों से अपेक्षा की जाती है ।

प्रश्न– मेरे मन में अभी तक तो लोभ की वृत्ति पैदा नहीं हुई !

महाराजश्री– जब वह सज्जन तुम से बात कर रहे थे तो मैं दूर वराण्डे में, कुर्सी पर बैठा देख रहा था । तुम्हारे मन के भाव तुम्हारे मुख मंडल पर स्पष्ट परिलक्षित हो रहे थे । ठीक है कि तुममें अभी तक लोभ की वृत्ति नहीं आई है, किन्तु भौतिक दृष्टि से बड़े लोगों को शिष्य बनाने का लोभ अवश्य आ गया है । आज लोभ का यह भाव आया है, कल धन का लोभ भी आ सकता है । इसलिए इस प्रकरण को मैंने यही पूर्ण विराम लगा देना ही उचित समझा । उन सज्जन को दीक्षा लिए अभी तो टाल दिया है, भविष्य में तुम्हारा यह भाव जब दब जाएगा, तथा शिष्य के कल्याण का भाव परिपक्व हो जाएगा, तो देखा जाएगा ।

प्रश्न– वैसे वह सज्जन दीक्षा के अधिकारी थे क्या ?

महाराजश्री– वह तो अधिकारी थे किन्तु तुम इस समय दीक्षा देने के अधिकारी नहीं थे ।

यह बात मेरे मुँह पर एक जबरदस्त थप्पड़ के समान थी जिसे सहन नहीं कर पा रहा

था । मैं तिलमिला कर रह गया । कुछ देर के लिए मेरी बोलती बंद हो गई । मेरी उँगलियाँ जमीन को कुरेदे जा रही थीं तथा मन में एकदम स्तब्धता छा गई थी । किसी प्रकार अपने आप को सँभाला । मैंने कहा, " मैं तो दीक्षा देने के लिए कभी भी अधिकारी नहीं था । यह सब आप की शक्ति, संकल्प तथा आशीर्वाद का ही फल है ।"

महाराजश्री– किन्तु संकल्प के कार्य करने का माध्यम ही विकृत हो गया है । जब तक माध्यम में सुधार नहीं हो जाता तब तक शक्ति की क्रियाशीलता तथा उसके विस्तार को स्थगित रखना ही ठीक है ।

मैं चुपचाप उठकर अपने कमरे में आ गया । हृदय में विचारों की बाढ़ उमड़ रही थी । आँखें मूंदे अपने आसन पर लेट गया । यह बात एकदम ठीक थी कि मैं गुरुपद के उच्च उत्तरदायित्व से नीचे खिसक आया था । शिष्य के कल्याण का भाव, मेरे मन से ओझल हो गया था तथा उसके स्थान पर बड़प्पन की भावना ने घर कर लिया था । अध्यात्म का विषय कितना सूक्ष्म है ? वासना भी कैसी धोखेबाज है ? पता भी नहीं चलने देती, कब किस मार्ग से मन में प्रवेश कर जाती है । ऐसा लगता है कि जगत में वासना का ही एक छत्र साम्राज्य है । संन्यासी हो, गृहस्थ हो, गुरु हो या चेला, मूढ़ -विद्वान, सब उसी के जाल में उलझे हैं ।

उसके पश्चात् महाराजश्री के पास जाने का साहस नहीं हुआ । केवल रात को सोते समय प्रणाम करने गया । प्रात: भ्रमण में भी मौन धारण किए, महाराजश्री के पीछे-पीछे चलता रहा ।

महाराजश्री– आज तुम चुपचुप क्यों हो ?

मैंने कहा, "जी, कल की बात से ।"

महाराजश्री– देखो ! संन्यास के पश्चात् प्राय: अभिमान, लोकेषणा तथा लोभ बढ़ जाया करते हैं, जब कि इन्हें समाप्त करने के लिए ही संन्यास ग्रहण किया जाता है । तुम्हारी वृत्ति लोकेषणा का ही एक रूप है । तुम्हारे लिए तो यह घातक है ही, जिन को तुम दीक्षा दोगे, उनके लिए भी अमंगलकारी है ।स्वामी नारायण तीर्थ देव महाराज के उदाहरण के अतिरिक्त भी, अन्य सभी संतों-भक्तों को मन से इसी प्रकार जूझना पड़ा है । सुन्दर आश्रम, बड़े-बड़े शिष्य, वक्तृत्व कला, लेखन, गायन, सब लोकेषणा का कारण बन सकते हैं तथा इस प्रकार अभिमान को बढ़ावा दे सकते हैं ।

तुम अभी नए गुरु बने हो । बड़ी लम्बी यात्रा तुम्हारे सामने है । यदि अभी से तुम लड़खड़ाने लगे तो मंजिल तक कैसे पहुँचोगे ? तुम्हें स्वयं भी चलना है तथा दूसरों को भी चलाना है ।

प्रश्न– इसका अर्थ यह हुआ कि गुरु बनना बहुत कठिन है !

महाराजश्री– वैसे तो गली-गली में गुरु बिखरे पड़े हैं, जिसने चार शिष्य बना लिए, वही गुरु बन जाता है । कोई भी गुरु बन सकता है, किन्तु दूसरे को दलदल से निकालने के लिए, पहले स्वयं का स्थिर धरातल पर स्थित होना आवश्यक है । स्वयं डूबने वाला, किसी अन्य डूबने वाले को नहीं बचा सकता । कभी डूबने वाला बचाने वाले को भी ले डूबता है । कभी डूबने वाले को बचाते-बचाते बचाने वाला भी नियंत्रण खो बैठता है । कभी डूबने वाला तो बच जाता है, किन्तु बचाने वाला डूब जाता है । जो डूबने वाले को भी तथा स्वयं को भी बचा ले जाये, वही गुरु है ।

प्रश्न– महाराज जी, मैंने इसीलिए बार-बार अपनी अयोग्यता का विषय आप के सामने निवेदन किया था ।

महाराजश्री– किन्तु गुरु शिष्य को किस मार्ग से ले जाना उचित समझते हैं, यह गुरु पर ही आधारित है । शिष्य का कल्याण किसमें है, तथा उसके किस विकार की क्या औषधि है, यह शिष्य स्वयं नहीं समझ पाता । इसलिए शिष्य के समक्ष समर्पण ही एक मार्ग है । शिष्य का अन्तर्गुरु सर्वज्ञानमय, सर्वशक्तिमान् है, इसलिए उसे घबराने की आवश्यकता नहीं । घबराहट का कारण समर्पण का अभाव है । जब किसी डूबते-बहते व्यक्तिं के पास कहीं से तैरता हुआ एक शहतीर आ जाता है, तो उसका आश्रय ग्रहण करने में ही डूबते हुए व्यक्ति का कल्याण है । उस समय अपनी योग्यता–अयोग्यता का विचार अवांछनीय है । हमारे पास इस कार्य के लिए अन्य व्यक्ति भी उपलब्ध थे, किन्तु तुम्हें ही इसके लिये क्यों चुना गया है, यह सोचना तुम्हारा काम नहीं है । तुम्हें जो कहा गया है, वैसा करना कर्त्तव्य है । फिर चाहे कितनी भी कठिनाइयाँ आएँ, कितना भी अपमानित होना पड़े, कितना भी यश-अपयश फैले, सब तुम्हारे साधन के ही अंग होंगे । यदि तुम्हारा समर्पण का भाव बना रहा तो अवश्य ही मनोरथ सिद्धि का सेहरा एक दिन तुम्हारे सिर बँध जायगा, फिर जगत चाहे इस सेहरे को देख पाए या नहीं, अत: अयोग्यता के बारे में नहीं, जगत के विषय में विचार करो ।

प्रश्न– जब शिष्य को गुरु के आदेश के अनुसार ही चलना है तो शिष्य के हाथ में क्या रहा ?

महाराजश्री– गुरु सड़क तैयार कर देता है, शिष्य किस गति से गाड़ी चलाए, कहाँ रोके, कहाँ मोड़े इत्यादि बातों में कुशल ड्राईवर की भाँति शिष्य स्वतंत्र है, किन्तु सड़क नहीं छोड़ सकता । तुम अभी सड़क छोड़ गए थे । तुम्हारी गाड़ी पटड़ी से उतर गई थी ।

प्रश्न– किन्तु समर्पण का भाव शिष्य के लिए है, आप उसे गुरु के लिए आवश्यक बतला रहे हैं । गुरु किस को समर्पण करे ?

महाराजश्री– अपने गुरु को । गुरु भी किसी का शिष्य होता है । वह भी साधक है । इस रूप में उसके लिए भी समर्पण आवश्यक है । यदि उसका गुरु उससे, गुरु कार्य, सेवा के रूप में लेना चाहता है तो वह इनकार नहीं कर सकता । सेवा का भाव उसे अभिमान से बचाए रखता है ।

प्रश्न– समर्पण तथा गुरु कार्य एक साथ !

महाराजश्री– इसमें आश्चर्य की क्या बात है ? कोई व्यक्ति यदि किसी का पिता है तो किसी का पुत्र भी है । उसे दोनों उत्तरदायित्व एक साथ निभाने होते हैं । एक ओर पिता की आज्ञा का पालन, दूसरी ओर पुत्र के प्रति स्नेह । दोनों भावों तथा कर्त्तव्यों में सामंजस्य ही कर्म-कुशलता है ।

मैं गहरी सोच में डूब गया । अब तक तो समर्पण का मन में अभिमान पाले बैठा था, अब पता चला कि समर्पण कर पाना इतना सरल नहीं है । जब तक मन में अभिमान या कोई भी अन्य विकार है, तब तक समर्पण अधूरा है । कोई विरला भाग्यशाली ही कर पाता है । अधिकांश लोग केवल बातों तक ही सीमित रह जाते हैं ।

मैंने कहा, "समर्पण युक्त सेवा कोई विरला ही कर पाता होगा !"

महाराजश्री– देवास में एक महापुरुष शीलनाथ महाराज हो गए हैं । नाम सुना है क्या ?

मैंने ने कहा, "नाम भी सुना है तथा समाधि के दर्शन भी किए हैं ।"

महाराजश्री– वह कहा करते थे कि सेवक वही है जो अधीन रह कर सेवा करे । जब तक शिष्य गुरु के शरणागत नहीं होगा तब तक उसकी सेवा में अभिमान बना रहेगा । इसलिए प्रथम शरणागति फिर सेवा । कैसा स्पष्ट मंतव्य है । वह कहा करते थे कि ज्ञानेन्द्रियों का कार्य जगत का ज्ञान संचय है, उन्हें अपना कार्य करने दो । साधक को जो ग्रहण करना होगा, करेगा । मन में जो भाव रखना है, बनाए रखेगा । उसका मन इन्द्रियों के अधीन नहीं होता । तभी समर्पणयुक्त सेवा संभव हो पाती है ।

फिर शीलनाथ महाराज कहते थे कि वैराग्यवान् होकर ही सेवा हो सकती है । जो वैराग्य कभी उदय हो जाए, कभी विलीन हो जाए वह वैराग्य है ही नहीं । जो वैराग्य एक बार आकर कभी जाए ही नहीं, वही वैराग्य है । जिसके मन में वैराग्य नहीं होगा, उसके मन में कामना होगी । कामनायुक्त मन सेवक भाव कैसे निभा सकता है ?

शीलनाथ महाराज यह भी समझाते थे कि सेवा करते हुए मन में यह अभिमान रखना कि मैं तो सेवा करता हूँ तथा जो नहीं करते, उनसे विशेष हूँ, अच्छा नहीं है । ऐसा भाव सेवा को शून्य कर देता है तथा मन की मलीनता का कारण है, जिससे जीव को अधिकाधिक

जगत में धकेला जाता है । कैसी विचित्र लीला है ! कुछ करो तो करने का अभिमान । कुछ नहीं करो तो नहीं करने का अभिमान । दूसरा कुछ करे तो उससे द्वेष, नहीं कुछ करे तो घृणा । यह सब माया के ही रंग है ।

प्रश्न– आप ने क्या शीलनाथ महाराज के दर्शन किए हैं ?

महाराजश्री– नहीं मेरे यहाँ आने से पूर्व ही वह ब्रह्मलीन हो चुके थे ।

प्रश्न– आपको उनका कुछ अनुभव हुआ ?

महाराजश्री– जब मैं धूनी संस्थान पर रहता था, उस समय एक दिन धूनी के पास बैठे हुए दिखाई दिए । बोले कुछ नहीं ।

प्रश्न– क्या उनके बारे में और कुछ बताएँगे ?

महाराजश्री– हम, अब तो वापिस आ गए हैं । वह रहा सामने ही आश्रम का फाटक । आश्रम पर चल कर ही बात करेंगे ।

(१४) शीलनाथ महाराज

आश्रम पर जा कर हम वराण्डे में बैठ गए । चार छः अन्य लोग भी आ गए थे । महाराजश्री शीलनाथ महाराज के बारे में बात कर रहे थे–

महाराजश्री– वैज्ञानिक दृष्टिसंपन्न लोग चाहे आध्यात्मिक उपलब्धियों पर विश्वास न करते हों, पर जिसको यह लगन लगी हो तथा जिसकी अध्यात्म में कुछ प्रस्थिति हो चुकी हो, वही इस आनन्द को समझ सकता है । शीलनाथ महाराज ऐसे अनुभव-सिद्ध योगी थे, जो तत्व सागर में काफी गहरे उतर चुके थे । बचपन से लेकर ब्रह्मलीन होने पर्यन्त, उनके जीवन का प्रत्येक क्षण आध्यात्मिकता को ही समर्पित था । जयपुर के राजघराने से उनका परिवार संबंधित था किन्तु उन्होंने छोटी आयु में ही नाथ सम्प्रदाय में दीक्षा ग्रहण कर ली एवं अधिकांश समय एकान्त में ही रहकर जीवन बिताया । केवल कौपीन धारण कर, पहले भारत के विभिन्न प्रदेशों का देशाटन किया एवं तत्पश्चात् ईरान, अफगानिस्तान तथा चीन में भ्रमण शील रहे । आप जहाँ भी जाते थे, प्राय: वन प्रदेश में ही आप का निवास रहता था ।

प्रश्न– क्या शीलनाथ महाराज ने गृहस्थ नहीं किया ?

महाराजश्री– नहीं । वह इस प्रपंच में पड़े ही नहीं ।

प्रश्न– क्या गृहस्थ प्रपंच है ? क्या गृहस्थी महात्मा नहीं हो सकता ?

महाराजश्री– हो सकता है । तुकाराम, नामदेव, नरसी मेहता, कबीर सभी गृहस्थी थे किन्तु उन्होंने त्यागमय गृहस्थ का भोग किया । उनका गृहस्थ प्रपंच नहीं था, साधन का अंग था । शीलनाथ महाराज कबीर के बहुत भक्त थे ।

प्रश्न– उनका साधन क्या था ?

महाराजश्री– वैसे तो साधन के कई पक्ष (अंग) होते हैं, किन्तु मुख्यत: वह नादयोगी थे । शक्ति जाग्रति तो आवश्यक है ही । नाद के साथ अन्य क्रियाएँ तथा अनुभव भी होते हैं । अकल्पिता सिद्धियाँ भी प्रकट होती हैं ।

प्रश्न– क्या शीलनाथ महाराज को भी मन से लड़ना पड़ा ?

महाराजश्री– ऐसा उल्लेख कहीं पढ़ने-सुनने में नहीं आया । सभी उनकी उपलब्धियों तथा सफलताओं की ही बात करते हैं । साधना में उन्होंने किस प्रकार संघर्ष किया, मन को समझाने में क्या-क्या कठिनाइयाँ आईं तथा उन्होंने उन्हें किस साहस और युक्ति से पार किया, इसका कहीं वर्णन नहीं मिलता । मन ने किस-किस को परेशान नहीं किया ! यदि महापुरुषों के जीवन–उत्थान के इस पक्ष पर भी कुछ प्रकाश डाला जाये तो साधकों के लिए यह कहीं अधिक लाभकारी है । शीलनाथ महाराज ने अध्यात्म गगन में उन्मुक्त विहार किया, किन्तु वह किस प्रकार उठे ? आन्तरिक तथा बाह्य शत्रुओं ने किस प्रकार उनका मार्ग अवरुद्ध करने की चेष्टा की, किस प्रकार उन्होंने उन पर विजय पाई, कहाँ-कहाँ तथा कैसे उन्हें सहायता प्राप्त हुई, यदि इसका भी कुछ विवरण उपलब्ध हो जाता, तो शीलनाथ महाराज का जीवन अधिक क्रियात्मक आदर्श बन सकता था ।

साधक प्राय: मन पर विजय प्राप्त करने के लिए, विचारों-विकारों को दबाने का प्रयत्न करते हैं । मन से सीधी लड़ाई लड़ कर जीत पाना कठिन है । यदि कोई अवलम्बन प्राप्त हो जाय तो उसपर मन स्थिर करने से, धीरे-धीरे वश में आ सकता है । उन्हें ईश्वर कृपा से नाद का अवलम्बन प्राप्त हो गया था । वह नाद पर ही मन को स्थिर करने में लगे रहे । परिणामत: उनका मन भी शान्त होता गया तथा कई प्रकार की अकल्पिता सिद्धियाँ भी प्राप्त हो गईं । शीलनाथ महाराज ने स्वयं अपनी सिद्धियों का वर्णन कभी नहीं किया, किन्तु उनके बारे में कई प्रकार की जनश्रुतियाँ उपलब्ध हैं ।

शीलनाथ महाराज मनोनिग्रह के लिए इन्द्रिय-निग्रह आवश्यक मानते थे । साधना को करनी तथा जगत् व्यवहार को रहनी कहते थे । जब तक करनी तथा रहनी में परस्पर सामंजस्य नहीं हो, तब तक योग-सिद्धि कठिन है । मन तो चंचल है ही, किन्तु ज्ञानेद्रियाँ जगत-विषयों के संपर्क में होने से, उसे और भी अधिक चंचल बना देती हैं । मन की स्थिरता अध्यात्म उन्नति का मार्ग खोल देती है । डावाँडोल मन जगत में ही भ्रमित बना रहता है । मन के संयम के पश्चात् ही सिद्धियों का प्रकटीकरण आरंभ होता है । शीलनाथ महाराज का कहना था, कि संसार में खाना-पीना तो करो किन्तु धापना (खपना) नहीं । लोट-पोट होना किन्तु अधिक सोना नहीं । बोलना-चालना किन्तु अधिक बकवास नहीं करना । अधिक खपने, सोने या खाने वाले का योग सिद्ध नहीं होता ।

प्रश्न– शीलनाथ महाराज देवास में कब आए ?

महाराजश्री– लगभग सन् १९०० में वह प्रथमबार देवास आए। पहले उनका देवास में आना-जाना बना रहा। अन्ततः मल्हार आश्रम में टिक गए। यह सन् १९०२ की बात है। वहाँ उनके आस-पास विशाल आश्रम, धन वैभव तथा भक्त मंडली का विस्तार हो गया।

प्रश्न– यह तो बड़ी विचित्र बात है ! जिसका सारा जीवन जंगलों में एकान्तवास तथा साधना में व्यतीत हुआ हो, उसके आस-पास इतना विस्तार ?

महाराजश्री– यही प्रश्न किसी ने शीलनाथ महाराज से किया था। उन्होंने उत्तर दिया कि वह साधनावस्था थी। जब तक तनिक भी जगत् मन को प्रभावित कर सकता है, तब तक जगत से दूर रहना तथा मन को साधना में लगाना। अब आनन्दावस्था है। जगत का प्रभाव समाप्त हो गया है। मेरे पास कितना विस्तार है, परन्तु किसी बात से कोई लगाव नहीं। कुछ आए या जाए, दोनों एक समान हैं। यही कारण है कि जब उनका समय समीप आया, तो सब कुछ त्यागकर केवल एक कौपीन धारण किए ही देवास को छोड़कर चल दिए, तथा ऋषिकेश जाकर गंगा किनारे शरीर त्याग दिया। कोई १९ वर्ष मल्हार आश्रम पर निवास किया। उनके उपदेश बड़े सीधे, सच्चे तथा ठीक—ठिकाने पर मार करने वाले थे—

* तुझे किसी में अवगुण देखने के लिए दूर जाने की क्या आवश्यकता है ? तेरे अपने अन्दर क्या कम अवगुण हैं !

* जब कोई बात अपने मन से हट जाती है तो उसे छोड़ पाना कठिन नहीं। जब तक मन ने कोई बात पकड़ रखी है, तब तक छोड़ने का कितना भी प्रयत्न करो, नहीं छूटती। कोई व्याधि होने पर खाने का मन नहीं होता, किन्तु मन से खाना छूटता नहीं। व्याधि दूर होते ही फिर खाने लगते हैं। यही हाल विषयों का भी है। यदि मन में इतना सा विचार भी बना रहे कि विषय छूट गया है, तो कभी न कभी विषय पुनः आ धमकता है, इसलिए विषय छूटने के साथ-साथ, विषय छूटने का विचार भी छूट जाना चाहिए। तभी समझो कि विषय छूट गया।

* जो स्वयं ज्ञान को प्रत्यक्ष अनुभव करता है, तथा शिष्य को प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करवा देने की क्षमता रखता है, वही सच्चा गुरु है। दुःखों से घबरा नहीं जाना, दुःख आए तो शान्त मन से उन्हें सहन करना। आपके घबराने से दुःख चला नहीं जाएगा। जो होना है वह तो होगा ही, फिर मन हलका क्यों करना ?

* एक दिन यह संसार सदैव के लिए त्याग कर चले जाना निश्चित है, फिर निर्भय होकर जगत त्याग करने के लिए क्यों न हरदम तैयार रहा जाए ? मौत को प्रसन्नतापूर्वक गले लगाने के लिए अपना मन निर्मित करो। मृत्यु घर बदलने के समान है।

✻ साधक के मन में यदि आसक्ति का अंकुर एक बार फूट निकला, फिर पता नहीं कब तक जगत् में गोते खाता रहेगा । जगत में किसी के आश्रित होकर जीवन यापन नहीं करना । भगवान या अपने अन्तरात्मा का आश्रय ही सच्चा आश्रय है, जो कभी भी धोखा नहीं देता ।

✻ सत् शिष्य को गुरु का एक संकेत ही पर्याप्त होता है । एक संकेत ही जीवन की धारा बदल देता है । एक संकेत ही पार लगा देता है । जो गुरु के संकेत को समझ कर ग्रहण नहीं करता, वही असत् शिष्य है ।

✻ मन की कल्पना ही चिन्ता का कारण है । कल्पना हटी कि चिन्ता गई । कल्पना ही संसार है । कल्पना से ही जगत् की समस्याएँ हैं । कल्पना से ही समस्याएँ महत्वपूर्ण बनती हैं । कल्पना मिटते ही चिन्ता भाग जाती है । अपने व्यवहार में से अनावश्यक कल्पना का अंश निकाल दो ।

✻ सत्य कहने से पहले सत्य को अनुभव करो । जब तक सत्य का अनुभव न हो, तब तक सब थोथी बकवास है । लोग युक्ति तथा तर्क का सहारा लेकर वाद-विवाद में उलझे रहते हैं । जैसा सत्य है, वैसा नहीं बोलते ।

✻ मनुष्य शारीरिक या मानसिक रूप में जहाँ भी जाता है, वहीं आसक्त हो जाता है । यह आसक्ति ही बंधन है । मन में आसक्ति आई कि उलझ गया । कहीं भी जाकर भ्रमित नहीं होना जाना ।

✻ दूर-समीप, दृश्य-अदृश्य, ऊपर-नीचे ज़हाँ तक भी सृष्टि का विस्तार है, मन सबमें रमा हुआ है । इसको खींचकर, सृष्टि से बाहर निकालना ही नित्य तथा अनित्य का विवेक है, यही वैराग्य है, यही मार्ग है । यदि कोई साधक मन को सृष्टि में से खींचने में प्रवृत्त हो जाए तो वह पाएगा कि मन तो कण-कण में ओत-प्रोत हो के बैठा है । धर्म-अधर्म अथवा उचित-अनुचित का उसे कोई विवेक है ही नहीं । अंधाधुंध विषयों के पीछे भागता फिरता है । यदि कोई शुभारंभ का विवेक जगाकर मन को जलाने के पीछे ही लग जाए, तो यह मन सिद्धियों के प्रकटीकरण का कारण बन जाता है । तब अनायास ही अकल्पिता सिद्धियाँ साधक के पीछे भागती हैं । मन को पल-पल सभी प्रकार से दबा कर रखना चाहिए, अन्यथा यह जीव को भरमा कर लूटता रहता है ।

शीलनाथ महाराज के जीवन में अनेकानेक ज्ञानदायक एवं मार्ग दर्शक प्रसंग देखने को मिलते हैं । आप ग्वालियर में ठहरे हुए थे कि एक जर्मन विद्वान आपके पास आया । वह संस्कृत तथा हिन्दी भाषा का भी कुछ ज्ञान रखता था । आकर योग विषयक बड़ी-बड़ी बातें करने लगा । आप काफी देर सुनते रहे, फिर बोले," तुम्हें कुछ अनुभव भी है या केवल

पढ़ी-पढ़ाई बातें ही जमा रहे हो । शास्त्र दूसरों के अनुभव हैं । उसके ज्ञान पर अभिमान करना मिथ्या है । जब तक स्वयं नहीं उतरो, गहराई की अनुभूति नहीं होती ।"

.यह सुनकर उस जर्मन विद्वान को बुरा लगा, तथा वह उलटी-सीधी बातें करने लगा । इतने में उसके प्राणों का उत्थान आरंभ हो गया । सारा शरीर पसीना-पसीना हो गया । वह घबरा गया तथा उससे सहन नहीं हो सका । वह चिल्लाया कि उसे बाहर ले चलो । इस प्रकार शीलनाथ महाराज ने लोगों को शक्तिपात् का प्रत्यक्ष दर्शन कराया ।

दूसरे दिन वह जर्मन विद्वान फिर आया । अब सारी अकड़ टूट चुकी थी । अभिमान का स्थान श्रद्धा ने ले लिया था । आते ही पाँव पर गिर पड़ा, "महाराज ! मुझे क्षमा करें । कल वापिस जाने के पश्चात् मेरे प्राण पखेरू उड़ने ही वाले थे, किन्तु आपके स्मरण तथा ध्यान से सारा कष्ट दूर हो गया । मुझसे बड़ी भूल हुई जो आपके सामने अभिमान प्रदर्शन किया ।"

शीलनाथ महाराज ने कहा, "योग बातों का विषय नहीं, अनुभव होना चाहिए । जिन्होंने शास्त्र लिखे हैं, अनुभव कर के ही लिखे हैं । यह उनकी कमाई का परिणाम है, उनका धन है । उसी का बखान करते रहने से क्या लाभ ? अब शान्त चित्त तथा प्रसन्नतापूर्वक जाओ ।"

प्रश्न– क्या शीलनाथ महाराज भी शक्तिपात् करते थे ?

महाराजश्री– नाथ सम्प्रदाय तो शक्तिपात् का ही सम्प्रदाय है । इस विद्या का जितना उन्होंने विकास किया, अन्य किसी ने नहीं किया । उन्होंने शिष्यों की संख्या पर ध्यान नहीं देकर, उनके गुणात्मक उत्थान पर अधिक लक्ष्य रखा । साधक को प्रथम हठयोग तथा भक्ति-ज्ञान का अभ्यास कराते थे, बारह वर्ष तक भिक्षा मँगवाते थे, फिर शक्तिपात् करते थे । उनके साधक सिद्धि संपन्न होते थे ।

प्रश्न– कई लोग तो रास्ते से ही लौट जाते होंगे !

महाराजश्री– और कई लोग रास्ते में ही गिर जाते होंगे ।

(१५) वासना रूपी मानसिक बिल्ली

मैं महाराजश्री के साथ, उनकी कुटिया के सामने टहल रहा था, शिव-सूत्र पर चर्चा चल रही थी । सहसा एक बिल्ली, दूसरी का पीछा करती हुई हमारे पास से निकल गई । दोनों बिल्लियाँ रसोई घर की छत पर चढ़ गईं । एक बिल्ली ने दूसरी को मार दिया । उसकी लाश लुढ़कती हुई छत से नीचे आ गिरी ।

महाराजश्री– (दयार्द्र होकर) आज सारा संसार ही बिल्ली की मनोवृत्ति से ग्रसित है । कोई मारने के लिए भाग रहा है तो कोई जान बचाने के लिए । मारने वाले के मन में हिंसा का साम्राज्य है, तो जान बचाने वाले के मन में भय व्याप्त है । जो आज सब को मारता फिर रहा है वह अधिक बलशाली के सामने आ जाने पर भीगी बिल्ली बन जाता है । जो कभी

जान बचाता भाग रहा था, वह विकराल रूप धारण कर दूसरों को पीटने लगता है । जिससे आज हम डरते हैं, समय आने पर उसे आँखें दिखाने लगते हैं । हर मनुष्य अपने अन्तर में एक बिल्ली लिए बैठा है । कभी म्याऊँ करती है तो कभी जान बचाकर भाग जाती है । चूहा बिल्ली का मन-पसंद भोजन है, पर जब उसकी अपनी जान पर आ बनती है, तो पेड़ पर चढ़ जाती है । जिस प्रकार बिल्ली खाद्य पदार्थ पर ताक लगाए बैठी रहती है, उसी प्रकार मनुष्य भी जहाँ अवसर पाता है, उचित-अनुचित का विचार किए बिना, झपट पड़ता है ।

प्रश्न– किन्तु मरने वाली भी तो बिल्ली ही थी !

महाराजश्री– यही तो मैं भी कह रहा हूँ कि वह भी बिल्ली ही थी । समय आने पर वह भी किसी के साथ ऐसा ही करती । यह दो स्वार्थमय वासनाओं के परस्पर टकरावों के समान है ।

प्रश्न– बिल्लियाँ आपस में प्यार से खेलती भी तो हैं !

महाराजश्री– जिसे तुम प्रेम (प्यार) कहते हो, वह प्राय: मोह होता है । वे अपने बच्चों से ही खेलती हैं । बच्चे भी जब तक छोटे होते हैं, तभी तक खेलते हैं ।

मनुष्य का स्वभाव पूर्णतया बिल्ली की तरह हो गया है । स्वार्थ, क्रोध, घात लगाना, परस्पर वैमनस्य, हिंसा आदि सभी पशु वृत्तियाँ । बिल्ली तो पशु है, किन्तु मनुष्य ने अपने विवेक को ताक पर रखकर, पशु-वृत्ति को अपना लिया है ।

प्रश्न– मानव के अन्दर की बिल्ली, संभवत: बाहरी बिल्ली से भी अधिक आक्रामक तथा घातक है । चंचल इतनी, कि अपने साथ मनुष्य के अंग-अंग को चंचल बना देती है । विषयों की भूख ऐसी प्रबल है, कि पेट भरने में ही नहीं आता । ऐसे में अन्तर की बिल्ली को बाहर कैसे निकाला जाए ?

महाराजश्री– सर्वप्रथम तो मनुष्य को यह आभास होना चाहिए कि उसके अन्दर भी कोई बिल्ली है । वह बाहर की बिल्ली को देखकर घृणा करता है, किन्तु अन्दर की बिल्ली का सेवक बना, प्रत्येक आज्ञा का पालन करता है । उसके इशारे पर उठता, बैठता है । अन्दर की बिल्ली का आभास हो जाने पर ही साधना तथा साधन का मार्ग खुलता है ।

अन्तर में बिल्ली, वासना का रूप धरे, आसन जमाए बैठी है । वासना चित्त में उदय होती है, बिल्ली की तरह, दबे पाँव मन में प्रवेश कर जाती है तथा जगत के विषयों पर एकदम झपट पड़ती है । उसकी झपट में मन अपनी सुध-बुध खो बैठता है । विषयों के पीछे पगला जाता है । मन की यही स्थिति जन्म-जन्मान्तर से चली आ रही है । वासना रूपी बिल्ली ने मन को क्या-क्या खेल नहीं खिलाया । उठाया, गिराया, पटकाया, फिर उठाया, फिर गिराया । जीव बिल्ली के पंजों के वार सहन करता रहा । उसके दाँत शरीर में गड़ते रहे, किन्तु बिल्ली का पीछा नहीं छूट पाया ।

आज प्राय: सभी चेहरों के माध्यम से बिल्ली की वासना तथा स्वार्थमय आँखें ही बाहर झाँक रही हैं । मन में विचारों के रूप में बिल्ली की उछल कूद मची है । हृदय के भाव वासना रूपी बिल्ली से प्रभावित हैं । संसार एक ऐसे जंगल के समान बन गया है जिसमें सर्वत्र बिल्लियाँ ही घूमती-फिरती हैं । यदि एक बिल्ली मरती है, तो दो नई जन्म ले लेती हैं । दूल्हे के रूप में बिल्ली ही घोड़ी पर बैठती है, तथा बिल्ली ही दुल्हन के रूप में सजती सँवरती है, बिल्ली ही संतान रूप में जन्म लेती है । कला, विज्ञान, खेल या व्यापार सब ओर बिल्लियों की ही धूम है ।

ऐसा लगता है कि आन्तरिक बिल्ली ने काल पर विजय पा ली है। लोग जन्मते-मरते हैं पर बिल्ली सदैव बनी रहती है, जैसे उसने अमरत्व प्राप्त कर लिया हो । न बूढ़ी होती है, न व्याधि ग्रसित ही । हर समय युवा, तरोताजा, झपट पड़ने के लिए तैयार ।स्त्री, पुरुष, अमीर-गरीब, किसी भी सम्प्रदाय का अनुयायी, कलाकार, विद्वान् अथवा पहलवान हो, बिल्ली प्रत्येक के मन में प्रभावी है ।

आन्तरिक बिल्ली देश की सीमाओं से भी मुक्त है । कोई एक देश से दूसरे देश में जाए तो उसे पासपोर्ट-वीज़ा लेना पड़ता है, किन्तु बिल्ली उस मनुष्य के साथ ही, बिना किसी पासपोर्ट-वीज़ा, प्रवेश कर जाती है । बिना टिकट ही ट्रेन, हवाई जहाज या बस में यात्रा करती है । कोई घर में हो या बाहर, एकान्त में हो या जन-समूह में, वह कहीं भी मनुष्य का साथ नहीं छोड़ती ।

प्रश्न– जगत में युद्धों का कारण भी आन्तरिक बिल्ली ही है !

महाराजश्री– युद्ध हो या लड़ाई-झगड़ा, कारण यही बिल्ली है तथा लड़ती भी आन्तरिक बिल्लियाँ ही हैं । मानों यह बिल्ली शान्ति की शत्रु हो । मन में शंका पैदा करना, प्रतिशोध की भावना को उभारना, फिर एक को दूसरे से टकरा देना आन्तरिक बिल्ली की ही कारस्तानियाँ हैं ।

प्रश्न– तो क्या वासना रूपी बिल्ली रावण की वंशज है, जो कभी मरती नहीं ! भगवान राम उसका एक सिर काटते थे, तो एक नया आ जाता था ।

महाराजश्री– वंशज क्या ? वह रावण ही है । कहते हैं कि भगवान राम ने रावण का वध कर दिया, किन्तु वासना रूपी बिल्ली के रूप में रावण आज भी संसार पर राज कर रहा है । रावण केवल लंका पर राज्य करता था, पर आज सारा संसार ही लंका बना हुआ है ।

प्रश्न– वासना रूपी बिल्ली मन के अन्दर ही कार्य करती है या बाहर जगत में भी उसका कुछ प्रसार है ?

महाराजश्री– उछल-कूद तो अन्तर में ही करती है किन्तु उसका प्रभाव जगत में भी देखा जाता है । जगत की सारी घटनाएँ उसी की करतूतें हैं । प्रत्येक कार्य में वही कारण है ।

खेल मन में खेला जाता है पर उसका प्रतिबिम्ब बाहर देखा जा सकता है । यदि कोई बाहर गिरता है तो पहले मन में गिरता है । एक बिल्ली ने दूसरी को मारा, तो मारने का भाव पहले मन में उदय हुआ ।

प्रश्न– तो क्या ऐसा नहीं हो सकता कि वासना रूपी बिल्ली को मारने के लिए किसी दूसरी बिल्ली को खड़ा कर दिया जाय ?

महाराजश्री– हो सकता है । हमारे अन्तर में वास्तव में ही, शुभ वासना तथा अशुभ वासना के रूप में, दो बिल्लियाँ हैं, इन्हीं को देव तथा असुर वासनाएँ कहा जाता है । शुभ वासना रूपी बिल्ली बहुत कमजोर हैं । मन पर अशुभ वासना का ही आधिपत्य है । हर पल उसके उपद्रव घटित होते रहते हैं। उसे मारने के लिए शुभवासना रूपी बिल्ली को खिला-पिला कर हृष्ट-पुष्ट करना होगा, जिसके लिए शुभ कर्मानुष्ठान की आवश्यकता है, ताकि अन्तर में शुभ संस्कार संचित होकर, शुभ वासना उदय हो सके तथा अशुभ वासना रूपी बिल्ली का संहार कर सके ।

प्रश्न– शुभ वासना भी तो बिल्ली ही है, कभी भी अशुभ वासना का रूप ग्रहण कर सकती है । क्या उसका भी संहार करना होगा ?

महाराजश्री– जब तक अशुभ वासना का अस्तित्व है, तभी तक शुभ वासना के अशुभ हो जाने की संभावना है । जब अशुभ वासना समाप्त हो जाती है तथा केवल शुभवासना ही शेष रह जाती है, तो उस बिल्ली को मारने की आवश्यकता नहीं, वह अपने आप मर जाती है ।

प्रश्न– इन दोनों बिल्लियों की लड़ाई में अन्तर जाग्रत शक्ति भी कुछ भूमिका निभाती है क्या ?

महाराजश्री– हाँ, वह क्रियाओं के माध्यम से संचित संस्कारों को क्षीण कर के, वासना रूपी बिल्ली की मारक क्षमता को कम करती जाती है ।

प्रश्न– तो शुभ वासना का कार्य अशुभ वासना को समाप्त करना है !

महाराजश्री– काँटे से ही तो काँटा निकाला जाता है । काँटा निकल जाने के पश्चात् दूसरे काँटे को पकड़ने रखने का कोई अर्थ नहीं । यही हाल इन बिल्लियों के आपसी युद्ध का भी है । एक वासना पीड़ादायक है, क्लिष्ट है । दूसरी वासना क्लिष्ट को अक्लिष्ट में बदल देती है तथा स्वयं विलीन हो जाती है ।

प्रश्न– क्या यह आन्तरिक युद्ध सब के अन्दर चलता है ?

महाराजश्री– यही तो विडम्बना है । सामान्य संसारी जीवों में शुभवासना रूपी बिल्ली बहुत अशक्त होती है तथा चित्त के किसी कोने में दुबकी पड़ी रहती है । उसमें अशुभ

वासना के सामने आकर युद्ध करने का साहस तथा क्षमता होती ही नहीं । अशुभ वासना का उन्मुक्त ताण्डव ही चला करता है । चित्तरूपी हस्तिनापुर कौरवों के आधिपत्य में होता है । यदि भगवान कृष्ण भी आकर उन्हें समझाने की चेष्टा करते है तो उन्हें भी बंदी बनाने को उद्यत हो जाते हैं । शुभ कर्म, गुरुकृपा तथा समर्पण ही वह मार्ग है जिस पर चलते हुए वासना रूपी बिल्ली पर विजय प्राप्त की जा सकती है । तब तक वह इसी प्रकार दनदनाती रहेगी ।

नारायण कुटी में, रसोई घर के एक कोने पर, एक कुँआ हुआ करता था, जिसे भरकर अब भूमि को समतल कर दिया गया है । वर्षा का मौसम था । कुएँ में पानी खूब था, फिर भी जमीन से कोई पन्द्रह फुट नीचे तक होगा । रात को पता नहीं कैसे कुतिया का एक पिल्ला कुएँ में गिर गया था । कब गिरा ? कैसे गिरा ? यह भी पता नहीं । प्रातः काल जब चाय लेने के लिए सब लोग रसोई घर में गए, तो कुएँ में से पिल्ले की निरन्तर आती हुई टियाऊँ-टियाऊँ की आवाज से पता चला । झाँक कर देखा तो पिल्ला पानी में तैर रहा था । सुनकर महाराजश्री भी कुएँ पर आ गए । एक टोकरी में बड़ा-सा पत्थर रखा गया ताकि वह पानी में थोड़ी उतर जाए । उसे एक रस्सी से बाँध कर कुएँ में लटकाया गया । पिल्ले को बाहर निकाला गया । उसे चाय पिलाई गई तथा एक बोरी में ढककर सुला दिया गया ।

महाराजश्री– यही सामान्य जीव का जीवन है । कोई संकट आ जाए तो रोना, चिल्लाना, गिड़गिड़ाना । संकट निकल जाए तो आराम से सो जाना । पता नहीं कितने घण्टे टियाऊँ-टियाऊँ करते रहने के पश्चात् अब कैसा सुख से सो रहा है ? जब सोने का समय था तब इसकी जान पर बनी थी । संकट टला कि निद्रा ने आ घेरा । इसी प्रकार जीव का जीवन बीत जाता है ।

प्रश्न– क्या बिल्ली की भाँति कुत्ते का भी जीव के अन्तर में कोई स्वरूप है ?

महाराजश्री– बिल्ली पशुत्व की प्रतीक है, वही प्रतीक अपना स्वरूप बदलता रहता है । कई बार बिल्ली कुत्ता बनकर भौंकने लगती है । कभी मन को पक्षी का रूप प्रदान कर, विचार-गगन में उड़ती फिरती है, तो कभी विचार में इतनी तल्लीन हो जाती है कि मछली बनकर जल में गहरे उतर जाती है । यही वासना रूपी बिल्ली के विभिन्न स्वरूप हैं ।

प्रश्न– किन्तु बिल्ली तथा कुत्ते के स्वभाव में बड़ा अन्तर है ! कुत्ता स्वामी-भक्त होता है ।

महाराजश्री– किन्तु है तो पशु ही । पशुत्व में कब कैसा भाव उदय हो जाय, कौन जाने ? जिस मनुष्य में पशुत्व होता है, उसकी चित्त-स्थिति सदैव बदलती रहती है । कभी स्वामी भक्ति का भाव उभर आता है, तो अगले ही क्षण घोर हिंसक वृत्ति । मनुष्य पशुत्व के धरातल तक नीचे उतर गया है । अन्तर की बिल्ली कुत्ता बनकर, मुँह उठाए, दर-दर घूमती रहती है । कभी शेर बन जाती है तो कभी दुम दबा लेती है ।

प्रश्न– परन्तु शक्ति के अपशुत्व रूप में जाग्रत हो जाने पर भी पशुत्व क्यों बना रहता है ?

महाराजश्री– अपशुत्व जाग्रति का अर्थ है पशुत्व की समाप्ति का आरंभ ।पशुत्व मन में ऐसा गहरा धँसा है कि उसे उखाड़ फेंकने के लिये सतत् निरन्तर साधन की आवश्यकता है । किन्तु निरन्तरता, वह भी दीर्घ काल तक बना कर रख पाना साधक के लिये कोई सरल कार्य नहीं । इसलिये काफी लम्बे समय तक पशुत्व बना रहता है ।

प्रश्न– किन्तु धीरे-धीरे कम तो हो जाता होगा !

महाराजश्री– यह कोई आवश्यक नहीं । बहुत कुछ साधक पर आधारित है । उसका साधन, वैराग्य की अवस्था, शुभ कर्मानुष्ठान, कई बातें अपना महत्व रखती हैं । यदि साधन में उन्नति की गति अत्यन्त धीमी हो, तो उन्नति का पता भी नहीं चलता । तब जन्म-जन्मान्तर तक साधक आरंभिक अवस्था में ही झूलता—भटकता रहता है । वैसे भी किसी को घर से बाहर निकालना इतना आसान नहीं । मनुष्य का चित्त, वासना रूपी बिल्ली का घर बन चुका है ।

प्रश्न– जीव के लिए कितनी मुश्किल है ? निकलना चाहता है किन्तु निकल नहीं पाता ।

महाराजश्री– प्राय: जीव निकलने की सोचते ही नहीं । जो थोड़े से ऐसा सोचते हैं, उन्हीं के लिए मुश्किल है, क्योंकि वह अपने समक्ष एक लक्ष्य निर्धारित कर लेते हैं । लक्ष्य प्राप्ति के लिए कुछ त्याग भी करना पड़ता है । जीव प्राप्त तो करना चाहता है, किन्तु त्याग नहीं । यही सब से बड़ी मुश्किल है ।

मेरा लक्ष्य अन्तर की ओर मुड़ गया । वहाँ मुझे बिल्ली बैठी स्पष्ट दिखाई दे रही थी । न जाने कबसे मैं उसे अपने अन्दर पाले बैठा था । वह खा-खा कर अति बलवान बन चुकी थी । उसने पर्याप्त आक्रामकता धारण कर ली थी । उसका व्यवहार एक निरंकुश शासक की भाँति था । पंजों से नोचती तथा दाँतों से काटती थी । जब उसकी गतिविधियों पर ध्यान गया तो मैं बेचैन हो गया । मुझे अपने आप पर शर्म आने लगी । ऐसा लगने लगा कि अब तक पशुत्व को ही ढोता चला आ रहा था ।

(१६) मातमी चेहरा

एक सज्जन आश्रम में आए तो बड़े उदास थे । जैसे किसी का मातम करके आ रहे हों । बात भी करते थे तो बड़े अनमने से हो कर, जैसे मन कहीं और तन कहीं । महाराजश्री को तो जैसे-कैसे प्रणाम किया किन्तु अन्य किसी से राम-राम तक करने की औपचारिकता पूरी करने की आवश्यकता नहीं समझी । महाराजश्री यह सब बड़े ध्यान से देख रहे थे ।

महाराजश्री– आज क्या बात है बड़े मुरझाए हुए से हो ?

उत्तर– कोई खास बात नहीं है महाराज जी ।

महाराजश्री– किन्तु तुम्हारा चेहरा तो कुछ और ही कह रहा है, जैसे मरघट से सीधे यहाँ आ रहे हो !

उत्तर– ऐसे ही घर में थोड़ी बात हो गई थी ।

महाराजश्री– थोड़ी बात तो हर एक घर में होती ही रहती है । इस में मुँह लटकाने वाली तो कोई बात नहीं । ऐसा कौन सा घर है जिसमें थोड़ी बात न होती हो ! ऐसा मातमी चेहरा जगत में लेकर घूमते फिरोगे, तो सब जगह उदासी ही फैलाओगे । मनुष्य के हृदय का प्रतिबिम्ब उसके चेहरे पर दिखाई दे जाता है तथा उसके चेहरे की उदासी आस-पास के सारे वातावरण को प्रभावित करती रहती है । जगत को उदास तथा दुःखी करने का तुम्हें क्या अधिकार है ? होना तो यह चाहिए कि जगत में प्रसन्नता बाँटते रहो, किन्तु यदि प्रसन्नता नहीं बाँट सकते, तो कम से कम अप्रसन्नता तो नहीं बाँटो । यदि तुम्हारे घर में थोड़ी बात हो गई, तो इस में इन लोगों का तो कोई दोष नहीं । फिर इन निरपराधों में उदासी बाँट कर, इन्हें किस अपराध का दण्ड दे रहे हो ? कुछ तो न्याय करो ।

उत्तर– क्या करें महाराज जी ! हम संसारी जीव हैं, मन प्रभावित हो ही जाता है ।

महाराजश्री– यह तो तुम्हारे मन की दुर्बलता है । तुम साधक हो । तुम ने दीक्षा ग्रहण की है । संसारी जीव होने का बहाना बनाकर तुम छूट नहीं सकते । थोड़ी-बहुत बातचीत तो सब के साथ होती ही रहती है । इस प्रकार बात-बात में अपने मन को प्रभावित करके, अपने चेहरे को मातमी रंग में रँगते रहोगे, तो कैसे काम चलेगा ? साधक का मन ऐसा होना चाहिए, कि सर्वप्रथम तो प्रभाव ग्रहण ही नहीं करे । यदि करे भी तो थोड़े समय के लिए ही । घर का प्रभाव घर तक ही सीमित रखे । उस प्रभाव को लेकर इधर-उधर घूमने का कोई प्रयोजन नहीं । यदि ऐसी बात हो भी जाय, तो उसे हृदय में गहरे समेट लो तथा मुस्कराता हुआ चेहरा लेकर बाहर निकलो । तुम्हें देख कर दूसरे लोग भी मुस्करा उठें ।

प्रसन्न रहना वैसे तो सभी के लिए लाभकारी है किन्तु साधकों के लिए तो यह अनिवार्य है । जो साधक चित्त को प्रसन्न नहीं रख सकता वह साधन भी नहीं कर सकता । साधकों के लिए पहला प्रशिक्षण यही है कि हर हाल में प्रसन्न रहने का प्रयत्न करे । तभी उनका संस्कार संचय होने का मार्ग अवरुद्ध होगा जो कि आध्यात्मिक उन्नति के लिए प्रथम आवश्यकता है, अन्यथा मलीनता एकत्रित करते रहोगे ।

एक सज्जन– पर संसारियों के लिए यह कर पाना कठिन है ।

महाराजश्री– संसारी तथा विरक्त का वर्गीकरण मत करो । मन सब का एक जैसा है । अन्तर्विकार भी एक जैसे हैं । सबके सामने अपनी-अपनी कठिनाइयाँ हैं । यदि यह कठिन है तो सबके लिए एक समान कठिन है । यदि यह संभव है तो सबके लिए एक समान

संभव है । जिसने अपना लक्ष्य आध्यात्मिक उन्नति निर्धारित कर लिया हो, उसे यह किए बिना छुटकारा नहीं । जो प्रसन्न चित्त रहता है, उसके मन पर सुख-दुख प्रभाव नहीं डाल सकते ।

प्रश्न– क्या प्रसन्नता तथा गंभीरता का मेल हो सकता है ?

महाराजश्री– अवश्य हो सकता है । गंभीरता प्रसन्नता की विरोधी नहीं । इसीलिए गणेशजी का बड़ा पेट बनाया जाता है, जो गंभीरता का सूचक है, किन्तु उनके हाथ में मोदक है जो प्रसन्नता का द्योतक है । गंभीरता तथा प्रसन्नता एक साथ ।

प्रश्न– पर यह कैसे संभव है ? चेहरे पर या तो प्रसन्नता होगी, या गंभीरता ।

महाराजश्री– हो क्यों नहीं सकता ? क्या गंभीरता मिश्रित प्रसन्नता संभव नहीं हो सकती ? उदासी प्रसन्नता की विरोधिनी है । मैं तो यह कहूँगा कि जिस प्रकार साधक के लिए प्रसन्नता अनिवार्य है, उसी प्रकार गंभीरता भी । ये दोनों ही सुख-दुख को सहन करते हुए, मन की स्थिरता बनाए रखने के साधन हैं । इन दोनों के बिना यम-नियम सिद्धि संभव नहीं । ये दोनों साधन का आधार हैं । जिसके पास इन दोनों का धन है, उसका जीवन सुख में व्यतीत होता है । बाहर जाकर बगीचे में खिले फूलों को देखो । प्रसन्नता से खिल भी रहे हैं, तथा गंभीरता भी लिए हैं । आप का उचित-अनुचित व्यवहार उनको विचलित नहीं कर सकता । उनको यदि आप तोड़ भी लेंगे तो उसी प्रकार प्रसन्नता तथा गंभीरता बनाए रखेंगे ।

प्रश्न– किन्तु कुछ देर के पश्चात् मुरझा जाएँगे !

महाराजश्री– यह तो प्रकृति के नियमानुसार ही है । मनुष्य भी एक दिन मर जाता है,किन्तु जब तक जीवित है तभी तक उसके मन की अवस्था की बात है । मरने पर शरीर तथा मन का संबंध टूट जाता है ।

प्रश्न– महाराज जी ! ऐसा कैसे किया जाय जिस से मन अधिक देर तक किसी बात का प्रभाव ग्रहण नहीं करे ?

महाराजश्री– वैसे स्वाभाविक अवस्था साधन से संस्कार क्षय हो जाने के पश्चात् ही उदय होगी, किन्तु तब तक संयम तथा विवेक के द्वारा मन को नियंत्रित रखना पड़ेगा । इसके लिए भक्तों ने भगवान् के समक्ष रोने तथा प्रार्थना करने का मार्ग अपनाया है । किसी भी प्रकार मन काबू आना चाहिए ।

प्रश्न– प्रयत्न तो बहुत करते हैं पर किसी भी तरह मन काबू नहीं आता ।

महाराजश्री– प्रयत्न के सिवा दूसरा आप कुछ कर भी तो नहीं सकते । उदास मत बनो । प्रयत्न करते रहो । एक दिन अवश्य सफलता हाथ लगेगी । यह काम बड़े धीरज का है । प्रभु कृपा सबसे बड़ा सहारा है ।

चर्चा समाप्त हुई तो सब लोग अन्तर में कहीं गहरे खो गए । संभवतः सब यही सोच रहे थे कि कार्य ऐसा है कि किये बिना छुटकारा नहीं, किन्तु कर पाना इतना सरल भी नहीं । अपना लाख प्रयत्न करो किन्तु कृपा के बिना हो पाना असंभव है । चंचल मन में प्रसन्नता एवं गंभीरता कैसे टिक सकती है ? चंचलता तो मन को क्षण-क्षण भरमाए, नचाए तथा भगाए फिरती है । क्रोध तथा मोह अलग परेशान किए हुए हैं । अभिमान सारे विकारों का मुखिया बना बैठा है । ऐसी परिस्थितियों में यह सब कैसे हो पायगा ?

तभी महाराजश्री ने कहा, "घबराने की कोई बात नहीं । रास्ता कठिन तथा लम्बा अवश्य है, किन्तु मन में धीरज तथा साहस हो तो कुछ भी कर पाना मुश्किल नहीं है । जिन्होंने भी यह रास्ता पार किया है तथा कुछ पाया है, धैर्य उत्साह तथा प्रभु-कृपा से ही पाया है । प्रभु-कृपा अनन्त एवं असीम है, ईश्वर अतीव दयालु हैं तथा उनकी कृपा का भण्डार अखण्ड है । आप में कमी हो सकती है, दाता में कोई कमी नहीं है । प्रयत्न में लगे रहो । उसकी कृपा का आश्रय पकड़े रखो । एक दिन अवश्य ही सवेरा होगा । किनारा मिल ही जायगा । गंतव्य पर पहुँच ही जाओगे । अभी तो यह पहली मंजिल ही है । आप को अनेक मंजिलें पार करनी हैं ।"

मैं बाहर जाकर, बगीचे में, एक वृक्ष की छाया में बैठा, अपने हृदय को मथ रहा था, कि सहसा चित्त अतीत की स्मृतियों से उद्वेलित हो उठा । १९४७ में स्वतंत्रता के समय भारत विभाजन की कष्ट-दायक त्रासदी आँखों के सामने घूमने लगी थी । विभाजन रेखा के दोनों और कैसी मार-काट मची थी ? कल के पड़ोसी आज एक-दूसरे के खून के प्यासे हो रहे थे । माताएँ अपनी जान बचाने के लिए गोद के छोटे-बच्चों को बेसहारा पटक कर भागी जा रही थीं । सब तरफ मारो-काटो का ही शोर था ।

सोचते-सोचते मैं इन्हीं विचारों में तल्लीन होता गया । उस समय की परिस्थितियाँ मेरी आँखों के सामने सजीव चित्रित होकर उभरनें लगीं । यह ध्यान भी विलुप्त हो चुका था कि मैं नारायण कुटी में बैठा हूँ । विचारों की गहनता तथा तदाकार अवस्था ने मुझे बीस वर्ष पूर्व घटी घटनाओं में ले जाकर खड़ा कर दिया था । मुझे ऐसा अनुभव हो रहा था, 'लाहौर के रेलवे प्लेटफार्म पर हम कुछ लोग, भारत आने के लिये रेल गाड़ी में बैठने का प्रयत्न कर रहे हैं । तभी कुछ लोग छुरे लेकर हमारी ओर लपके । हम लोग जान बचाने के लिए प्लेटफार्म पर इधर-उधर भाग रहे हैं । तभी एक व्यक्ति ने मुझे छुरा घोंप दिया है । मैं प्लेटफार्म पर मरणासन्न अवस्था में पड़ा हूँ । दर्द से कराहता हुआ, खून में लथ-पथ । मृत्यु सामने आकर खड़ी हो गई है । मेरे प्राण पखेरू उड़ गए हैं । मैं अपनी लाश के पास खड़ा उसे देख रहा हूँ । एक कुत्ता कहीं से आ कर लाश को खाने लग गया है । यह तमाशा देखकर मैं हँस रहा हूँ ।'

कुछ समय के पश्चात् अनुभव का दृश्य बदल जाता है, 'मैं कुछ लोगों के साथ लकड़ी की एक बड़ी नौका में समुद्री यात्रा कर रहा हूँ । एक बड़ी व्हेल मछली नौका की ओर

बढ़ी आ रही है । सब लोग भयभीत हो गए हैं । मछली ने आ कर नाव को जोर से टक्कर मार दी है । सब लोग जल में गोते खा रहे हैं । मैं भी समुद्र में जा गिरा हूँ । व्हेल ने सभी व्यक्तियों को एक-एक कर निगलना आरंभ कर दिया । किन्तु यह क्या ? मैं एकदम छलाँग लगाकर व्हेल पर सवार हो गया हूँ । एकदम निर्भय, निर्द्वन्द्व । कैसा रोमांचकारी दृश्य है ? व्हेल की पीठ पर जल-विहार । मेरे सामने व्हेल व्यक्तियों को निगलती जा रही है, मैं आनन्द मना रहा हूँ ।'

नया दृश्य उपस्थित हो गया है, 'महाराजश्री के साथ हम कोई दस बारह व्यक्ति महाराष्ट्र में परली बैजनाथ के मंदिर में दर्शन के लिए गए हैं । खूब बड़ा देवस्थान है । महाराजश्री की ओर से रुद्राभिषेक हो रहा है । महाराजश्री आँखे बंद किए मंत्रोच्चार सुन रहे हैं । अभिषेक पूर्ण हो चुका है । तभी बाहर भीड़ का बड़ा भारी शोर सुनाई देता है । हजारों लोग बाहर महाराजश्री के दर्शनार्थ एकत्रित हैं । मन्द मुस्कान के साथ महाराजश्री सब का प्रणाम स्वीकार कर रहे हैं ।'

ध्यान की अवस्था में कैसे विचित्र दृश्य दिखाई देते हैं ! ऐसा कुछ घट जाता है जिसकी जीवन में कल्पना भी नहीं होती । देखने वालों की दृष्टि में मैं एक वृक्ष के नीचे बैठा था, किन्तु अन्तर में क्या कुछ प्रकट हो रहा था । ऐसे काम कर रहा था, जो मैं सोच भी नहीं सकता था ।

'पहाड़ के ऊपर हम दो जने उड़ते जा रहे हैं । नदियों, शिखरों, घाटियों तथा वनों को लाँघते हुए, एक अत्यन्त सुन्दर नगर में जा उतरे हैं । पहाड़ों में बसा यह नगर अति ही मनोहर तथा आकर्षक है । लोग रंग-बिरंगे कपड़े पहने घूमते नजर आ रहे हैं । हम एक आदमी से पूछते हैं कि नगर का नाम क्या है ? तो वह कहता है कि इसका कोई नाम नहीं है । नामकरण एक हजार वर्ष बाद किया जायगा ।'

मेरा ध्यान भंग हो चुका था । अन्तर्लोक का त्यागकर, भौतिक जगत में जाग्रत हो चुका था । देखा तो दो सज्जन मेरे पास बैठे थे । आस-पास दो-तीन गिलहरियाँ पेड़ों पर ऊपर-नीचे उछल-कूद कर रही थीं । जगत मुझे उथला-उथला सा दिखाई दे रहा था । अपने आपको भौतिक वातावरण में स्थिर करने में मुझे थोड़ा समय लग गया ।

महाराजश्री के कमरे में गया तो कुछ लिख रहे थे । लिखने का कार्य पूरा हुआ तो मेरी ओर देखकर बोले, "क्या बात है ? तुम ऐसे क्यों हो रहे हो ?" मैंने अभी के सभी अनुभव निवेदन किए, तथा पूछा, "यह सब क्या है ?"

महाराजश्री– यह ध्यान की अवस्था है । यह अवस्था दो तरह से आ सकती है । एक तो यदि दीर्घ काल तक किसी ध्येय पदार्थ पर चित्त एकाग्र करने का अभ्यास किया जाए तथा तदाकार अवस्था प्राप्त हो जाए । दूसरे, चित्त में संचित संस्कार उदय होकर साधक के

समक्ष बीती घटनाओं को अन्तर में प्रत्यक्ष कर दें तथा चित्त भी अनायास ही उन पर एकाग्र हो जाय ।

प्रश्न– किन्तु पहले अनुभव की घटना मेरे जीवन में कभी घटी ही नहीं ! ठीक है कि विभाजन के समय मारकाट के दृश्य बहुत देखे हैं किन्तु ऐसा कुछ मेरे साथ तो हुआ ही नहीं ! वैसे चारों ओर बिखरी पड़ी लाशें भी कई बार देखी हैं तथा कुत्तों को उन्हें खाते भी देखा है ।

महाराजश्री– ऐसे अनुभवों के लिए यह आवश्यक नहीं कि संस्कार एक ही जन्म के हों । इस जन्म के संस्कारों के साथ, पूर्व जन्मों के भी कई संस्कार मिल सकते हैं । सब मिल कर एक ही दृश्य में प्रकट होने लगते हैं । ऐसे अनुभवों की निरन्तरता में तारतम्यता भी हो सकती है तथा खण्ड-खण्ड भी हो सकते हैं । इसलिए यह आवश्यक नहीं कि इसी जन्म में सब कुछ घट चुका हो । विभाजन के समय की मार–काट के संस्कार इस जन्म के हैं, बाकी संस्कार न जाने कौन-कौन से जन्म के, किन्तु दोनों संस्कार मिल गए ।

अब देखो ! इस जन्म में तुम कभी हमारे साथ परली बैजनाथ नहीं गए । हम वहाँ अवश्य गए हैं तथा अभिषेक भी कराया है । हो सकता है यह बात कभी तुम्हें बताई भी हो । न ही कभी हजारों लोग वहाँ हमारे दर्शन को आए । हमने अनेक मंदिरों में तुम्हारे साथ जाकर अभिषेक कराया है । कई स्थानों पर कई लोग हमें मिलने भी आए । यह सब संस्कार मिलकर, एक मिश्रित दृश्य के रूप में तुम्हें दिखाई दिये जिसमें तुम्हारे पूर्व जन्मों के संस्कार भी मिल गए । इस प्रकार के अनुभवों का आधार संस्कार ही हैं, चाहे इस जन्म के हों या पिछले जन्मों के । यदि हम दीर्घ काल तक एकाग्रता का अभ्यास करते हैं तो उसके भी संस्कार संचित हो जाते हैं । वहीं संस्कार कालान्तर में एकाग्रता तथा इस प्रकार के अनुभवों का आधार बनते हैं ।

प्रश्न– अब तक तो यह सुनते आ रहा था कि संस्कार स्वप्न का आधार हैं !

महाराजश्री– स्वप्न तथा ध्यान दोनों का आधार संस्कार हैं । स्वप्न निद्रावस्था में उदय होता है, तथा ध्यानावस्था जाग्रतावस्था में प्रकट होती है । ध्यान में जो कुछ देखा जाता है, उसे अनुभूति कहा जाता है ।

प्रश्न– भौतिक जगत के अनुभवों को भी तो अनुभूति कहा जाता है !

महाराजश्री– यहाँ स्तर का अन्तर है, भौतिक जगत की अनुभूतियाँ तथा अन्तर्जगत की अनुभूतियाँ । भौतिक अनुभवों का आधार भी संस्कार ही हैं, किन्तु यह जिस परदे पर प्रकट होती हैं वह स्थूल तथा भौतिक होता है, जबकि ध्यान की अनुभूतियों में चित्त रूपी यह परदा अत्यन्त सूक्ष्म तथा आन्तरिक होता है ।

प्रश्न– यह दोनों प्रकार की अनुभूतियाँ क्या शक्ति की ही क्रियाएँ हैं ?

महाराजश्री– शक्ति की क्रिया के बिना किसी भी प्रकार की अनुभूति को लाओगे ही कहाँ से ? संस्कारों को उभारना एवं अनुभूति को प्रकट करना, शक्ति की ही क्रिया है। आधार आन्तरिक हो या बाह्य । भौतिक स्थूल जगत यदि आधार होता है तो अभिमान की संभावना अधिक होती है, जबकि आधार आन्तरिक होने पर द्रष्टाभाव प्रत्यक्ष होता है, इसलिये अभिमान की संभावना कम हो जाती है ।

तुम्हारे व्हेल मछली के अनुभव में यह स्पष्ट है कि यह तुम्हारे इस जन्म के संस्कारों का परिणाम नहीं है, किन्तु इसमें भी कई जन्मों के, कई प्रकार के संस्कार एकत्रित हैं । व्हेल का लोगों को निगलना तथा उसी समय व्हेल की पीठ पर सवार होकर आनन्द मग्न होना, इस बात की पुष्टि करता है कि मृत्यु सामने होने पर भी आनन्दित रहा जा सकता है । जगत के सुख-दुख केवल एक दृश्य की भाँति हैं । उनसे अपने मन को प्रभावित मत कर लो । थोड़ी देर पहले मातमी चेहरे के विषय में बात करते हुए यही तो समझा रहा था ।

मैं अपने कमरे में आ गया था । विचार प्रवाह की दिशा ने नया मोड़ ले लिया था कि महाराजश्री का वास्तविक स्वरूप क्या है । क्या वह जो कुर्सी पर बैठे, प्रवचन करते या चलते दिखाई देते हैं या वह जो कभी प्रसन्न होते या हँसते दिखते हैं, या कुछ और है ? ऐसा लगता है जैसे उन्होंने यह सब आवरण ओढ़ रखा है । उनका वास्तविक स्वरूप बहुत भिन्न है । अध्यात्म-पथ प्रशस्त करने के लिये साधक को अपना अन्तरात्मा उनसे जोड़ना आवश्यक है ।उनका वास्तविक स्वरूप प्रत्येक साधक में विद्यमान है, उसमें स्थित हुए बिना उनका पता नहीं चलता । तभी यथार्थ गुरु-शिष्य संबंध स्थापित होता है । अभी तक तो गुरु-शिष्य का संबंध केवल भौतिक शारीरिक स्तर तक ही सीमित रहता है, जो कि दोनों शरीरों के विलीन हो जाने के साथ ही एक दिन समाप्त हो जायगा । आन्तरिक संपर्क ही वास्तविक संबंध है, किन्तु यह मार्ग कामना युक्त मन प्राप्त नहीं कर सकता । जिसके अन्दर प्रभु की सच्ची लगन हो, वही इस मार्ग पर चल सकता है ।

उपयुक्त एकान्त देखकर मैंने महाराजश्री से चर्चा की, बोले, "तुमने बात को ठीक पकड़ा है । गुरु-शिष्य संबंध का वास्तविक स्वरूप तभी निखरता है, जब दोनों ओर से आन्तरिक संबंध स्थापित हो जाय । यह वह स्तर है जहाँ शिष्य, गुरु के चरणों में बँध जाता है । उससे पूर्व बाहर-बाहर का ही संबंध होता है, जिसमें कोई स्थायित्व नहीं होता । केवल दीक्षा ले लेना ही पर्याप्त नहीं है । शिष्य में गुरु शरीर के अन्दर प्रवेश की भी क्षमता होनी चाहिए ।

"गुरु शिष्य संबंध कोई भौतिक तो है नहीं, जिसे स्थूल आँखों से देखा जा सके । यह चेतन-शक्ति का चेतन-शक्ति से संबंध है, जिसे सूक्ष्म ज्ञान नेत्रों से अन्तर में ही अनुभव किया जा सकता है । वृत्ति जितनी जड़ जगत की ओर अधिक अभिमुख होगी, उतना ही चेतन-शक्ति से संबंध टूटता जाता है, जबकि गुरु चेतन-शक्ति का ही स्वरूप है ।

कबीर ने कहा कि शिष्य को गुरु-चरणों में लिपटे रहना चाहिए। प्राय: शिष्यों के गुरु तो होते हैं किन्तु उनका मन गुरु-चरणों में लिपटा नहीं होता। अभिमान लिए घूमते रहते हैं। अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व में स्थिर बने रहते हैं। अभिमान ही साधक को गुरु चरणों से दूर रखता है। अभिमान ही गुरु का वास्तविक स्वरूप सामने नहीं आने देता। ऐसा शिष्य अध्यात्म पथ के द्वार पर खड़ा होते हुए भी प्रवेश नहीं पा सकता।"

प्रश्न– अच्छा महाराज जी ! एक बात और बताइए, क्रियाओं के होने के लिए क्या कोई आधार आवश्यक है ?

महाराजश्री– (हँसते हुए) क्या परदे के बिना कोई चलचित्र देखा जा सकता है ? क्या मार्बल के बिना किसी प्रतिमा का निर्माण हो सकता है ? क्या जल के बिना लहरें तरंगित हो सकती हैं ? क्या वृक्ष के बिना, किसी वृक्ष के पत्ते वायु में कम्पित हो सकते हैं ? उसी प्रकार संस्कारों को क्रिया में व्यक्त होने के लिए देह, इन्द्रियाँ अथवा चित्त में से कोई आधार होना भी आवश्यक है। आनन्दानुभूति बिना किसी बाह्याधार के संभव हो सकती है किन्तु क्रियानुभूति नहीं। किसी आधार पर ही संस्कार संचय होते हैं, तथा किसी आधार पर ही क्षीण भी होते हैं। क्रिया को समाप्त करने के लिए पहले क्रिया की ही आवश्यकता होती हैं। संस्कारों के क्षीण होते जाने के साथ, साधक देहादि के आधार से ऊपर उठता जाता है तथा क्रिया भी विलीन होती जाती है। देहादि के साथ संबंध विच्छेद हो जाने पर, क्रिया भी विलीन हो जाती है।

प्रश्न– तब तो देह तथा इन्द्रियों आदि का आधार महत्वपूर्ण है !

महाराजश्री– बहुत महत्वपूर्ण। इसीलिए देह को साधन-धाम कहा जाता है। शरीर से दूर हटने के लिए, शरीर के आधार पर ही क्रियाओं की आवश्यकता है। यदि शरीर नहीं तो संस्कार क्षय के लिये क्रिया भी नहीं, किन्तु मनुष्य, शरीर को भोग-धाम बना लेता है तो संस्कार संचय होने लगते हैं। यह मनुष्य की त्रासदी है कि वह शरीर-धन का अपव्यय करने लगता है।

मेरा जीवन भी पल-पल छीजता जा रहा था, किन्तु अभी तक भी शरीर का महत्व अन्तर में स्थापित नहीं हो पाया था। जब महत्व ही नहीं तो सदुपयोग कैसा ? कभी इस विषय में सोचता भी था तो अगले ही क्षण फिर जगत में लिप्त हो जाता था। क्या ऐसे ही जीवन निकल जाएगा ?

(१७) ब्रह्मलीनता के संकेत

महाराजश्री की बातों से अब ऐसे संकेत अधिक मिलने लगे थे जिन से यह पता लगता था जैसे वह जाने की तैयारी कर रहे हों। एक दिन कहने लगे, "अब मैं कब तक बैठा रहूँगा ? वैसे भी दुनिया में भीड़ बहुत बढ़ती जा रही है। जो भी आता है, जाने का नाम नहीं

लेता । यही हालत रही तो एक दिन पीने का पानी तथा साँस लेने के लिए वायु भी कम पड़ने लगेगी । ईश्वर ने सृष्टि का क्रम ही ऐसा बनाया है कि लोग आते जाते रहें, चेहरे बदलते रहें । कौन सी लहर उठी है जो विलीन नहीं हो गई ? कौन सा वृक्ष ऐसा है जो फला-फूला और मुरझा नहीं गया ? कौन सा दिन ऐसा है जो चढ़ा और फिर ढल नहीं गया ? यही जगत है । यही जगत का नियम है, किन्तु मोह पाश में बँधा जीव जगत का होकर ही रह जाना चाहता है । बुद्धिमान मनुष्य, ईश्वर की इस लीला को समझते हैं । इसका आनन्द लेते हैं ।"

एक दिन प्रात: भ्रमण के समय कहने लगे, "देखो ! गाड़ी पकड़ने के लिए लोग कैसे भागे जा रहे हैं, किन्तु यमदूत की गाड़ी पकड़ने के लिए किसी को भागना नहीं पड़ता । वह आती है तथा जीव को पकड़ कर ले जाती है । जब से सृष्टि की उत्पत्ति हुई है, वह जीवों को ढोने का कार्य करती आ रही है । जब तक सृष्टि अस्तित्व में रहेगी, यही कार्य करती रहेगी । गाड़ी छूट जाने का प्रश्न ही नहीं, क्योंकि जीव को गाड़ी पकड़ना ही नहीं है । गाड़ी आ कर जीव को पकड़ लेती है । क्या पता कब आ जाए ? कहाँ आ जाए ? दिन-रात, देश-विदेश, कहीं भी, कभी भी, आ सकती है । गाड़ी आती है तो कोई पूछता भी नहीं कि आप को जाना है कि नहीं । उठाती है और चल देती है । कोई टिकट नहीं, कोई टिकट खिड़की नहीं । यह भी कोई नहीं पूछता कि कहाँ जाना है ? यमदूत को जगत में आने वालों के लिए जगह खाली करवाना है । वह इसी कार्य में लगा रहता है ।

"यमदूत की गाड़ी का कोई निश्चित प्लेटफार्म भी नहीं है । वैसे देखा जाय तो सारा जगत ही उसका प्लेट-फार्म है । कहीं भी रुकती है, अपना काम करती है और चल देती है । जो एक बार इस गाड़ी में चढ़ जाता है, उतर नहीं सकता । वह तो फिर दिखाई ही नहीं देता । न जाने कहाँ ले जा कर उतारती है ।

"अब हमारे लिए भी गाड़ी आने वाली है । लोग कामना करते हैं कि गाड़ी न आए । हमें ऐसी कामना की आवश्यकता नहीं, अपितु हमें उसकी प्रतीक्षा है । जब पता है कि एक दिन गाड़ी को आ ही धमकना है तो डर किस बात का ? हमें जगत में अब कुछ करना भी बाकी नहीं है । फिर काहे को इसे निरर्थक पकड़े रखा जाय ?"

प्रश्न– किन्तु महाराज जी, जाने की जल्दी भी क्या है ?

महाराजश्री– हमें न जाने की जल्दी है, न ठहरने की आकांक्षा । हाँ, ईश्वर का संदेश आया कि हम चल दिए । हम कोई दुनियादार तो है नहीं कि पहले बच्चों से मोह, फिर बच्चों के बच्चों से मोह ।

प्रश्न– किन्तु फिर भी गाड़ी तो सब के लिये आती ही है ।

महाराजश्री– गाड़ी कहाँ मानने वाली है तथा किसे छोड़ने वाली है ? एक बार मुझे भविष्य के लिए समझाते हुए कहने लगे–

"देखो ! मेरे जाने के पश्चात् घबरा नहीं जाना । मैं तुम्हारी कमजोरियों, कमियों तथा खूबियों से भलीभाँति परिचित हूँ । यह उत्तरदायित्व तुम्हें सौंपा है तो कुछ सोच कर ही, क्योंकि इसी में तुम्हारी भलाई निहित है । यह मत समझ लेना कि मैं कहीं चला गया हूँ । मैं हर समय तुम्हारे साथ रहूँगा तथा तुम्हारी प्रत्येक गति-विधि पर नजर रखूँगा । मैं जानता हूँ कि अभी तुम्हारे कंधे कमजोर हैं तथा बोझ भारी है, किन्तु बोझ उठाने वाले केवल तुम्हारे कंधे ही नहीं होंगे, मेरी शक्ति का सहयोग भी होगा । वास्तव में तुम बोझ उठाने वाले हो ही नहीं । तुम्हें केवल अभिनय करने के लिए आगे कर दिया गया है । प्रत्येक गुरु अभिनय ही करता है । जो गुरु, अभिनय को वास्तविकता समझने की भूल कर जाता है उसकी स्थिति नीचे खिसकना आरंभ हो जाती है । वास्तविक गुरु शंकर हैं ।

"आश्रम का बोझ उठाने वाले भी तुम नहीं हो । तुम केवल इसके सेवक हो । जिस दिन तुम में आश्रम का अभिमान आ गया, वह दिन तुम्हारे पतन का दिन होगा । आश्रम शंकर का है तथा उन्हीं पर इसका बोझ है । जब तक वह चाहेंगे यह चलेगा, जब चाहेंगे बंद हो जाएगा । जीवों को अपनी ओर आने के लिए शंकर आश्रमों तथा धर्म-स्थलों का केन्द्रों के रूप में संचालन करते हैं तथा सेवा के लिए जिसे ठीक समझते हैं, गुरु बना कर बिठा देते हैं । वह शंकर की सेवा भी करता है तथा आश्रम की भी । सच पूछा जाय तो गुरु शिष्यों का भी सेवक होता है क्योंकि शिष्यों के मन के शुद्धिकरण का महत्वपूर्ण कार्य उसी का उत्तरदायित्व होता है । जो गुरु इनमें से कोई एक उत्तरदायित्व भी नहीं निभा पाता, वह शंकर का अपराधी होता है ।"

यह बात सुनकर मैं भयभीत हो उठा । यह उत्तरदायित्व मुझ से नहीं निभेंगे तथा मैं अपराधी घोषित किया जाऊँगा । मैंने महाराजश्री के चरण पकड़ लिए तथा कहने लगा, "मुझे क्षमा करो, मुझे क्षमा करो । मैं जानता हूँ कि यह उत्तरदायित्व मैं नहीं निभा पाऊँगा, इसलिए मुझ शरण में आए को क्षमादान दीजिए ।" इस पर महाराजश्री मुस्करा दिए । कहने लगे, "घबराओ नहीं । तुम वही भूल फिर कर रहे हो । बात उत्तरदायित्व के परिणाम की नहीं, प्रयत्न करने की है । यदि तुम ने पूरी ईमानदारी से प्रयत्न किया, तो उसका परिणाम चाहे अनुकूल हो या प्रतिकूल, तुम ने अपने कर्त्तव्य का पालन कर लिया । प्रयत्न का परिणाम नहीं, उसकी ईमानदारी देखी जाती है । कोई भी महापुरुष कितने ही काम करता है, सबका अनुकूल परिणाम कहाँ होता है ? सेवा का स्वरूप, कर्म फल पर नहीं, हृदय की भावना पर आधारित है ।

"मेरे पश्चात् कहीं यह मत समझ लेनां कि गुरुजी का शरीर तो अब है नहीं, कौन देखने वाला है ? अब काहे का कर्त्तव्य तथा कौन सा उत्तरदायित्व ? गुरु शरीर प्रत्यक्ष नहीं रहने पर, उनके द्वारा दिया गया उपदेश-आदेश गुरु होता है । उसका पालन हो रहा है कि

नहीं, गुरु सूक्ष्म स्तरों पर स्थित होकर निहारते रहते हैं । वही समय सेवक की परीक्षा का होता है ।

"सेवा भाव को अपने सीस पर धारण करना तथा अहंभाव पाँव के नीचे मसल डालना । अभी तो अहंभाव सारे संसार के मस्तक पर सवार है । संसारी, विरक्त सबको, अपने इशारों पर नचा रहा है । सेवा का स्थान स्वार्थ ने ले लिया है, किन्तु सत् शिष्य इस विषय में कभी उदासीन नहीं रहता । वह अहंभाव को महान विष समझता है तथा उससे सतर्कतापूर्वक बचता रहता है । चाहे उसे अपमान तथा अपयश सहन करना पड़े या उस पर कष्टों की वर्षा होने लगे, उसके अपने भी पराये हो जाएँ, किन्तु न वह सेवाभाव का त्याग करता है, न अहंभाव को ही पास फटकने देता है ।"

अब मेरा हृदय मंथन का अवसर था । क्या मेरे हृदय में उपर्युक्त बातों के तनिक से भी लक्षण हैं ? क्या मैं इन लक्षणों का विकास कर पाऊँगा ? कहीं मैं रणक्षेत्र में ही लुढ़क तो नहीं जाऊँगा ? क्या मेरे पाँव इतने मजबूत हैं कि मैं जमा रह सकूँ ? इस प्रकार के अनेकानेक विचार मेरे अन्तर में उमड़ने-घुमड़ने लगे ।

महाराजश्री साधारण से, लकड़ी के एक तखत पर ही विश्राम किया करते थे । कुछ भक्तों का ऐसा सुझाव था कि आपके लिये एक बढ़िया पलंग बनवा दिया जाए । जब महाराजश्री तक बात पहुँची तो उन्होंने कहा —

"सारा जीवन ऐसे साधारण तख्तों पर सोते निकाल दिया है । समझ नहीं आती कि अब पलंग बनवाने की कौन सी आवश्यकता आन पड़ी है ? क्या पलंग पर नींद अधिक गहरी आएगी ? तखत तथा पलंग की उपयोगिता में मुझे तो कोई अन्तर दिखाई नहीं देता । सिवाए इसके कि मन में अभिमान आ सकता है कि मैं पलंग पर बैठा या सोया हूँ । पत्तल में भोजन करो या पीतल के बरतनों में या फिर सोने-चाँदी के बरतनों में, भोजन का जैसा स्वाद है, वैसा ही रहेगा । सोने-चाँदी का अभिमान अवश्य आ जाएगा ।

"जीवन के हर क्षेत्र में यही बात है । रहने का घर हो या पहनने के कपड़े, सब जगह अभिमान परेशान कर रहा है । फिर हमारी तो एक और बात भी है । जीवन-दीप अब कब तक जलेगा ? पता नहीं । अब यह जगत पीछे छूटता हुआ सा दिखाई दे रहा है । क्या जाने कब तक साँस आए, कब नहीं आए, ऐसे में तखत छोड़कर पलंग की आशा करना नासमझी है । अब राम-नाम के ध्यान करने का समय है, या पलंग के ध्यान का ?

"गरीब का पलंग भूमि है । नींद का जो आनन्द एक गरीब मजदूर लेता है, वह कभी भी एक अमीर आदमी पलंग, गादी तथा तकिए पर नहीं ले सकता । मजदूर पत्थरों पर भी सुख की नींद सोता है, जबकि अमीर आदमी करवटें बदलते रात निकाल देता है । ऐसा पलंग किस काम का ?"

एक भक्त– महाराज जी ! आपको आवश्यकता नहीं है, किन्तु हमारी प्रसन्नता के लिए स्वीकार कर लीजिए ।

महाराजश्री– अब तक आप की प्रसन्नता का ध्यान किया है, अब ईश्वर की प्रसन्नता का ध्यान करने का समय है ।

प्रात: भ्रमण में महाराजश्री ने उसी विषय को छेड़ दिया ।

महाराजश्री– लोग स्वयं तो जगत में उलझे हैं, दूसरों को भी उसी में उलझा कर उन्हें संतोष होता है । जिस रंग में स्वयं रँगे हैं, उसी में सबको रँगा देखना चाहते हैं । शराबी तो यही चाहता है कि सारा जगत शराबी हो जाय ।

प्रश्न– भक्त भी तो यही चाहता है कि सारा जगत भक्ति मार्ग पर चलने लगे !

महाराजश्री– चाहता तो भक्त भी यही है, किन्तु उसके मन में सबके कल्याण की भावना होती है । शराबी कल्याण-अकल्याण की सोचता भी नहीं ।

गरमी का मौसम होने से, महाराजश्री रात को वराण्डे में ही तखत डाले विश्राम कर रहे थे । पास ही जमीन पर मैं बिस्तर बिछाए सोया था । मेरी नींद खुली तो देखा कि महाराजश्री बैठे हुए हैं । मैं उठकर पास गया तो बोले –

महाराजश्री– परम गुरु स्वामी नारायण तीर्थ देव महाराज के दर्शन हुए हैं ।

प्रश्न– उन्होने कुछ कहा ?

महाराजश्री– सुनकर, संभव है, तुम्हे अच्छा न लगे ।

प्रश्न– परम गुरु की वाणी अच्छी लगनी चाहिए ।

महाराजश्री– तो सुनो । कहा कि अब आ जाओ ।

यह सुनकर मैं स्तब्ध रह गया । गुरुओं की बातें ! बीच में बोले भी कौन ? क्या कहा जा सकता है ? फिर भी हिम्मत करके कहा, "अभी तो यहाँ बहुत काम है ।संख्या की दृष्टि से काफी फैलाव हो गया है, किन्तु गुणवत्ता की दृष्टि से एकदम अधूरा है ।"

महाराजश्री– क्या पता वहाँ भी कुछ काम होगा, किन्तु हाँ, किसी को कुछ कहना नहीं । व्यर्थ में चिन्ता करेंगे ।

किन्तु मैं चिन्ता में डूब गया । महाराजश्री तो थोड़ी देर में सो गए, पर मेरी आँखों की नींद उड़ गई । विचारों तथा शंकाओं की जैसे बाढ़ सी आ गई । क्या महाराजश्री सचमुच जाने की तैयारी कर रहे हैं, मुझे बेसहारा, मरुस्थल में अकेला छोड़कर ! अभी तो मैं ने चलना भी नहीं सीखा तथा कितना बोझ मेरे सिर लद गया ! यह ठीक है कि एक न एक दिन ऐसा अवसर आने वाला ही है किन्तु मैं अभी इसके लिए तैयार नहीं । मेरी सारी गतिविधियों का

केन्द्र महाराजश्री ही थे । महाराजश्री के बिना मैं किसी बात की कल्पना भी नहीं कर सकता था । मैं रोने लगा ।

(१८) स्वामी मुक्तानन्द जी से भेंट

हर साल की तरह, इस वर्ष भी ऋषिकेश जाने का कार्यक्रम बना । अन्तर इतना ही था कि प्राय: सर्दियों में जाया करते थे, किन्तु अबकी बार गर्मियों में जा रहे थे । महाराजश्री को ऋषिकेश जाने पर बड़ी प्रसन्नता होती थी । गंगाजी का मनोहारी दृश्य आँखों से सामने घूमने लगता था । उच्च पर्वत मालाएँ हृदय में उभर आती थीं, तथा बंदरों के उत्पात मन को तरंगित करने लगते थे ।

प्रथम भेंट– हृदय मंथन भाग दो में यह लिखा जा चुका है कि स्वामी मुक्तानन्द जी से महाराजश्री (प्रथम भेंट को छोड़कर) की तीन बार भेंट हुई । उस समय मैं ऋषिकेश की एक भेंट भूल गया था । प्रथम भेंट को मिला कर, कुल पाँच बार भेंट हुई । योग श्री पीठ तैयार हो चुका था । हर बार ठहरने की व्यवस्था करने की समस्या समाप्त हो गई थी । हम लोग योग श्री पीठ में ही ठहरे थे । शाम को घूमने के लिए गंगाजी की तरफ चले गए थे । वापिस लौटे तो दूर से ही, वराण्डे में कई लोगों को बैठे देखा । समीप आए तो एक कुर्सी पर स्वामी मुक्तानन्द जी दिखाई दिए । उनकी पार्टी कारों में भ्रमण के लिए निकली थी । यहाँ शिवानन्द आश्रम में उनका मुकाम था ।

कोई आधा घण्टा मुक्तानन्द जी आश्रम में ठहरे । महाराजश्री ने उन्हें बताया कि आजकल वह शिव सूत्रों पर टीका लिखा रहे हैं । यह सुनकर मुक्तानन्द जी बड़े प्रसन्न हुए । उन्होंने एक सूत्र, "सिद्धः स्वतंत्र भाव:" कहा तथा महाराजश्री से उसकी व्याख्या करने की प्रार्थना की । तब महाराजश्री ने इस प्रकार कहना आरंभ किया –

"जिस योगी की बुद्धि की वृत्तियाँ शान्त हो जाने से बुद्धि वश में हो जाती है तथा इस प्रकार जिस की योग सिद्धि हो जाती है, ऐसे सिद्ध योगी का भाव भी स्वतंत्र होता है अर्थात् उसकी वृत्तियों तथा भावों पर वासनाओं का बंधन नहीं होता । उसका भाव उन्मुक्त होता है । मोह, वासना, आसक्ति, अभिमान आदि के सभी बंधन शिथिल हो जाते हैं । वह शुभाशुभ की कल्पना से भी ऊपर उठ जाता है । पाप-पुण्य उसको छू नहीं सकते । सभी सीमाएँ टूट जाती हैं । वह अनन्त सत्ता में प्रवेश कर जाता है । वह उन्मुक्त पक्षी की भाँति गगन-विहार करता है ।"

प्रात:काल हम गंगा-स्नान करके वापिस लौट रहे थे, तो मुक्तानन्द जी की पार्टी, अपनी कारों में वापिस हरिद्वार की ओर जा रही थी । मुक्तानन्द जी ने कार से दोनों हाथ बाहर निकाल कर, महाराजश्री को प्रणाम किया ।

दूसरी भेंट– पूना के श्री गुलवणी महाराज का सहस्त्रचन्द्र दर्शन महोत्सव था । उस अवसर पर महाराजश्री ऋषिकेश से आए तथा पूना जाते हुए बम्बई में रुके । उस समय मुक्तानन्द जी को मिलने के लिए उनके स्थान गुरुदेव आश्रम गणेशपुरी पधारे । हमारे साथ बम्बई के कई साधक भी थे । हम लोग कोई पाँच-छ: घण्टे गुरुदेव आश्रम में रहे । मुक्तानन्दजी ने सारा आश्रम दिखाया । उस समय की, महाराजश्री को भेंट की हुई चप्पल अभी तक नारायण कुटी में रखी है । भोजन करने के बाद हम लोग लौट आए । चलते समय मुक्तानन्द जी ने महाराजश्री से प्रार्थना की कि एक रात के लिए दोबारा अवश्य पधारिए ।

तीसरी भेंट– पूना से वापिस मुम्बई लौटकर, महाराजश्री रात्रि निवास के लिए पुन: गुरुदेव आश्रम गए । हमें आश्रम में एक बँगले में ठहरा दिया गया । प्रात: काल मुक्तानन्द जी, महाराजश्री के सामने साधन में बैठने के लिए आए । कोई दो घण्टे तक बैठे रहे । उसके पश्चात् एक घण्टे तक महाराजश्री तथा मुक्तानन्द जी अकेले एक कमरे में रहे । यह बात संभवत: सन् १९६७ की रही होगी । निश्चित याद नहीं ।

चौथी भेंट– १९६८ में दिल्ली में हुई । महाराजश्री उस समय अस्वस्थ थे तथा उपचार के लिए दिल्ली ठहरे हुए थे । उन्हीं दिनों स्वामी मुक्तानन्द जी का दिल्ली आगमन हुआ तो उन्हें कहीं से सूचना मिली कि महाराजश्री अस्वस्थ हैं तथा इस समय दिल्ली में ही हैं, तो दर्शनार्थ आ गए ।

महाराजश्री एक पलंग पर लेटे हुए थे । मुक्तानन्द जी ने कमरे में प्रवेश किया । दोनों हाथों में गुलाब के फूल थे । महाराजश्री के चरणों पर पुष्प अर्पण किए तथा साष्टांग प्रणाम किया । उस दिन मैंने मुक्तानन्द जी की आँखों में आँसू देखे ।

महाराजश्री तथा मुक्तानन्दजी का क्या अंतरंग संबंध था, इसको दोनों महापुरुष ही जानते थे । हमारी पहुँच अत्यन्त सीमित होने से, यथार्थ ज्ञान से बहुत दूर रह जाती है । दूसरी या तीसरी भेंट की बात है । मैं तथा मुक्तानन्द जी गुरुदेव आश्रम के बाहर बगीचे में बैठे थे, तो मुक्तानन्दजी ने मुझ से कहा, "महाराजश्री से मेरा क्या संबंध है, यह तो मैं नहीं जानता, पर कुछ न कुछ संबंध अवश्य है, तभी बार-बार मन उनकी ओर खिंच जाता है ।" महाराजश्री ने मुक्तानन्द जी के बारे में कहा, "शक्तिपात् का महान कार्य मुक्तानन्द जी के द्वारा सम्पन्न होने वाला है ।" स्मरण रहे उस समय तक मुक्तानन्दजी ने शक्तिपात् आरंभ कर दिया था, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति उसके पश्चात् ही प्राप्त हुई ।

(१९) गरुड़चट्टी सत्संग

यह तो कई बार कहा ही जा चुका है कि महाराजश्री ऋषिकेश आते थे, तो एक बार गरुड़ चट्टी अवश्य जाते थे । अब की बार भी गए । लक्ष्मण झूले से आगे वही सड़क थी । काली कमली वाले की धर्मशाला के पत्थर खिसकते जा रहे थे । गरुड़जी के मंदिर के

आस-पास बने कुण्ड मे जमी काई भी बढ़ती जा रही थी । मंदिर में लगे घण्टे पर जमी गहरी धूल यह दर्शा रही थी कि कई दिनों से घण्टे को किसी ने नहीं बजाया है, जिसका अर्थ यह है कि अब इधर लोगों की आवाजाही नहीं रह गई है । यह सब बातें मिलकर जगत की परिवर्तनशीलता की कथा कह रही थीं तथा किसी के भी मन में वैराग्य उत्पन्न करने का पर्याप्त आधार थी, पर जितने भी थोड़े बहुत सड़क से गुजरने वाले लोग थे भी, वह इधर नजर घुमा कर देखते तथा आगे बढ़ जाते थे । उनके मन पर इस परिवर्तनशीलता का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता था । जो धर्मशाला कभी यात्रियों से ठसाठस भरी रहती होगी, जिस मंदिर में साफ-सफाई तथा पूजा-अर्चा की सुव्यवस्था चलती रहती होगी, आज सब उजाड़ पड़े थे । उस समय यहाँ कई चट्टियाँ तथा दुकानें होंगी, चहल-पहल होगी, आज सब सुनसान था । गंगाजी के उस पार से मोटर-रोड बन जाने के कारण अब प्रायः सभी यात्री उधर से ही बस द्वारा जाना पसंद करते थे । सड़क के ऊपर वाला जल प्रपात, जो यहाँ का मुख्य आकर्षण था वह भी अदृश्य हो चुका था । पानी के प्रवाह ने धीरे-धीरे पहाड़ को काट दिया था, तथा एक नाले की तरह जल सीधे ही नीचे की ओर प्रवाहित हो रहा था। परिवर्तनशीलता ही जगत है ।

भोजन के उपरान्त नित्य की भाँति मंदिर प्रांगण में महाराजश्री सत्संग कर रहे थे, "सत्संग, ज्ञान-परक घटनाओं तथा गुरुओं के सदुपदेशों का, मन की स्थिति के अनुरूप ही प्रभाव पड़ता है । जैसे सूर्य का प्रकाश एक समान होते हुए भी कहीं गहन अंधकार होता है, कहीं छाया होती है, तो कहीं तेज धूप पड़ती है, उसी प्रकार ज्ञान की किरणें एक समान प्रसारित होने पर भी, कोई उसे तत्काल ग्रहण करता है, कोई धीरे-धीरे, तो कोई ग्रहण करता ही नहीं । पता नहीं कहाँ एक कथा पढ़ी थी, सो कहता हूँ—

"एक यात्री घोड़े पर सवार कहीं जा रहा था । थक गया तो विश्राम के लिए एक मंदिर के पास ठहरा । घोड़े को भी आराम की आवश्यकता थी । यात्री टहलता हुआ मंदिर की ओर गया तो कथा हो रही थी । बड़े सुन्दर ढंग से वक्ता वैराग्य का प्रभावोत्पादक विवेचन कर रहे थे । श्रोता मंत्र मुग्ध सुन रहे थे । यात्री ने सत्संग होते देखा तो वह भी बैठ गया । वैराग्य पर ऐसा मनमोहक प्रवचन उसने कभी नहीं सुना था । सीधा उसके हृदय में उतर गया । वह वैराग्याभिभूत हो गया । बाहर आकर घोड़ा दान कर दिया । पास का सब कुछ बाँट दिया । यहाँ तक कि पहने हुए वस्त्र भी त्याग दिए तथा कौपीन धारण कर माँगने, भ्रमण करने तथा भजन करने लगा । वर्षों इसी प्रकार व्यतीत हो गए ।

उसी वैराग्यावस्था में, कई वर्षों के पश्चात् फिर से घूमता हुआ, उसी मंदिर के पास आया । वही सत्संग, वही ज्ञानोपदेश, वही मंत्रमुग्ध श्रोता-गण । पूछा, "कब से सत्संग सुन रहे हो ?" किसी ने कहा बीस वर्षों से, किसी ने पच्चीस वर्षों से । सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ । इतने वर्षों से सतसंग कर रहे हैं, फटकारें सुन रहे हैं, दृष्टान्तों को समझ रहे हैं, किन्तु

कोई प्रभाव नहीं ! क्या यह मंत्रमुग्ध बने बगुला भक्त की भाँति नाटक करते हैं ? सुने हुए उपदेश को, बाहर निकालने के लिए ही दूसरा कान है ?

उसने वक्ता महोदय से पूछा कि उन्हें सत्संग करवाते कितना समय हो गया ? उन्होंने कहा, "बेटा हमने तो जीवन में यही काम किया है । यही हमारी आजीविका का आधार है । अब तो हम वृद्ध हो गए हैं । भगवान की कृपा है । उसने हमें इस काम में लगा दिया । मेरे दो बेटे हैं । वह भी यही काम करते हैं" पूछा कि क्या आपको अभी तक वैराग्य नहीं हुआ ? उत्तर मिला, "वैराग्य का उदय होना इतना सरल नहीं । किसी भाग्यशाली को ही वैराग्य उदय होता है ।"

वह मन में सोचने लगा, " यह तो इनकी आजीविका का साधन मात्र है । उपदेश करते समय इनका लक्ष्य धन की आवक पर बना रहता है । फिर वैराग्य कहाँ ?"

"प्रश्न यह है कि साधक की चित्त-स्थिति उपदेश को कहाँ तक तथा कितने समय में ग्रहण करती है ? तत्काल प्रभाव ग्रहण करने वाले को उत्तम अधिकारी गिना जाता है । जिसे थोड़ी देर लगे उसे मध्यम अधिकारी तथा जिसकी ग्रहण करने की गति अत्यन्त मद्धम हो उसे कनिष्ठ अधिकारी समझा जाता है । जो एकदम ग्रहण ही नहीं करे, वह साधक नहीं, संसारी है । घोड़े का सवार यात्री एकदम उत्तम अधिकारी था । कम से कम उस समय उसके चित्त की अवस्था ऐसी ही थी, इसलिए उसने उपदेश का प्रभाव तत्काल ग्रहण किया तथा वैराग्य युक्त हो गया ।"

प्रश्न– पर यथार्थ ज्ञान बाहर से नहीं, अन्दर से उदय होता है !

महाराजश्री– प्रश्न यह है कि साधक की चित्त स्थिति क्या है ? जब तक उसे बाहर से ज्ञान प्राप्त कर अन्तर में ज्ञान संचय करने की आवश्यकता है, तब तक बहिर्मुखी स्तर पर ही उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ठ अधिकारी का निर्णय किया जाएगा । तब तक उसे शुभ कर्म, शुभ वातावरण, शुद्ध सात्विक आहार तथा शुभ लोगों के संग की अधिक आवश्यकता है । उसका स्तर बाह्य प्रभाव ग्रहण करने का है । कोई शुभ ग्रहण करता है, कोई अशुभ । इस स्तर पर अन्दर से ज्ञान उदय होने की संभावना नहीं । जब शक्ति की अन्तर्मुखी लीलाओं से, चित्त पर से आवरण उतरने लगते हैं तथा अन्तर से यथार्थ ज्ञान प्रकट होने लगता है, तब फिर उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ठ का वर्गीकरण भी उसी आधार पर किया जाने लगता है ।

प्रश्न– दीक्षा की दृष्टि से भी अधिकार का वर्गीकरण इसी प्रकार किया जाता है ?

महाराजश्री– वहाँ दृष्टिकोण भिन्न होता है । जिन साधकों में शक्ति एकदम पक्षी की तरह ऊपर चढ़ जाएगी, वह उत्तम साधक हैं । जिनमें बंदर की तरह, एक डाल से दूसरे डाल पर कूदते फाँदते चढ़ेगी, वह मध्यम अधिकारी हैं । तथा जिनमें चीटीं की चाल से जाएगी, वह कनिष्ठ हैं ।

प्रश्न– इसका अर्थ यह हुआ कि साधकों के अधिकार निर्णय के भी कई स्तर तथा दृष्टिकोण हैं !

महाराजश्री– सो तो है ही । साधक का स्तर क्या है ? लक्ष्य क्या है तथा उसका मार्ग क्या है ? यह सब देखा जाता है । सभी को एक ही लाठी से कैसे हाँका जा सकता है ! कोई आणवी साधना में लगा है, कोई जाग्रति के लिए प्रयत्नशील है, तो किसी का जाग्रति के पश्चात् का साधन है । कोई अभी शाक्तोपाय में ही है तो कोई शाम्भवोपाय में पहुँच चुका है । सबका अलग-अलग स्तर है । अलग-अलग आधार तथा गंतव्य है ।

आस-पास बंदरों की उछल-कूद हो रही थी, किन्तु एक बंदर दूर बैठा मानों बड़े ध्यान से सत्संग सुन रहा था, जबकि इधर से निकलने वाला इक्का-दुक्का कोई राही, एक नजर डालता हुआ आगे निकल जाता था । नीचे से गंगा जी के प्रवाहित होने की आवाज निरन्तर कानों से टकरा रही थी, जिसमें वायु वेग के कारण, वृक्षों के पत्ते हिलने से सरसराहट की आवाज ने मिलकर, मधुर संगीत का समाँ बाँध रखा था । बीच-बीच में कोई कुत्ता आकर भौ-भौं कर जाता था, तो जैसे संगीत में व्यवधान उत्पन्न हो जाता था । सत्संग चल रहा था किन्तु अब विषय बदल चुका था ।

प्रश्न– क्या गरुड़ चट्टी सदैव ही सुहानी तथा मनोहारी रही है ?

महाराजश्री– यह तो नहीं कह सकते कि सदैव ऐसी ही रही है क्योंकि जगत परिवर्तनशील है । जिस प्रदेश में आज वेद ध्वनि गूँजती हैं, कभी वहीं मार-काट होने लगती है । यात्रा के दिनों में कभी यहाँ चहल-पहल हुआ करती थी, किन्तु आज यह शान्त स्तब्ध है । इसकी प्राकृतिक छटा सदैव ऐसी ही रही है । यह बाहर का सौंदर्य उसी के आन्तरिक सौंदर्य में वृद्धि कर पाता है जिसके अन्तर में इस सौंदर्य तथा आनन्द को ग्रहण करने की क्षमता हो । विषयी मन इसका उपयोग भी विषय-वासना में तल्लीन रहकर ही करता है ।

प्रश्न– किन्तु साधकों को यह बाहर का आनन्ददायक वातावरण तथा प्राकृतिक सौंदर्य उनके साधन की अभिवृद्धि में सहायक होता होगा ?

महाराजश्री– जब तक साधक का मन बाहरी प्रभाव ग्रहण करता रहता है, तब तक यह आनन्द उसके साधन में अवश्य सहायक होता है । जब साधक की मनः स्थिति बाहरी प्रभाव को ग्रहण करने से ऊपर उठ जाती है, तब वह कैसे भी अनुकूल-प्रतिकूल वातावरण में रहे, वह आन्तरिक स्तर पर निरन्तर बना रहता है ।

प्रश्न– अच्छा महाराज जी ! आपने भी कभी गरुड़ चट्टी पर रहकर साधन किया होगा ?

महाराजश्री– मैं यहाँ आकर कभी रहा तो नहीं, किन्तु यहाँ बैठकर साधन का पर्याप्त आनन्द लिया है । जब ऋषिकेश में रहा करता था तो यहाँ प्रायः आता ही रहता था । यहाँ से

सात-आठ मील ऊपर पहाड़ में नीलकण्ठ महादेव के मंदिर पर कई-कई दिन ठहरा हूँ । वहाँ की प्राकृतिक छटा भी निराली है ।

इतने में दुकान पर बैठे दो व्यक्तियों में आपस में कुछ कहा-सुनी हो गई । पहले वे एक दूसरे से जोर-जोर से बोलते रहे, फिर हाथापाई पर उतर आए । ध्यान उधर चला गया । सत्संग में व्यवधान उत्पन्न हो गया ।

महाराजश्री–इन पर इस नैसर्गिक आनन्द का कोई प्रभाव नहीं है । इनके अन्दर का अभिमान तथा राग—द्वेष इन्हें यहाँ भी लड़वा रहा है । जंगल में महात्मा लोग कुटिया या आश्रम बनाकर रहते हैं, उनमें भी परस्पर राग-द्वेष हो जाता है । मानसिक विकारों का प्रभाव कितना प्रबल है ! आत्मिक आनन्द पर आवरण डाल रखा है । यहाँ भी लोग वासना में ही तड़प रहे हैं ।

वे दोनों व्यक्ति लड़ झगड़ कर, दुकान से जा चुके थे । वातावरण में फिर से शान्ति छा गई थी । लोगों ने एक-एक कप चाय का पिया तथा ऋषिकेश की ओर चल दिए । रास्ते में चलते-चलते फिर सत्संग होने लगा ।

महाराजश्री– भय का कारण जीव का अज्ञान ही है । अज्ञान से ही उसे जगत दिखाई देता है । या तो वह जगत के प्रति लपक पड़ता है या भयभीत हो जाता है । यह सभी मन की कल्पनाएँ हैं । मन शान्त हो जाता है तो कल्पनाएँ भी शान्त हो जाती हैं तब जगत के प्रति आसक्ति तथा भय दोनों भाग जाते हैं । बंधन एवं मोक्ष में मन ही कारण है । आत्मा सदैव शुद्ध-बुद्ध एवं मुक्त है । कभी भी बंधन में नहीं आता । भार, संकल्प, विचार सब मन में ही रहते हैं । मन कल्पनारहित हुआ कि आत्मा पहले से ही मुक्त है ।

प्रश्न– किन्तु कल्पनाएँ तो शान्त होती ही नहीं !

महाराजश्री– होंगी भी कैसे ! मनुष्य तो कल्पनाएँ बढ़ाने में लगा है । वासना मन में कल्पनाएँ जगाती है, वासना को संस्कार पुष्ट करते रहते हैं, संस्कारों को आसक्तियुक्त कर्म से शक्ति प्राप्त होती रहती है, तथा आसक्तियुक्त कर्म कल्पनाओं के अधीन हैं । इस प्रकार मन में अनवरत एक चक्र घूमता रहता है । जीव इसी चक्रव्यूह में उलझ कर रह गया है । निकलना भी चाहे, तो मार्ग सुझाई नहीं देता । न जाने कब से यह चक्र घूम रहा है तथा अपने साथ जीव को भी घुमा रहा है । हमारे मन में कल्पना उदय हुई कि गरुड़ चट्टी चलो, और हम इधर भाग लिए ।

प्रश्न– जब तक जीवन है तब तक कल्पना तो रहेगी ही ।

महाराजश्री– कल्पना तो रहेगी किन्तु वह वासना से प्रभावित नहीं होनी चाहिए । तभी वासना चक्र टूट सकेगा ।

प्रश्न– कोई ऐसा उपाय भी तो होगा कि जब तक मन में वासना है तब तक भी कल्पना को प्रभावित नहीं कर सके ?

महाराजश्री– हाँ है, ऐसा उपाय है तथा उसी को साधन कहा जाता है । वासना को यदि कल्पना पर प्रभावी नहीं होने दिया जाए तो वासना मरने लगती है । विवेक-तत्व वासना को रोके रखने का कार्य करता है । विवेक-युक्त मन को ही संयत मन कहा जाता है ।

प्रश्न– क्या विचार से विवेक पुष्ट होता जाता है ?

महाराजश्री– किसी सीमा तक । वास्तव में विवेक का जागरण तथा उसका पुष्टिकरण, शक्ति की क्रियाशीलता का विषय है । वही बुद्धि पर से संस्कारों के आवरण हटा कर, उसमें विवेक जाग्रत करती है । विचार से बौद्धिक विकास तो होता है, किन्तु संस्कारों का आवरण बना रहता है । वह शक्ति की क्रियाशीलता से ही क्षीण होता है । संस्कारों का आवरण पतला होते जाने से मन, संयत होता जाता है ।

प्रश्न– किन्तु संयत मन भी तो अस्वाभाविक अवस्था ही है !

महाराजश्री– पहले संयत अवस्था उदय होती है, तथा संस्कारों के पूर्णतया क्षीण हो जाने पर मन की स्वाभाविक अवस्था हो जाती है । तब कल्पनाएँ भी न क्लिष्ट होती हैं न अक्लिष्ट । भवसागर में गोते खाता हुआ जीव, एक छलाँग में कूदकर, ब्रह्म तक नहीं पहुँच सकता । पहले संयम, फिर स्वाभाविकता, फिर कैवल्य तथा अन्त में तुरीयावस्था, किन्तु यह सब कोई ही कर पाता है । अधिकांशत: तो साधक संयमावस्था के लिए हाथ—पैर मारता रह जाता है ।

चलते-चलते महाराजश्री कुछ थक गए थे, इसलिए थोड़ी देर के लिए एक पत्थर पर बैठ गए । सब लोग सड़क पर ही उनके आस-पास जम गए, किन्तु मैं विचार सागर में गहरे उतर गया था । वह पुरानी शंका मन में बार-बार उभर रही थी । साधन-पथ छोड़कर कहीं आश्रम में ही उलझ कर रह जाने से, मार्ग तो नहीं भटक गया हूँ ! मेरी कठिनाई यह थी कि महाराजश्री को छोड़ कर, अन्य किसी से मन की बात भी नहीं कर सकता था । महाराजश्री से भी एक बात कितनी बार की जा सकती थी ? अन्त में पूछ ही लिया—

प्रश्न– इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए सतत् साधन की आवश्यकता है । यदि कोई व्यवहार में फँस जाए, तो लक्ष्य कैसे प्राप्त किया जा सकता है ?

महाराजश्री– तुम्हारी व्यवहार में फँसने वाली बात से, ऐसा प्रतीत होता है कि अभी तक साधन के मर्म को समझ ही नहीं सके । गुरु बने हो तो किसी शिष्य के सामने ऐसी बात मत कह देना, नहीं तो उन लोगों पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा । व्यवहार में फँसना संसारियों का काम है । साधक के लिए व्यवहार भी साधन होता है । जब तक उसकी आवश्यकता है, करता रहता है । आवश्यकता समाप्त हो जाने पर व्यवहार अपने आप छूट जाता है । यदि

उचित ढंग से किया जाय तो कोई भी कर्म आध्यात्मिक उत्थान में बाधक नहीं होता। इसीलिए साधक न प्रवृत्ति से घबराता है, न ही उसके लिए लालायित रहता है। चित्त की स्थिति के अनुसार कभी प्रवृत्ति तो कभी निवृत्ति प्रकट होती रहती है। जैसी भी परिस्थिति होती है, साधक उसका आनन्द लेता है।

मैं मौन हो कर रह गया। इससे आगे मेरे पास कहने के लिये कुछ था भी नहीं। इस झटके से, मेरे मन के विचारों ने पलटा खाया, इस विषय में महाराजश्री के विचार कितने स्पष्ट तथा सधे हुए हैं। यदि अब तक मैं समझ नहीं पा रहा हूँ तो मेरे ही मन की मलिनता इसका कारण है, किन्तु मैं जो बार-बार समर्पण की दुहाई देता हूँ, उसके साथ मेरे मन की यह शंकाएँ मेल नहीं खातीं। सेवक का कर्त्तव्य स्वामी के समक्ष समर्पण कर देना है। शंकाएँ तथा भ्रान्तियाँ सब कुछ चरणों में समर्पित, उसके पश्चात् किसी शंका के लिए स्थान ही कहाँ बचता है ! अब जैसी गुरु महाराज की इच्छा। बस किए जाओ।

महाराजश्री– कर्म से डरपोक भागता है। तुम कर्म से क्यों डरते हो ? समय आने पर कर्म स्वयं ही भाग जाएगा। हाँ, कर्म के अधीन मत हो जाओ। कर्म को अपने अधीन कर के रखो। तुम्हारा भाव मैं समझ रहा हूँ। तुम्हारा व्यवहार यदि गुरुसेवा है, तो वह व्यवधान कैसे हो सकता है ? यदि तुम उसको व्यवधान मानते हो तो गुरुसेवा नहीं है। अध्यात्म का विषय सूक्ष्म है तथा मन बड़ा बदमाश है। भ्रान्ति तथा शंका उत्पन्न कर देना ही उसका काम है। तब साधक चलते-चलते ठहर जाता है। उसके समझ नहीं आती कि उसका मार्ग ठीक है या नहीं। इस सब का एक ही उपाय है- समर्पण।

जब वहाँ से उठे तो मेरा मन काफी शान्त हो चुका था। अब हमारे कदम फिर से ऋषिकेश की ओर बढ़ने लगे थे।

एक साधक– कितनी विचित्र बात है ? विवेक के, जगत के, शुभाशुभ कर्मों के, आसक्ति-अनासक्ति के, सबके संस्कार संचय होते हैं।

महाराजश्री– हाँ, सब के हो जाते हैं, किन्तु मन में उसके साथ अभिमान तथा आसक्ति हो तो। यदि जगत के संस्कार होते हैं तो विवेक, ज्ञान-अज्ञान के शुभाशुभ कर्मों के, सभी के होते हैं। मन का यही तो स्वभाव है, कि वह जिस भी अवस्था में रहता है, उसके संस्कार संचय कर लेता है। अनासक्ति के संस्कार संचित होने पर, मनुष्य अनासक्ति के प्रति आसक्त हो सकता है।

प्रश्न– अनासक्ति से पहले की आसक्ति तथा अनासक्ति के बाद की आसक्ति में क्या अन्तर है ?

महाराजश्री– यही कि पहले आसक्ति की आसक्ति है, बाद की अनासक्ति की आसक्ति।

प्रश्न– क्या अनासक्ति, विवेक तथा शुभ कर्मों के संस्कारों का भी नाश करना होगा ?

महाराजश्री– संस्कार कैसे भी हों ? शुभ अथवा अशुभ, हैं तो आवरण रूप ही, उनको क्षय किए बिना परमार्थ का मार्ग कैसे प्रशस्त होगा ?

प्रश्न– शुभ संस्कार कैसे क्षीण होंगे ?

महाराजश्री–शक्ति की क्रियाशीलता, जो अशुभ संस्कारों को क्षीण करती है, वही शुभ संस्कारों का भी क्षय करती है । तुम क्यों चिन्ता करते हो ?

इस पर मेरे मन में एक प्रश्न पैदा हुआ, "यदि मन में सेवाभाव हो तो क्या सेवाभाव के भी संस्कार संचय होंगे ?"

महाराजश्री– यदि सेवाभाव के साथ ही आसक्ति तथा अभिमान भी होगा तो संस्कार संचय होंगे, अन्यथा नहीं । आसक्ति अथवा अनासक्ति में अहम् भाव बना रहता है, इसलिए संस्कार संचय हो जाता है । यदि अपने अहंभाव तथा आसक्ति को, प्रभु चरणों में समर्पित करके, सेवाभाव को धारण करोगे तो संस्कार संचय नहीं होगा ।

प्रश्न– सेवा भाव से ही परमार्थ लाभ हो सकता है, अर्थात् शक्ति जाग्रति की कोई आवश्यकता नहीं ?

महाराजश्री– शक्ति जाग्रति की तो फिर भी आवश्यकता है, किन्तु सेवा से ही शक्ति जाग्रत हो जाती है ।

अब हम लक्ष्मण झूले पर चले जा रहे थे । शीतल बयार अंग-अंग को स्पर्श कर आह्लाद प्रदान कर रही थी । महाराजश्री का सानिध्य मन में आनन्द भरता प्रतीत हो रहा था । इसी मस्ती में हम लोग योग श्री पीठ पहुँच गए । बत्तियाँ जलने का समय हो गया था ।

(२०) संत रविदास

आज रविदास जयन्ती थी तो संत रविदास विषयक चर्चा चल निकली । महाराजश्री ने कहा, "कितने आश्चर्य की बात है कि जिन निम्न जातियों को हम तुच्छ मानते हैं, अधिकतर संतपुरुष उन्ही जातियों में हुए । ऐसा लगता है कि ब्राह्मणों का ब्राह्मणत्व का अभिमान ही उनका अध्यात्म-पथ रोके खड़ा है । नाई, कसाई, चमार, छीपा, जुलाहा, कुम्हार तथा वैश्या आदि नीच जातियों ने भारत को ऐसे-ऐसे संत-रत्न दिए हैं जिन पर सारे संसार को गर्व है । लाख नियम बनाते रहो कि निम्न जातियों को भजन का अधिकार नहीं है, किन्तु जिनको अध्यात्म आकाश में उभरना है, उन्हें कौन रोक सकता है । नहीं तो क्या कोई मान सकता है कि जानवरों की लाशें ढोने वालों के घर में भी रविदास जैसा हीरा चमक सकता है ! अनुमान लगाओ कि रविदास जी कीचड़ में से उभर कर कहाँ पहुँचे ? उनके गुरुदेव स्वामी रामानन्द

जी, गुरु भाई के रूप में कबीर साहिब तथा शिष्य के रूप में मीरा बाई । एक से बढ़कर एक संत प्रवर । इनमें रविदास जी का चरित्र एकदम अनोखा, ओजस्वी तथा प्रकाशमान है ।"

प्रश्न– रविदासजी तो निर्गुणवादी थे न ?

महाराजश्री– निर्गुण-सगुण विवाद में उन लोगों को अधिक रुचि है, जिन्होंने करना-कराना कुछ नहीं, केवल वाद-विवाद करना है । न किसी को निर्गुण का अनुभव है न सगुण का, किन्तु एक दूसरे से लट्ठम-लट्ठ हो रहे हैं । रविदासजी के आन्तरिक अनुभव क्या थे, कौन जानता है ? पदों में कहीं निर्गुण दिखाई देते हैं, कहीं सगुण । जिसका जैसा भाव होता है, वैसा पद निकाल कर दिखा देता है । हम भी अद्वैतवादी हैं, किन्तु सिद्धान्त रूप में जहाँ साधन की बात उठती है, किसी न किसी रूप में द्वैत खड़ा दिखाई देता है । फिर काहे को निरर्थक वाद-विवाद में पड़ा जाए ! जो जैसा करता है, करने दो । समय आने पर अपने आप आगे बढ़ जाएगा । साधकों के पास इन अनावश्यक बातों के लिए समय ही नहीं होता ।

प्रश्न– रविदासजी के जन्म दिन पर, सुना है, विद्वान एक मत नहीं हैं ।

महाराजश्री– यह फिर एक अनावश्यक विवाद है । वह १४१० में जन्मे या १४७० में, इससे क्या अन्तर पड़ता है ! क्या यह पर्याप्त नहीं है कि किसी समय भारत में उनका जन्म हुआ ! मुख्य बात उनके उपदेशों को समझना तथा जीवन में उतारना है । इधर किसी का ध्यान नहीं जाता । उनके जन्मदिन को लेकर खेंचतान चल रही है । यह मानकर उन लोगों को संतोष नहीं होता कि आज से चार सौ- पाँच सौ वर्ष पूर्व भारत में रविदास नाम का एक महापुरुष पैदा हुआ । यदि समय लगाना ही है तो उनके उपदेशों को हृदयंगम करने में लगाओ ।

एक बात निश्चित है कि रविदास जी एक भक्त थे, उनकी भक्ति, अभिमान को मिटा कर उदय होने वाली भक्ति थी । वह क्या साधन करते थे, यह तो वही जानें, किन्तु जब भाव विभोर होकर, भगवान के शरणापन्न होकर, कष्ट हरण करने के लिए, अपने विकारों को शान्त करने के लिये याचना करते थे, तो उनका एक भक्त का स्वरूप निखर आता था । उनके हृदय की यही स्थिति समझनां, हमारे अभिमुख होना चाहिए । इतना बड़ा संत अपने आपको कितना तुच्छ मानता है । वह कितना भी बड़ा हो जाए पर ईश्वर की महिमा के समक्ष वह नगण्य ही बना रहता है । संतों की यही मन: स्थित हमारा आदर्श होना चाहिए ।

प्रश्न– रविदासजी की भक्ति में विशेष बात यह है कि उन्होंने भगवान से कभी जगत के सुख भोगों की याचना नहीं की, सदैव प्रभु का दासत्व ही माँगा है ।

महाराजश्री– जगत के सुख भोगों की माँग प्रभु-भक्ति है ही नहीं । वह कामना की भक्ति है । तामसी या राजसी भक्ति है । सात्विक भक्ति ही वास्तविक भक्ति है जिसमें भक्त, प्रभु की कृपा की आकांक्षा करता है, अपितु वह प्रत्येक परिस्थिति में प्रभु कृपा का ही अनुभव

करता है । यह क्या प्रभु की कम कृपा है कि उसने मनुष्य जैसा अमूल्य जन्म दिया है, फिर हृदय में भक्ति की जोत जला दी है, फिर समर्थ गुरु के चरणों में डाल दिया है । यह सब एक सच्चा भक्त ही देख पाता है । संसारी जीवों को कृपा का यह रूप दिखाई ही नहीं देता । उनके समीप नश्वर सुखों का प्राप्त होना ही प्रभु-कृपा है ।

प्रश्न– लोग रविदासजी के गुण बहुत गाते हैं, पर उनकी बात कोई नहीं सुनता !

महाराजश्री– यही तो खेद की बात है । संत आते हैं, जगत की नश्वरता, प्रभु की सर्वव्यापकता तथा जीवन की असारता दिखला कर चले जाते हैं । तुकाराम, मीरा, कबीर, नरसीं मेहता आए तथा चले गए । जगत जहाँ पहले था, आज भी वहीं है । वही विषय-भोग, वही अभिमान तथा दम्भ । तनिक भी अन्तर नहीं । सब जगह रावण का ही साम्राज्य है । सर्वत्र राक्षस-वृत्ति व्याप्त है । लोग संतों के पास जाते भी हैं तो सुख-भोग माँगने के लिए ही । उन्हें संत भी वैसे ही मिल जाते हैं । हर जमाने में कुछ संत तथा कुछ तथाकथित संत होते हैं । जिसका जैसा भाव होता है, भगवान उसे वैसे ही संत से मिला देते हैं । मीरा को रविदास मिल गए, किन्तु दूसरे लोग जिनके समक्ष रविदास जी प्रत्यक्ष विद्यमान थे, उन्हें नहीं पहचान पाए ।

प्रश्न– रविदासजी तथा कबीर दोनों गुरु बंधु थे, कभी कभार अवश्य परस्पर मिलते भी होंगे !

महाराजश्री– संतों में यही तो बात है । उनकी वृत्ति अन्तर्मुखी होती है । यदि कभी मन बाहर जाये तो किसी का स्मरण भी आए । वे अपने अन्तर में ही विहार करते रहते हैं । हर समय प्रीतम के चरणों में ही लौ लगी रहती है । इसलिए किसी से मिलने का प्रसंग कम ही आता है । संभव है कभी एकाध बार आपस में मिले भी हों ।

रविदासजी का साधकों के लिये यह सशक्त संदेश है कि कर्म से भागने की आवश्यकता नहीं । जब जगत को आपकी आवश्यकता नहीं रहेगी तो अपने आप पीछे हट जाएगा । एक महात्मा के रूप में रविदास जी की ख्याति फैल जाने के पश्चात् भी उन्होंने जूते गाँठने का अपना पैतृक धंधा नहीं छोड़ा । अपने घर के पीछे एक छप्पर डाल कर, उसी में जूते गाँठने की दुकान चलाते थे । उसी छप्पर में ही आप की मीरा बाई से मुलाकात हुई थी । उन्होंने इस काम में कभी संकोच भी नहीं किया, अपितु, वह ठोक-बजाकर अपने चमार होने की घोषणा करते थे । पहले तो काशी के ब्राह्मणों ने उन्हें काफी परेशान किया, फिर नतमस्तक हो गए ।

इस विषय में किंवदंति इस प्रकार है कि ब्राह्मणों ने काशी के राजा के समक्ष रविदासजी की शिकायत की, कि एक चमार होकर महात्मा होने का स्वांग करता है । राजा ने रविदासजी को बुलवा कर, राजदरबार में उनका ब्राह्मणों से शास्त्रार्थ करवाया, किन्तु

ब्राह्मण उन्हें पराजित नहीं कर सके । एक चमार के बेटे का, उन दिनों लिखने-पढ़ने का प्रश्न ही नहीं था, किन्तु फिर भी अनपढ़ रविदास ब्राह्मणों के सामने डटे रहे । किसी ने सुझाव दिया कि एक मूर्ति रख दी जाय । जो उसे अपने तपोबल से अपने पास बुलवा ले, वही ज़ीता मान लिया जाय । मूर्ति रख दी गई । ब्राह्मण अपने अनुष्ठानों तथा मंत्रोच्चार का जोर लगा कर थक गए, किन्तु मूर्ति अपने स्थान से नहीं हिली । जब रविदासजी ने भगवान से प्रार्थना की, तो मूर्ति आकर रविदास जी की गोद में बैठ गई । ब्राह्मण नतमस्तक हो गए ।

उपर्युक्त कथा सच्ची है या झूठी, इस विवाद में पड़ने की आवश्यकता नहीं । मुख्य बात यह है कि ब्राह्मणों ने पहले रविदास जी का खूब विरोध किया । अन्ततः उन्हें मुँह की खानी पड़ी । संतों को ऐसा विरोध सहन करना ही पड़ता है । लोग तरह-तरह की मनगढ़ंत बातें बनाते हैं, किन्तु वे किसी से भी द्वेष नहीं करते ।

प्रश्न– ब्राह्मणों ने कबीर, तुकाराम, ज्ञानेश्वर, रविदास आदि सभी संतों को खूब परेशान किया तथा बाद में अपनी हार स्वीकार कर ली । वे ऐसा क्यों करते हैं ?

महाराजश्री– अभिमानवश ! ब्राह्मण कर्मकाण्ड के विद्वान होते हैं, तथा उसे ही भक्ति मान बैठते हैं । उनका अभिमान भक्ति से टकरा जाता है, किन्तु जहाँ भक्ति में निष्ठा परिपक्व होती है, वहाँ अभिमान कैसे सामना कर सकता है ?

प्रश्न– आपके विचार में रविदासजी में भी शक्ति जाग्रत थी ?

महाराजश्री– मैं कई बार कह चुका हूँ कि शक्ति की जाग्रति तो आवश्यक है । उस के बिना आध्यात्मिक उन्नति कैसे संभव हो सकती है ! शक्ति जाग्रति ही नहीं, वह शक्तिपात् में भी पूर्णतया सामर्थ्यवान् थे तथा काफी ऊपर उठ चुके थे । मीराबाई उसी का उदाहरण है । रविदासजी पर स्वयं भी स्वामी रामानन्द जी से शक्तिपात् हुआ था । स्वामीजी ने पहले इन्कार कर दिया, फिर रविदास जी का अधिकार देखकर कृपा कर दी ।

प्रश्न– संतों में कितनी सहनशीलता तथा धैर्य होता है ! यही सीखने की बात है ।

महाराजश्री– सो तो है ही । फिर भी किसी से कोई गिला-शिकवा नहीं । जो अपराध करे उसके प्रति भी कल्याण का भाव । यही संतपना है । एक कथा कहीं पढ़ी थी । कहाँ पढ़ी थी ? अब याद नहीं ।

एक संत नाव में बैठकर नदी पार कर रहे थे । उनका सिर मुँडा हुआ था । उसी नाव में एक मसखरा भी बैठा हुआ था । वह लोगों के मनोरंजन के लिए, संत के सिर पर जूता बजाने लग गया । दो-चार जूते जोर से भी जमा दिए । सब लोग देख-देख कर आनन्दित हो रहे थे । उसी नाव में सवार एक व्यक्ति ने उन संत को पहचान लिया कि यह तो अमुक नगर के राजा हैं जिन्होंने वैराग्य ले लिया हुआ है । वह संत के पाँव पड़ गया तथा उस मसखरे को क्षमा कर देने के लिए प्रार्थना करने लगा । तब संत ने कहा कि इस व्यक्ति का कोई दोष नहीं है । वह सिर को दण्ड दे रहा था । जब यह सिर एक राजा का था, तब ऊँचा उठा रहा, किसी

के सामने नहीं झुका । इस व्यक्ति के माध्यम से उसी की अब सजा मिल रही है । रविदास जी ने ब्राह्मणों से कभी द्वेष नहीं किया । कर भी कैसे सकते थे जबकि उनमें भी रविदास जी के प्रियतम प्रभु का वास था !

प्रश्न– संभवतः संतों का यह स्वभाव होगा कि दूसरों के दोष देखना ही नहीं । फिर निन्दा, क्रोध, द्वेष, घृणा इत्यादि विकारों के लिए स्थान ही कहाँ है ?

महाराजश्री– तुमने ठीक कहा । इसी स्वभाव के कारण ही जगत में रहते हुए संत, जगत से न्यारे रहे । मनुष्य में अपने में दोष क्या कम हैं जो दूसरों के दोष देखता फिरे ! संतों का लक्ष्य, परदोष दर्शन के स्थान पर अपने प्रियतम की ओर रहता है । हर समय तार वहीं लगी रहती है ।

प्रश्न– एक बात की समझ नहीं आई कि स्वामी रामानन्द, कबीर, रविदास तथा मीराबाई, सब एक ही परम्परा में थे, किन्तु सब के स्वभाव तथा भक्ति के स्वरूप में अन्तर है । स्वामी रामानन्द पक्के वैष्णव थे, कबीर अक्खड़, फक्कड़ तथा निर्गुणवादी थे, रविदास में दासभाव तथा दीनता की प्रबलता थी, जबकि मीरा कृष्ण दीवानी थी । क्या एक परम्परा में एक साधन-क्रम नहीं रहता ?

महाराजश्री– यही तो शक्ति जाग्रति के लक्षण है । संस्कार, स्वभाव तथा वासना के अनुरूप शक्ति क्रिया प्रकट करती है । शक्ति की जाग्रति का साधन सब में एक समान था, किन्तु चित्त भूमिका के अनुसार उसकी क्रिया भिन्न-भिन्न थी । क्रिया को लेकर, साधन की भिन्नता का वाद-विवाद होता है, शक्ति की क्रियाशीलता को लोग भूल जाते हैं ।

रविदासजी ने श्रद्धा, सत्संग, नाम-जप, गुरु का महत्व, सदाचार तथा काम-क्रोधादि पंच विकारों के शमन पर बहुत कुछ कहा है । इनके बिना किसी साधक का अपने लक्ष्य को प्राप्त कर पाना कठिन है । रविदासजी ने केवल जबान ही नहीं चलाई, साधन कर के भक्ति के उच्च शिखर पर अपना झंडा भी गाड़ दिया । उनकी प्रत्येक कृति तथा उच्चरित वाणी मनुष्य मात्र के लिये प्रकाश-स्तम्भ के समान है । वह भक्ति को किसी जाति विशेष की बपौती नहीं मानते थे, अपितु सकल मनुष्यों का कर्त्तव्य समझते थे । भक्ति से ही जीव जगत में पूज्य होता है । भक्ति के कारण ही वह चमार होते हुए भी ब्राह्मणों के पूज्य हो गए । वाल्मीकि भील होते हुए भी विप्रवर बन गए । भक्ति की महिमा अपार है । इस को वही जान पाता है, जो इसका रसास्वादन करता है ।

(२१) बिच्छू पुराण

ऋषिकेश में योगश्री पीठ लगभग तैयार हो चुका था । कुछ ही काम बाकी था, जिसके लिए यहाँ के लोगों को हमारे मशविरे की आवश्यकता थी । महाराजश्री ने इस लिए भी यहाँ आने का कार्यक्रम बनाया था । आश्रम-विषयक बात-चीत हो चुकी थी ।

आश्रम नया-नया बना था । चारों ओर जंगल था । बिजली अभी लगी नहीं थी । हम लोग वहीं जा कर रहने लगे थे । उन दिनों वहाँ बिच्छुओं का बहुत प्रकोप था । सायंकाल होते ही बिच्छुओं का आक्रमण आरंभ हो जाता था । हम एक बाल्टी, एक चिमटा तथा लैम्प लेकर सारे आश्रम में घूमते । सारे कमरे, रसोई घर, बाथरूम सीढ़ियाँ सब देख डालते तथा बिच्छू पकड़-पकड़ कर बाल्टी में डालते जाते । एक दिन में सौ से डेढ़ सौ तक बिच्छू बाहर फेंकते थे । प्रात: काल उठते ही, सबसे पहला वही काम, बाल्टी और चिमटा । फिर सारा आश्रम देखते तथा तीस से पचास तक बिच्छू पकड़ कर बाहर फेंकते थे । यह क्रम कोई एक महीना चला । धीरे-धीरे बिच्छू कम होते गए । अब आश्रम बिच्छू मुक्त है ।

एक दिन एक बिच्छू ने मुझे डंक मार ही दिया । आल्मारी में से एक पुस्तक निकालने के लिए हाथ डाला तो वह पुस्तक के पीछे बैठा था । उसने इंजेक्शन लगा ही दिया । जैसे धोने के पश्चात् कपड़ा निचोड़ते हैं उसी प्रकार मेरा हाथ भी बल खाने लग गया । असह्य पीड़ा होने लगी । डाक्टर को बुलाकर इंजेक्शन लगवाया, तब कहीं नींद आई ।

इस पर एक दिन महाराजश्री समझाते हुए कहने लगे, "बिच्छू, खटमल, पिस्सू, चूहे और साँप मनुष्य को पूर्व-कृत कर्मों की याद दिलवाते हैं । कभी मनुष्य भी इन योनियों में रहा है । आज भी जो लोग स्वभाव से बिच्छू हैं, उन्हें बिच्छू का जन्म ही प्राप्त होने वाला है, क्योंकि उसी में उनकी वासना पूर्ति संभव है ।"

प्रश्न– किन्तु मैंने तो बिच्छू को कुछ किया भी नहीं, केवल भूल से हाथ लग गया था । हमने हजारों बिच्छू पकड़े होंगे, एक को भी नहीं मारा । केवल उठाकर बाहर फेंक देते थे !

महाराजश्री– फिर वही भूल ! यह बिच्छू ने तुम्हें डंक नहीं मारा । तुम्हारे अपने प्रारब्ध का ही फल है । बिच्छू तुम्हें दिखाई देता है, किन्तु प्रारब्ध दिखाई नहीं देता, इसलिए तुम बिच्छू पर ही दोष लगा रहे हो । यदि तुम्हें अधिक क्रोध आ जाता तो बिच्छू को मार देते । इस तरह एक और संस्कार संचय हो जाता ।

प्रश्न– यह जो आपने कहा कि जगत में जिन मनुष्यों का स्वभाव बिच्छू जैसा है, उसका क्या तात्पर्य है ?

महाराजश्री– बिच्छू का स्वभाव ऐसा है कि यदि आप उसकी सहायता भी करना चाहें, उसकी जान बचाना चाहें तो भी वह डंक मारे बिना नहीं रहेगा । किसी भूखे को आप भरपेट खाना खिलाओ या ठण्डक के दिनों में शरण दो किन्तु वही व्यक्ति आप के घर में चोरी कर जाए तो उसे बिच्छू नहीं कहेंगे तो और क्या कहेंगे ? आज संसार में प्राय: मनुष्य बिच्छू-वृत्ति के ही हैं । वे जिस थाली में भोजन करते हैं, उसी में छेद करते हैं । सारा संसार ही बिच्छुओं से भरा पड़ा है ।

प्रश्न– जब साधक सब ओर से बिच्छुओं से घिरा हुआ है तो उसका क्या कर्त्तव्य है ?

महाराजश्री– ऐसा नहीं है कि जगत में केवल बिच्छू ही वास करते हैं, सत्वगुणी मनुष्य भी हैं पर बहुतायत बिच्छुओं की है । अन्तर इतना ही है कि बिच्छू का डंक दिखाई देता है जबकि मानव-बिच्छू डंक को अपने अन्दर छुपाए रहते हैं । बिच्छू मनुष्य शरीर का कोई अंग स्पर्श हो जाने पर ही डंक मारते हैं किन्तु मानव बिच्छू दूर बैठा भी डंक चलाता रहता है । कई बार डंक का तत्काल पता नहीं लगता किन्तु बाद में पीड़ा होती है । जो मानव-बिच्छू अधिक भयानक होते हैं, वह डंक पर डंक मारते जाते हैं । यदि उनका डंक कुचल दिया जाए तो साधक का संस्कार क्षय रुक जाता है ।

साधन करने का आनन्द ही तभी आता है, जब चारों ओर बिच्छू ही बिच्छू फैले हों । कोई पाँव पर काट खाए तो कोई हाथ पर । ऐसी अवस्था में मन की संतुलित अवस्था बना कर रख पाना कठिन तो बहुत है, अत्यन्त मानसिक कष्ट सहन करना पड़ता है, कई बार धैर्य टूट जाने पर आ जाता है, अन्दर ही अन्दर क्रोध उबाले खाता है, पर यह समय साधक की परीक्षा का होता है । उसके साधन-मार्ग का यह कठिनतम पड़ाव है । प्राय: साधक इसी परीक्षा में लुढ़क जाते हैं । साधन छोड़ बैठते हैं किन्तु सच्चा साधक बिच्छुओं से भी प्रेम करता है । यह पता होने पर भी कि यह बिच्छू है, उनके आने पर हार्दिक स्वागत करता है । कोई शिकायत नहीं कोई उपालम्भ नहीं । यदि साधक के मन में प्रेम है तो वह द्वेष कर भी कैसे कर सकता है ?

साधक, साधन के समय, सर्व प्रथम बिच्छुओं की ही मंगल-कामना करता है । इससे उसके हृदय का द्वेषभाव दब जाता है तथा प्रेमभाव में वृद्धि हो जाती है बिच्छुओं का स्मरण उदय होकर, साधन में विघ्न कारक भी नहीं होता ।

प्रश्न– क्या इस प्रकार आचरण करने पर बिच्छू डंक मारना बंद कर देंगे ?

महाराजश्री– नहीं, वे डंक मारना बंद नहीं करेंगे, किन्तु उनके डंक साधक के लिए पीड़ादायक नहीं रहेंगे । यदि वे डंक मारना बंद कर दें तो वे बिच्छू ही नहीं रह जाएँगे । यह तो उनका स्वभाव है । यदि कभी भगवद्कृपा से उनके बिच्छूपने के संस्कार क्षीण हो गए तभी उनका यह स्वभाव छूट पाएगा । तब उनका स्वरूप केवल मानव का होगा । यदि कभी किसी में ऐसा परिवर्तन हो भी जाए, तो भी जगत के बाकी बचे हुए बिच्छु डंक चलाते रहेंगे ।

प्रश्न– यह तो साधक के लिए बड़ी समस्या है !

महाराजश्री– जो साधक नहीं है उसके लिए समस्या है । साधक के लिए उसकी साधना का अंग है । साधक बिच्छुओं के काटने का भी आनन्द लेता है तथा साधन का भी । बिच्छुओं से कटवाते रहना भी उसका साधन होता है । बिच्छू जितना अधिक काटते हैं, उतने

पाप क्षीण होते हैं । साधक के सबसे बड़े सहायक यह बिच्छू ही हैं । इनसे मोह का कोई प्रश्न नहीं तथा द्वेष साधक करता नहीं ।

प्रश्न– जहाँ कोई साधक नहीं होता वहाँ ये बिच्छू क्या करते हैं ?

महाराजश्री– डंक मारे बिना तो बिच्छू रह नहीं सकते । यह उनका स्वभाव है, इसलिए आपस में ही एक दूसरे को डंक मारते रहते हैं, पीड़ा पहुँचाते रहते हैं । इसीलिए सारा संसार दुःखी है । एक साधक ही ऐसा है जो शान्तिपूर्वक पीड़ा को सहन कर लेता है । एक वही सुखी है ।

प्रश्न– तो साधक का लक्षण केवल साधना करना नहीं, बिच्छुओं के डंकों को सहन करने की क्षमता होना भी है !

महाराजश्री– साधक का लक्षण उसकी चित्त-स्थिति पर आधारित है । केवल साधन करने से चित्त-स्थिति का पता नहीं चलता । जब साधक के चित्त पर बिच्छुओं के डंकों की मार पड़ती है तथा उसे वह शान्तिपूर्वक सहन कर जाता है, तब उसकी चित्त-स्थिति प्रकट होती है । साधन करने वाला प्रत्येक व्यक्ति साधक कहलाने का अधिकारी नहीं है । हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वह इस दिशा में प्रयत्न शील है ।

प्रश्न– आपने तो कई साधकों के नाम लिस्ट में से काट दिए !

महाराजश्री– मैं न नाम लिखने वाला हूँ न काटने वाला । मैं केवल विषय का दिग्दर्शन करा रहा हूँ ।साधकों का लक्ष्य उनकी चित्त-स्थिति की ओर खेंच रहा हूँ । कहते हैं कि जब कोई भगवान के घर जाता है तो यह नहीं देखा जाता कि उससे कितनी उग्र क्रियाएँ होती रही है, वहाँ तो केवल चित्त स्थिति देखी जाती है ।

प्रश्न– बिच्छुओं का क्या देखा जाता है ?

महाराजश्री–(जोर से हँसते है) बिच्छुओं की भी चित्त-स्थिति ही देखी जाती है, किन्तु उसमें पुण्य तो कोई-कोई ही होता है, बाकी सब पाप भरे होते हैं ।

प्रश्न– क्या संस्कार संचय को पशु संचय कहना अधिक उपयुक्त नहीं है ?

महाराजश्री– शुभ तथा अशुभ दोनों प्रकार के संस्कारों को पशु संस्कार कहा जा सकता है क्योंकि दोनों ही जीव को पशु के समान बाँधे रखते हैं, जिसका फल पशु वृत्ति के रूप में जीव को भोगना पड़ता है ।

प्रश्न– महाराज जी ! एक बात और है । बिच्छू तो केवल डंक से ही डंक मारता है किन्तु मानव-बिच्छू डंक मारने के लिए दसों इंद्रियों का प्रयोग करता है । जबान तो सब से तेज है ही, बात सीधे मन में प्रवेश कर खलबली मचा देती है । आँखों ही आँखों में मनुष्य

इशारे से कुछ का कुछ कर जाता है । मानव–बिच्छू निश्चय ही बिच्छू से कहीं अधिक भयानक है !

महाराजश्री– बिच्छू का काटा तो कुछ घण्टों में ठीक हो जाता है, किन्तु मानव बिच्छू की मार जीवन भर तड़पाती रहती है । मानव-बिच्छू काटने के बाद खुशियाँ मनाते हैं, नाचते हैं, एक दूसरे को बधाइयाँ भी देते हैं । अपनी प्रसन्नता का खूब आनन्द मनाते हैं । सामान्य संसारी इससे और भी दुःखी हो जाता है, किन्तु सच्चा साधक उन लोगों के हँसने पर हँसता है ।

बात तो बिच्छू के काटने की हुई थी, पर महाराजश्री ने उसे कहीं का कहीं पहुँचा दिया ।

(२२) उपेक्षा

शाम का समय था । महाराजश्री के साथ हम कुछ लोग, गंगाजी के साथ-साथ सड़क पर घूमने के लिए निकले थे । लक्ष्मण झूले से थोड़ा आगे तक चले गए थे । महाराजश्री कभी चलते-चलते बात करते थे, तो कभी बात करते-करते थोड़ा ठहर जाते थे । महाराजश्री जिस बारे में बात कर रहे थे, उस विषय पर वह पहले भी कई बार बोल चुके थे । आज उसी संबंध में फिर से कह रहे थे, "यदि आपकी कोई निन्दा करे, आलोचना या टीका करे, तो उसे शान्त मन से सहन कर लो । उसका मुँह बंद करने की चेष्टा मत करो, यह सब तुम्हारे आन्तरिक विकारों का बाहरी फल है, जो उस व्यक्ति के माध्यम से प्रकट हो रहा है । इस प्रकार वह व्यक्ति आप की चित्त-शुद्धि में आपकी सहायता ही कर रहा है । इस तरह किसी के निन्दा करने को साधन भी बनाया जा सकता है ।यदि आप ने उस व्यक्ति को रोकने की चेष्टा की, या अपनी सफाई देने में लग गए, तो आप की चित्त शुद्धि का क्रम रुक जायगा ।"

एक सज्जन-महाराज जी ! यह तो बड़ा गजब हो गया । यदि कोई अपनी सफाई नहीं देगा या होने वाली उलटी-सीधी बातों का प्रतिकार नहीं करेगा, तो जगत में उसका अपयश फैल जायेगा । उससे उसे कितना मानसिक क्लेश होगा ! उसके स्वाभिमान को कितनी ठेस लगेगी ! इस तरह से तो जीवन ही बेकार हो जायगा !

महाराजश्री– यदि कोई सफाई भी देगा तथा प्रतिकार भी करेगा तो भी यदि अपयश फैलना है तो फैल ही जायगा । अपयश का प्रतिकार करने से कोई संबंध नहीं है । यह प्रारब्धाधीन है । यदि भाग्य में अपयश लिखा है तो लाख प्रयत्न करने तथा रोक लगाने पर भी, फैल ही जायगा । साधक तथा संसारी के सोचने के ढंग में यही अन्तर है । संसारी हर घटना में जगत में किसी को कारण देखता है । साधक अन्तर में बैठे भाग्य को देखता है । वह घटना में दिखाई देने वाले व्यक्तियों या पदार्थों को केवल माध्यम समझता है तथा उनके

प्रति कृतज्ञ होता है क्योंकि वह प्रारब्ध के क्षय में कारण बने हैं । साधक प्रारब्ध के क्षीण होने की गति को रोकना नहीं चाहता, उसे भोग कर समाप्त करना चाहता है, जबकि संसारी प्रारब्ध निर्माण में ही लगा होता है, किन्तु उसके फल से बचना चाहता है ।

जो निन्दा तथा अपयश से डरेगा, उसका प्रारब्ध कभी क्षीण नहीं हो सकता । साधक अपयश से घबराता नहीं, उसे निमंत्रित करता है, ताकि अधिक से अधिक कर्म क्षीण हो जाएँ । कौन सा ऐसा महापुरुष है जिसकी निन्दा नहीं हुई !

मैं सोच रहा था कि महाराजश्री किस को लक्ष्य करके, यह बातें कह रहे हैं ? इससे पूर्व भी वह दो-एक बार इस प्रकार की चर्चा कर चुके थे । क्या वे सामान्यत: ही साधकों को व्यवहार क्रम समझा रहे थे ? महाराजश्री ने फिर कहना आरम्भ किया "आपकी जो निन्दा करे, उससे घृणा मत करो । वह अपना चित्त अशुद्ध करके भी आप का चित्त शुद्ध करने का कठिनतम कार्य कर रहा है । वह एक ऐसा चिकित्सक है जो अपनी जान जोखिम में डालकर भी, आपकी जान बचाने में लगा है । वह तुम्हारे प्रेम तथा शुभ-कामनाओं का पात्र है । यदि तुम उसके पाँव भी छू लो तो उसमें कोई बुराई नहीं ।"

एक सज्जन– इस प्रकार निन्दक और भी बहक जाएगा ! या तो अपनी निन्दा करने को ठीक समझेगा या आपको भयभीत हुआ मानेगा । यदि निन्दक के साथ आदरपूर्वक सद्व्यवहार किया जाए तो वह इसे चापलूसी समझेगा !

महाराजश्री– तुम अभी भी साधक के उपर्युक्त प्रयास का बाहरी प्रभाव ही देख रहे हो जो दृश्य है । अन्तर में पड़ने वाले अदृश्य प्रभाव की ओर तुम्हारा ध्यान नहीं है । यदि निन्दक और अकड़ जायगा, तो उसे अकड़ने दो । जब कमर में पीड़ा होगी, तो अपने आप झुक जाएगा । तुम उसके प्रति अपने हृदय में घृणा का भाव भरकर , अपना अन्तर मलीन न करो । इसी में तुम्हारा हित है । तुम तो उस के कल्याण की भावना ही करते रहो । यही तुम्हारा तप, साधन तथा भक्ति है ।

एक सज्जन– आपके कहने का अर्थ यह है कि साधक को अपयश की उपेक्षा करनी चाहिए !

महाराजश्री– उपेक्षा शब्द का प्रयोग यहाँ उचित नहीं । यदि अपनी आलोचना में कुछ सार दिखाई दे तो सुधार का प्रयत्न, साधक का कर्त्तव्य है । यदि सार नहीं दिखाई दे तो अपयश में अपने प्रारब्ध को कारण मानते हुए, निन्दक का आभार मानना चाहिए । साधक ऐसी स्थिति में भले ही जगत में निन्दा का पात्र बन जाए किन्तु ईश्वर के घर में आदर प्राप्त करता है । एक बात और है कि यदि साधक नम्र होकर अपमान, अपयश, निन्दा को सहन कर जाता है तथा फिर भी मन को प्रसन्न रखता है तो उसमें निरभिमानता का स्वाभाविक गुण प्रकट एवं विकसित होने लगता है । यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि निरभिमानता साधक की आध्यात्मिक उन्नति के लिए कितनी आवश्यक है ।

एक सज्जन– तो आप यह कहना चाह रहे हैं कि सहने तथा उदार बने रहे में सुख तथा लाभ है, किन्तु प्रतिकार करने में दु:ख तथा हानि है !

महाराजश्री– कहने का भाव तो यही है । लोग अपने क्लेश, दु:ख, अशान्ति तथा समस्या का कारण बाहर ढूँढते हैं तथा उसे किसी न किसी के माथे मढ़ देते हैं । परिणामत: उनका चित्त कभी शुद्ध नहीं हो पाता । यदि अपने अन्तर में खोज की जाए तो अवश्य ही चोर पकड़ में आ जाता है, इसलिए आन्तरिक खोज करने की वृत्ति साधक के लिए अत्यन्त उपयोगी है ।

एक सज्जन– किन्तु निन्दा करना बहुत बड़ा अवगुण है । क्या निन्दक उसी दुर्गुण से प्रभावित नहीं है ?

महाराजश्री– निन्दक का यह दुर्गुण देखना, तुम्हारा उससे भी बड़ा दुर्गुण है । उसका यह दुर्गुण उसके लिए है । तुम्हारे लिए तुम्हारे चित्त की सफाई का अभियान है । इस दृष्टि से देखोगे तो निन्दक का गुणगान करोगे ।

इस बात को समझाने का मैं प्रयत्न करता ही रहता हूँ कि मनुष्य जितना बड़ा दिखने का प्रयत्न करता है, उतना ही छोटा बनता है । अपने आपको जितना अच्छा समझता है, उतना ही लोगों को दृष्टि में बुरा बनता है । जितना विनम्र तथा निरभिमानी होता है, उतना बड़ा बनने या अच्छा दिखने के मिथ्या अभिमान से दूर होता है । निन्दक के सामने सफाई देने या उसका प्रतिकार करने के पीछे, स्वयं को अच्छा सिद्ध करने की बुरी धारणा ही सूक्ष्म रूप में छिपी है ।

एक सज्जन– महाराज जी ! आपकी बातें मन को छूती हैं, किन्तु इन्हें क्रियात्मक रूप प्रदान करना दुष्कर कार्य है । इसके लिए मन को कितना समझा कर तथा काबू में करके रखने की आवश्यकता है ! मन को दबाओ तो वह बेलगाम होकर बेकाबू हो जाता है ।

महाराजश्री– जब तक यह स्वभाव नहीं बन जाता तभी तक दुष्कर है । स्वभाव बन जाने पर, गाड़ी सड़क पर सीधी भागने लगती है ।

एक सज्जन– पर मन स्वभाव बनने दे, तब न !

महाराजश्री– इसलिए फिर वही धैर्य, उत्साह एवं सतत् साधना वाली बात आ गई । जब तक वैसी स्वाभाविक स्थिति नहीं बनती, तब तक जितना हो सके, प्रयत्नपूर्वक प्रयास करते रहना ही उपाय है ।

महाराजश्री ने चाहे जिस भी उद्देश्य से कहा हो, किन्तु मैंने उसे अपने ही मार्गदर्शन के रूप में ग्रहण किया । आन्तरिक स्थिति ऐसा कर पाने में अभी पूरी तरह तैयार नहीं थी । बीच-बीच में मन विद्रोह कर जाता था । कोई झूठी बात कह देता था, तो अन्तर में क्रोध की तरंगें उठने लगती थीं । मैं स्वयं किसी की निन्दा करने से तो बचता आ रहा था, जो मेरी निन्दा करे, उसकी भी नहीं, किन्तु इतने से ही निन्दकों को नहीं रोका जा सकता । आप यदि प्रत्युत्तर

में किसी की निन्दा नहीं करो, तो निन्दकों को खुला मैदान मिल जाता है । वे यह भूल कर कि उनमें अपने में सौ छेद हैं, खुलकर अपना खेल खेलते हैं, किन्तु मेरे लिए तो महाराजश्री ने व्यवहार रेखा निश्चित कर दी थी, उस पर जमें रहने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग नहीं था । महाराजश्री ने भी संभवत: मन में समझ लिया था कि मैंने उनकी बातों को कितनी गंभीरता से लिया है ।

मुझसे बोले, "आध्यात्मिकता में बड़ा सँभल कर कदम उठाना-रखना पड़ता है । प्रत्येक कदम का अपना महत्व तथा प्रभाव होता है । जरा सी भी चूक हो जाए तो फिसलते देर नहीं लगती । कई बार तो, एक बार फिसलकर गिरा हुआ मनुष्य जन्म-जन्मान्तर तक नहीं उठ पाता । उसे यह भी होश नहीं रहता कि मैं गिरा हुआ हूँ । प्रत्येक कदम पर अभिमान अपनी मोहर लगा देना चाहता है । कभी उसकी बात नहीं सुनो तो विवेक का मुखौटा लगाकर प्रभावित करने का प्रयत्न करता है । फिर भी न सुनो तो कई प्रकार के भय दिखाने लगता है, कभी प्रेम का वास्ता देता है तो कभी पुरानी स्मृतियाँ जगा कर प्रतिशोध की आग भड़का देता है । किसी भी तरह हो, वह मनुष्य को अपनी छाप के बिना कदम नहीं उठाने देता । यह जो अपनी आलोचना, निन्दा या टीका सहन करने की बात कही, तो अभिमान इसमें भी आड़े आता है । यदि अभिमान विवेक का रूप धारण कर जीव को भरमाता है, तो जीव को भी यथार्थ- विवेक से, उसे परास्त करना होता है । अभिमान जो भी हथकंडा अपनाए मनुष्य को भी उसी उपाय से उसे मात देनी होती है । यही मनुष्य की दक्षता है । सभी उपायों का एक उपाय ईश्वर शरणागति है अर्थात् अभिमान के समक्ष ईश्वर को खड़ा कर देना ।

"जीव तथा अभिमान का यह आन्तरिक युद्ध बड़ा मनोरंजक होता है । कभी अभिमान नीचे तो कभी अभिमान ऊपर । यदि साधक में सच्ची लगन हो तो अन्त में विजयश्री उसी की होती है । वैसे जीवत्व तथा अभिमान दोनों चित्त के भाव हैं । दोनों के संघर्ष में दोनों समाप्त हो जाते हैं । यही साधक का लक्ष्य होता है । भगवान सहायता करते ही हैं ।"

हम यही बातें करते आश्रम लौट आए थे, किन्तु मन में महाराजश्री द्वारा प्रतिपादित विचार ही घूम रहे थे । आकर बैठे तो वही चर्चा ।

एक सज्जन– आपकी सारी बातचीत प्रारब्ध पर ही केन्द्रित रही है, जबकि आज का युग भाग्यवाद को नकार देता है । वैसे तो प्रारब्ध तथा कर्म का विवाद बहुत समय से चलता आ रहा है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है अब कर्म ने प्रारब्ध को पछाड़ दिया है । लोग कर्म तथा पुरुषार्थ के महत्व को ज़्यादा स्वीकार करने लगे हैं ज़बकि आप अभी भी प्रारब्ध पर ही अडिग हैं !

महाराजश्री– मेरे विचार में कर्म-पुरुषार्थ तथा प्रारब्ध का विवाद एकदम निरर्थक है । इस विवाद में वही लोग रुचि लेते हैं जो न कर्म तथा पुरुषार्थ के स्वरूप को समझते हैं तथा न ही प्रारब्ध के रहस्य तथा उसके सिद्धान्त को जानते हैं । प्रारब्ध क्षय का विषय उनके सम्मुख होता ही नहीं, न ही कर्म से संस्कार-संचय को परखने की उनमें क्षमता होती है । ऐसे लोगों की दृष्टि केवल बहिर्मुखी होती है । इसी अन्तर के कारण इस विवाद का कभी हल नहीं निकल पाया ।

प्रारब्ध विश्वासी ही सच्चा कर्मयोगी होता है । यह विश्वास कभी भी कर्म से दूर नहीं करता, केवल कर्म-फल के प्रति संतुलित रहना सिखाता है । वह पुरुषार्थ तथा प्रारब्ध में समन्वय स्थापित करता है । यह दोनों एक दूसरे के विरोधी नहीं पूरक हैं । कर्म ही प्रारब्ध निर्माण करता है, कर्म ही प्रारब्ध के क्षय का कारण होता है । कर्मयोग प्रारब्ध क्षय का मार्ग है, जबकि कर्मयोग के रहस्य को न समझने वाले पुरुषार्थी प्रारब्ध निर्माण में लगे रहते हैं । उनका अध्यात्म से कोई संबंध नहीं होता । यही प्रेय तथा श्रेय मार्ग का अन्तर है ।

प्रश्न– किन्तु आलोचना का प्रतिकार करना क्या कर्मयोग में नहीं आता ?

महाराजश्री– नहीं आता, क्योंकि उसमें कर्म का फल सर्वप्रथम लक्ष्य में आ जाता है, जबकि कर्मयोगी फल की ओर से उदासीन रहकर कर्म करता है । आलोचना सहन करना रूपी कर्म ही प्रारब्ध क्षय का कारण है, प्रतिकार करना नहीं ।

प्रश्न– क्या आपने कर्मयोग को नई दिशा नहीं दी ?

महाराजश्री– नई-पुरानी का निर्णय तुम करो, मैंने केवल अपने विचार व्यक्त किए हैं ।

महाराजश्री का सोचने का ढंग वास्तव में ही अद्‌भुत था । उसमें शास्त्रीयता के साथ मौलिकता एवं स्वतंत्र चिन्तन का मिश्रण रहता था । अब इस विषय में मेरे मन की सभी शंकाएँ निवृत्त हो चुकी थीं ।

"जगत को सभी लोग देखते हैं तथा फिर जगत में ही रच-पच जाते हैं, किन्तु सच्चे साधक को संसार का प्रत्येक पदार्थ एवं घटना एक ज्ञानपरक एवं अनुभवात्मक ज्ञान प्रदान करते प्रतीत होती है, मानो ईश्वर की बोध-स्वरूपता कण-कण में व्याप्त हो । जो जगत प्राणी मात्र के लिए बंधन का कारण है, वहीं साधक के लिए गुरु-तुल्य हो जाता है । जो दृश्य किसी व्यक्ति को सुन्दर तथा आकर्षक दिखाई देते हैं, वही साधक के समक्ष अपना यथार्थ-स्वरूप प्रकट कर देते हैं, अपनी असारता व्यक्त कर देते हैं । उसे प्रत्येक जीव तथा वस्तु ईश्वर का ही गुण गान करते हुए तथा ईश्वर की ओर ही बढ़ते हुए दिखाई देने लगते हैं । साधक विष में भी अमृत का स्वरूप देखता है, अकल्याण में निहित कल्याण के दर्शन करता है । कुरुपता

में भगवान् का सौंदर्य निहारता है । यहाँ तक कि घृणित तथा निन्दित शब्दों में भी दिव्य-नाद का श्रवण करता है ।"

प्रश्न– ऐसे में संसारी तथा साधक का मेल कैसे हो सकता है ?

महाराजश्री– मेल तो नहीं हो सकता, फिर भी साधक के लिए संसारियों को सहन करना ही एक मार्ग है । जब तक साधक जगत में रहेगा, संसारियों से संपर्क होते रहना अनिवार्य है । उनके प्रभाव से अछूता रखना भी साधक के लिए आवश्यक है। सहनशीलता ही एक उपाय है । शंकराचार्य कथित तितिक्षा पर जितना गहरा उतरते जाएँ, उसका महत्व अधिकाधिक बढ़ता जाता है । साधक को वह व्यावहारिक स्तर से ऊपर उठाकर, अध्यात्म के उच्च शिखरों तक साथ देती है । चित्त की समावस्था उदय करने में सहनशीलता ही सहायक होती है । यदि कोई साधक सहनशीलता के एक साधन को ही भली भाँति पकड़े रखे तो उसका बेड़ा पार हो जाता है ।

मुझमें सहनशीलता काफी मात्रा में तो थी, किन्तु फिर भी अन्दर ही अन्दर कभी-कभी मन तड़प उठता था । अन्दर की तड़पन कभी भी बाहर व्यक्त हो सकती थी । जहाँ तक मैं इसका अर्थ समझा था कि अन्दर-बाहर से मन शान्त बना रहे, तथा हर बात को सहनशीलता पूर्वक सहन किया जाय, जबकि मेरा मन अभी पूरी तरह साथ नहीं दे रहा था । बाहर से शान्त किन्तु अन्तर में उद्विग्नता समेटे हुए । इसी स्थिति का नाम दम्भ है । हृदय में कुछ, मुँह में कुछ । यह तो लोगों के साथ छल है ।

मैं सोच मैं पड़ गया ।

(२३) गंगा पार वर्णन

सुहावना मौसम था, सायंकाल का समय था । महाराजश्री योगश्री पीठ आश्रम की छत पर बैठे गंगा जी को निहार रहे थे । मैं पास बैठा सूखे-कपड़े घड़ी कर रहा था । सहसा बोल उठे, "चारों ओर कैसा आनन्द का वातावरण है ! स्वर्गाश्रम, गीता भवन, परमार्थ निकेतन, सामने गंगा जी, पृष्ठभूमि में हरियाली से ढकी पर्वत मालाएँ, एकदम बैकुण्ठ सरीखा । इनमें से एक-एक का यदि आध्यात्मिक अर्थ समझ लिया जाय, तो साधन मार्ग का विषय स्पष्ट हो जाय ।

"जगत के सुख-दुख से अतीत अवस्था में, वास्तविक सुख तथा आनन्द है किन्तु जीव के लिए सुख की यह कल्पना कर पाना कठिन है । वह जागतिक दुःख की निवृत्ति तथा विषयी सुख की प्राप्ति को ही सुख मानता है । इसके लिए स्वर्ग की कल्पना उसके मन को अत्यन्त लुभावनी लगती है । शास्त्र तथा संत जीव की इस भ्रान्त धारणा को मिटाना तो चाहते हैं, किन्तु यह कार्य क्रम-क्रम से हो पाना ही संभव है । इसलिए पहले ऐसे स्वर्गलोक की कल्पना प्रस्तुत की जाती है जहाँ सब वैभव तथा भोग अनायास ही सर्वसुलभ हैं । तब

मनुष्य उसके प्रति लालायित होकर शुभ तथा सात्विक कर्म करने लगता है । नीच कर्मों से अपने आपको बचाता है । तब शास्त्र यह संकेत देते हैं कि पुण्य कर्म क्षीण हो जाने पर स्वर्ग लोक से पुनः मृत्य लोग में धकेल दिए जाओगे । स्वर्ग लोक में सदैव के लिए कोई नहीं रह सकता । तब जीव सचेत होता है तथा पुण्य कर्मों की यथार्थता पर विचार करने लगता है । यह स्वर्गाश्रम की पृष्ठभूमि है ।"

प्रश्न– सर्व साधारण के लिए यह भी बहुत बड़ी बात है कि पाप कर्मों को छोड़ कर पुण्य कर्मों में प्रवृत्त हो जाय । इतने से ही सामाजिक अव्यवस्था तथा अनाचार में बहुत सुधार हो सकता है ।

महाराजश्री– अच्छा तो है, किन्तु यह उपाय स्थाई नहीं । जगत तुम्हारे अन्दर गहरा उतर गया हुआ है इसलिए तुम केवल समाज की दृष्टि से ही सोचते हो । अनासक्त कर्मों से समाज सुधार भी हो सकता है तथा मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति भी हो जाती है । जब तक जीव तीनों गुणों के अन्तर्गत है, तब तक छुटकारा संभव नहीं । गुणों की स्थिति बदलती रहती है । देव-मनुष्य राक्षस-रूप हो जाता है । तम्-रज्, चित्त की सत्वगुण प्रधान स्थिति को कभी भी बदल सकते हैं । किन्तु हाँ, मनुष्य को पाप कर्मों से हटाने तथा सत्कर्मों में प्रवृत्त करने के लिए, प्रारंभिक अवस्था में स्वर्ग लोग की कल्पना अवश्य लाभकारी है ।

प्रश्न– मनुष्य की मुख्य समस्या जो आसक्ति रूप में उसके सामने है, उसका निराकरण भी नहीं होता । पहले मनुष्य पाप कर्मों के प्रति आसक्त होता है, फिर पुण्य कर्मों के प्रति आसक्त हो जाता है !

महाराजश्री– अभी आसक्ति के निराकरण का प्रश्न नहीं है, मनुष्य को पाप कर्मों से निवृत्त करने का प्रश्न है तथा उसके लिए यह उपाय ठीक भी है । उन्नति क्रम-क्रम से ही संभव है, एकदम नहीं । पहले उसे सात्विक पुण्य कर्मों की आदत डालनी होगी, एवं तत्पश्चात् अनासक्त कर्मों की या कर्त्तव्य या सेवा-भाव की ।

प्रश्न– क्या स्वर्गाश्रम के निर्माताओं के मन में, आश्रम बनाते समय यही विचार था जो आपके मन में है ?

महाराजश्री– यह तो मुझे पता नहीं किन्तु मैंने विषय को इसी प्रकार समझा है ।

प्रश्न– और गीता भवन ?

महाराजश्री– गीता मुख्य रूप में अनासक्त कर्मयोग का ग्रन्थ है जिसमें मनुष्य को पाप-पुण्य की भावना से रहित होकर अनासक्त कर्म के लिए प्रेरित किया गया है । पाप कर्म यदि लोहे की बेड़ियाँ हैं तो पुण्य कर्म स्वर्ण की । जीव की मुक्ति तभी संभव है जब दोनों प्रकार की बेड़ियों से बंधन मुक्त हो जाय । इसके लिए उसे प्रारब्ध कर्म भोग कर समाप्त भी करना पड़ता है तथा आसक्ति रहित कर्म के अभ्यास से पाप-पुण्य की भावना से दूर रहने का

प्रयत्न भी करना होता है । अर्थात् गीता क्रियात्मक साधना का ग्रन्थ है । यह गीता भवन की पृष्ठ भूमि है ।

प्रश्न– किन्तु जैसा प्राय: माना तथा देखा जाता है कि गीता भवन की प्रेम-प्रधान मधुर-भक्ति में अधिक रुचि है । कर्म, योग तथा ज्ञान को वे प्रेम–प्रधान भक्ति का फल मानते हैं ।

महाराजश्री– सीधे पकड़ो या सिर पर से हाथ घुमाकर, पकड़ना नाक ही है । कर्म को पहले, पाप से पुण्य, तत्पश्चात् पुण्य को अनासक्त कर्म में परिवर्तित करो अथवा भक्ति, योग या ज्ञान से करो, अन्तत: परिणाम यही आने वाला है ।

प्रश्न– यदि साधन का आधार भक्ति मानकर चला जाय तो ! यह आधार हृदय में प्रेम, बुद्धि में विवेक, मन में संयम अथवा जाग्रत शक्ति भी हो सकता है ।

महाराजश्री– अवश्य माना जा सकता है किन्तु इस बात को भी ध्यान में रखो कि साधक के समक्ष प्रारब्ध एवं कर्ताभाव की समस्या ही उभरती है, इसीलिए हमने कर्म का आधार लेना अधिक उपयुक्त समझा है ।

स्वर्गाश्रम की पृष्ठभूमि में साधक, पहले पाप कर्मों से पुण्य कर्मों तथा फिर अनासक्त कर्मों की उन्मुख हो जाता है । गीता भवन की पृष्ठभूमि उसे कर्मयोग में तत्पर कर देती है । आध्यात्मिक साधन गीता भवन से ही आरंभ होता है । जैसे-जैसे साधक अनासक्त भाव में अधिकाधिक प्रतिष्ठित होता जाता है, ईश्वर के प्रति प्रेम, आन्तरिक ज्ञान तथा जीव का परमात्मा से योग भी बढ़ता जाता है ।

एक सज्जन– भगवान कृष्ण ने भी गीता में सभी साधनाओं का आरंभ कर्म से ही किया है ।

महाराजश्री– कर्म में मनुष्य इतना आसक्त हो गया है, कि चाहते न चाहते कर्म करने में विवश हो चुका है । संसारी तथा विरक्त सभी कर्म की दलदल में उतरते जा रहे हैं । पशु-पक्षी, मानव-दानव सभी कर्म की पकड़ में हैं । कर्म को लेकर ही आधुनिक मनोविज्ञान का विकास है । भारतीय मनोविज्ञान भी कर्मबंधन से छुटकारे का ही विज्ञान है ।सारा संसार कर्म के आस-पास ही घूम रहा है । कोई बंधन के लिए कर्म करता है तो कोई मुक्ति के लिए । गीता, कर्म-मुक्ति का शास्त्र है जो क्रियमाण तथा संचित दोनों प्रकार के कर्मों से, कर्म के ही द्वारा मुक्ति का मार्ग दर्शाती है ।

एक सज्जन– क्रियमाण कर्मों से मुक्ति का उपाय कर्मयोग है किन्तु संचित कर्मों का क्षय शक्ति की जाग्रति तथा क्रियाशीलता से ही संभव है ।

महाराजश्री– इसका संकेत भी गीता के अन्त में दे दिया गया है जब भगवान यह कहते हैं कि मैं तुझे सभी पापों से मुक्त कर दूँगा, तू केवल मुझे समर्पित हो जा ।

एक सज्जन– तो यह गीता भवन का दर्शन !

महाराजश्री– गीता भवन का नहीं, गीता का, जिसके आधार पर गीता-भवन खड़ा है । यदि कर्म का बंधन छूट जाए, तो आध्यात्मिकता के उच्च स्तरों की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त हो जाता है ।

एक सज्जन– आप का भाव यह है कि स्वर्गाश्रम पूर्व तैयारी है तो गीता-भवन साधन क्रम है !

महाराजश्री– भाव तो यही है । स्वर्गाश्रम में कर्म के प्रति विचार तथा भावना स्पष्ट होती है, दृश्यमान जगत तथा स्वर्ग के भोगों के प्रति वैराग्य हो जाता है तथा गीता भवन में अनासक्त भाव से कर्म तथा साधन में तत्पर हुआ जाता है । तब साधक परमार्थ पथ पर आरूढ़ होकर परमार्थ निकेतन की ओर आगे बढ़ता है । यही आत्म-स्थिति या तुरियावस्था है, जहाँ सुख-दुख का कोई अनुभव नहीं, किन्तु आत्मस्थिति की प्राप्ति की नींव कर्म शुद्धि स्वर्गाश्रम से ही दृढ़ होना आरंभ हो जाती है तथा गीता-भवन में भवन निर्माण का कार्य आरंभ हो जाता है । अनासक्त भाव के अभाव में साधक चाहे कितना भी साधन क्यों न कर ले, सफल मनोरथ होना कठिन है । इस प्रकार स्वर्गाश्रम, गीता भवन तथा परमार्थ निकेतन तीनों मिलकर साधक को दिशा निर्देशन करते हैं ।

एक सज्जन– अर्थात् स्वर्गाश्रम साधन द्वार है, तो परमार्थ निकेतन गंतव्य !

महाराजश्री– हाँ, जब तक साधक कर्म शुद्धि के प्रवेश-द्वार, स्वर्गाश्रम को पार नहीं करेगा, साधन में तत्पर नहीं हो सकता ।

प्रश्न– इन तीनों के सामने गंगा जी के प्रवाहित होने का क्या अर्थ है ?

महाराजश्री– गंगा जी पतित पावनी है । प्रत्येक साधक के अन्तर में देवीशक्ति के रूप में प्रवाहित है । साधन के प्रत्येक स्तर पर उसका प्रवाह महत्वपूर्ण है । अन्तर्जाग्रत शक्ति के रूप में वह प्रत्येक कदम पर साधक का साथ निभाती है । साधन की प्रारंभिक अवस्था में साधक से भिन्नत्व दर्शाती है तथा परमार्थ निकेतन में प्रवेश के समय साधक के साथ ही आत्म-स्थिति में विलीन हो जाती है । गंगा जी के कारण ही तीनों आश्रमों का यहाँ अस्तित्व है । कल्पना करो कि यदि गंगा जी यहाँ नहीं होती तो क्या यह तीनों आश्रम भी यहाँ हो सकते थे ! यही हाल अन्तर गंगा जी का भी है । जिस साधक में शक्ति जाग्रत नहीं होती, उसका साधन कल्पना मात्र है ।

प्रश्न– दोनों ओर ऊँचे पर्वत तथा हरियाली, यह सौंदर्य क्या है ?

महाराजश्री– यह मन की प्रसन्नता तथा उल्लास दर्शाता है । इसके बिना साधन संभव ही नहीं । ठीक गंगा जी के किनारे चारों ओर नैसर्गिक सौंदर्य से घिरे हुए यह आश्रम, इनका क्रम, इस बात का प्रतीक है जो साधन के अनुकूल मनः स्थिति की ओर एक संकेत है ।

प्रश्न– सभी लोग इन आश्रमों तथा दृश्य को इस रूप में नहीं लेते ।

महाराजश्री– सबकी अपनी-अपनी मन: स्थिति है ।

इस पर मैं अपने अन्तर में अनासक्ति भाव की स्थिति टटोलने लग गया । देखा तो अन्दर आसक्ति के पहाड़ खड़े थे । आसक्ति की शाखाओं के रूप में अनेक विकार पनप रहे थे । वासनाओं की कई परतें जम गई थीं । चित्त में इतनी गन्दगी भरी थी कि अन्दर झाँकने में भी डर लगता था । मैं सिहर उठा । आसक्ति ने क्या-क्या रूप धारण कर रखे थे, देखने में सुन्दर, आकर्षक, मीठी पर गुणों में विष की बेल । कैसे लुभावने तरीके से आसक्ति ने संसार को अपनी लपेट में ले रखा है ! साधन में कोई रुचि रखता है तो चुपके-चुपके आ कर साधन के प्रति आसक्त कर देती है । वहाँ भी अपना जाल फैला देती है । कोई सेवा में लगा होता है तो सेवक को सेवा में आसक्त कर देती है । धीरे-धीरे पंख फैलाती है तथा सेवक का सत्यानाश कर देती है ।

मैं सोच में पड़ गया । मेरे मन की ऐसी अवस्था है किन्तु फिर भी महाराजश्री जैसे महापुरुष का उत्तराधिकारी बनकर बैठ गया हूँ । अब तो गुरु भी बन चुका हूँ । कोई चर्चा होने पर क्या ज्ञान बघारता हूँ । मेरे साधन का क्या हुआ ? की हुई सेवा कहाँ गई ? मन के कोने-कोने में आसक्ति देवी विराजमान है । अन्य वासनाएँ तथा विकार कितने दत्तचित्त होकर, आसक्ति की सेवा में लगे हैं तथा मैं एक कोने में दुबका पड़ा हूँ ।

मुझे अपने आप से घृणा होने लगी । कमरे में अकेला तो था ही, खूब रोया । मन यही करता था कि रोता ही रहूँ । जोर-जोर से रोने को मन होता था, किन्तु दबा लेता था । अपने सम्मान तथा प्रतिष्ठा के प्रति अभी भी आसक्ति के प्रभाव में था । इसी आसक्ति के कारण, महाराजश्री से भी अकेले में ही बात करना चाहता था ।

अवसर मिलने पर मैंने महाराजश्री से कहा, "आप की आज की चर्चा ने मुझे झकझोड़ कर रख दिया है । इतने आसक्तियुक्त मन के साथ मैं क्या कर पाऊँगा ?"

महाराजश्री– देखो जितना कपड़े को अधिक धोया जाता है उतने ही बाकी बचे हुए दाग अधिक चमकते हैं । जब सारी मैल उतर जाती है तथा एक ही छोटा सा दाग बाकी रह जाता है, तो वह सूर्य की भाँति प्रकाशित होने लगता है । जरा सोचो बड़े-बड़े संत भी मन के हाथों कितने दु:खी थे । तुलसीदास, तुकाराम, कबीर सभी परेशान थे । क्या उनका मन शुद्ध नहीं हो रहा था ! किन्तु वह बाकी बची अशुद्धि से परेशान थे क्योंकि वह उन्हें बहुत बड़ी दिखाई देती थी । यही हालत तुम्हारी है । यह नहीं कि तुम्हारे मन के शुद्धिकरण का क्रम नहीं चल रहा, किन्तु जो दाग बच गए हैं वे पहले की अपेक्षा कहीं अधिक चमकने लगे हैं तथा तुम्हें परेशान करते हैं । यह संसार है, किसका मन अशुद्ध नहीं । सब शीशे के मकानों में बैठकर, दूसरे पर पत्थर फेंक रहे हैं । कोई अभिमान में अकड़ता फिरे तो दूसरी बात है ।

प्रश्न– किन्तु दूसरों की अशुद्धि को ढाल बना लेने से मेरा मन शुद्ध नहीं हो जाता !

महाराजश्री– पागलों जैसी बात मत करो । तुम्हारा मन शुद्ध हो ही रहा है, इसमें समय लगता है, जिसके लिए धैर्य की आवश्यकता है । तुम चाहो कि सारा भोजन एक ही बार मुँह में भर लो, तो यह कैसे संभव है !

मैं अपना सा मुँह लेकर रह गया ।

(२४) प्रत्येक मनुष्य भक्त

• एक दिन बाहर से आए हुए एक सज्जन ने महाराजश्री से प्रश्न किया, "संसार में एक बड़ी विचित्र बात यह देखने को मिलती है कि जब कोई भूल कर जाता है तो यह चाहता है कि उसे क्षमा कर दिया जावे । जब कोई दूसरा भूल करता है तो वह चाहता है कि उसे कठोर से कठोर दण्ड दिया जावे । स्वयं असत्य का आश्रय लेता है, किन्तु चाहता है कि दूसरे उससे सत्य ही बोलें ।"

महाराजश्री– यही तो दोहरा माप दण्ड है । एक माप से मनुष्य अपने आंपको नापता है, दूसरे माप से दूसरे को । कोई उसे, उसकी भूल के लिए क्षमा कर भी दे, किन्तु यदि वह दूसरों को दण्ड देने का इच्छुक है, तो ईश्वर उसे कभी क्षमा नहीं करेगा । जो स्वयं क्षमाशील नहीं है उसे क्षमा का लिए याचना करने का अधिकार भी कहाँ है ?

सज्जन– तो क्या यह चित्त की संकुचित अवस्था है ?

महाराजश्री– संकुचित भी तथा स्वार्थमय भी । ऐसे लोग भूल तो कर जाते हैं, किन्तु भूल का फल भोगने का साहस नहीं बटोर पाते । कई तथाकथित साधक भी भगवान से प्रार्थना करते हैं कि हमारी भूलें क्षमा करो । क्यों क्षमा करो ? जब कर रहे थे तब नहीं सोचा ! उस समय भगवान याद नहीं आया ! अब गिड़गिड़ाते हैं ।

सज्जन– यह नहीं हो सकता कि एक पाप-कर्म किया हो, तो एक पुण्य-कर्म कर दिया जाय, जिससे दोनों ही कर्म समाप्त हो जाएँ !

महाराजश्री– यह नहीं हो सकता । पाप-कर्म तथा पुण्य कर्म, दोनों पृथक् रूप से भोगने पड़ेंगे ।

सज्जन– सुना है कि संत बड़े दयालु होते हैं । पहाड़ की राई तथा शूल का काँटा बना देते हैं । आने वाले संकट को बहुत तुच्छ कर देते हैं, तो यह कैसे संभव है ?

महाराजश्री– संत पाप को नहीं काट देते, किन्तु यदि कोई संत के आदेश के अनुसार चले तो उसके चित्त की स्थिति इतनी ऊँची उठ जाती है कि उसे सुख-दुःख विचलित नहीं कर सकते । पाप-कर्म अपना फल देते हैं किन्तु चित्त में दुःख का अनुभव नहीं के बराबर होता है ।

प्रश्न– अपने लिए क्षमा, किन्तु दूसरों के लिए घोर दण्ड ! इसका कारण क्या है ?

महाराजश्री– इसका कारण है मनुष्य का अपने आपको, शरीर की सीमा में बाँध लेना । उसकी दृष्टि थोड़ी विशाल होती है तो घर-परिवार की सीमाओं में जकड़ा जाता है । विशालता का अधिक विकास हुआ तो देश की परिधि में आ जाता है, किन्तु रहता सीमाओं के अन्दर ही है । उसकी सारी चिन्ता सीमा के अन्दर ही सीमित होती है । सीमा के बाहर कुछ भी हो, उसकी बला से । सीमा के बाहर के दुःख से वह दुःखी अनुभव नहीं करता । चाहे कितना ही बहिर्मुखी विकास हो जाय किन्तु फिर भी ससीम ही रहता है । जीव सीमा के अन्दर क्षमा की आशा करता है, किन्तु सीमा के बाहर घोर दण्ड की ।

प्रश्न– सीमाबद्धता तथा अहंकार क्या एक ही बात है ?

महाराजश्री– अहंकार सीमाबद्धता का परिणाम है ।

प्रश्न– सबसे पहले कौन सी सीमा प्रकट होती है, जहाँ अहंकार उदय हो जाता है ?

महाराजश्री– चित्त की सीमा । चित्त की सीमाओं में आ जाने पर ही समष्टि चैतन्य, व्यष्टि स्तर पर आ जाता है, परिणामतः अहंकार उदय हो जाता है । जहाँ तक इन्द्रियों की पहुँच होती है वहीं तक जीव की सीमा होती है क्योंकि चित्त के बाद इन्द्रियों की सीमा आती है, फिर देह की सीमा, जिससे जीव अपनी देह के प्रति आसक्त हो जाता है । फिर यही आसक्ति घर-परिवार तथा देश की सीमाओं तक फैल जाती है ।

प्रश्न– सीमाबद्धता के पश्चात् अहंकार मुख्य समस्या है ?

महाराजश्री– अहंकार ही अभिमान का रूप ग्रहण कर लेता है तथा हर समस्या में कारण बन जाता है । अहंकार ही जगत् है, अहंकार ही जीवत्व है । अहंकार ही सारे दुःखों का घर है ।

प्रश्न– क्या विरक्तों को अभिमान नहीं होता ?

महाराजश्री– होना तो नहीं चाहिए, पर होता है । लोग विरक्तपना अपने ऊपर बलात् ओढ़ लेते हैं, उनकी विरक्त की स्थिति नहीं होती । विरक्त का अर्थ है बिना रक्त (खून) के । ऐसा मनुष्य जगत में एक भी नहीं जिसमें रक्त न हो । यदि किसी में रक्त नहीं है तो उसका जीवन भी नहीं है । तो क्या विरक्त शब्द निरर्थक है ? यह निरर्थक नहीं है । रक्त तो हो किन्तु रक्त अर्थात् जीव का अभिमान नहीं हो ऐसा निरभिमानी कोई ही हो सकता है ।

प्रश्न– तो स्वाभाविक विरक्तावस्था कैसे उदय की जा सकती है ?

महाराजश्री– भक्ति या साधन के द्वारा । जिस भक्ति या साधन की, चित्त को विरक्त बनाने के लिए आवश्यकता होती है, वह प्रायः साधक कर नहीं पाता । मनुष्य अभिमान का त्याग तो करना नहीं चाहता, किन्तु परमार्थ की साधना करना चाहता है । साधन में उन्नति के

लिए जिस मनोवृत्ति को अपनाने की आवश्यकता होती है, उसका विकास नहीं कर पाता, क्योंकि उस पर आसक्ति का पूर्ण नियंत्रण है । भक्ति साधन को यदि एक शरीर की उपमा दी जाए, तो ज्ञान तथा वैराग्य उसकी दो भुजाएँ हैं । शरीर तथा भुजाएँ, दोनों एक साथ बढ़ती हैं । संकट आने पर भुजाएँ ही शरीर की रक्षा करती हैं । इस प्रकार ज्ञान तथा वैराग्य ही भक्ति रूपी खेत के लिए बाड़ हैं तथा भक्ति रूपी वृक्ष में सिंचाई के लिए जल के समान हैं ।

प्रश्न– किन्तु जिस साधक में वैराग्य तथा ज्ञान प्रतिष्ठित हो चुके हैं, उसे भक्ति अथवा साधन की आवश्यकता ही क्या है ? वह वैराग्य से जगदातीत अवस्था प्राप्त कर लेता है तथा ज्ञान से आत्म-स्थिति का आनन्द उठाता है । इसी स्थिति को प्राप्त करने के लिए भक्ति या साधन की क्या आवश्यकता है ?

महाराजश्री– तुम प्रारंभावस्था की बात करते-करते सिद्धावस्था पर पहुँच गए। प्रारंभावस्था में वैराग्य तथा ज्ञान के लिए भक्ति अथवा साधन की आवश्यकता है, तथा साधन के लिए ज्ञान और वैराग्य की । यह दोनों एक दूसरे के पूरक हैं । जो साधक, भक्ति के साथ वैराग्य-वृत्ति तथा विवेक (ज्ञान) बनाकर रखता है, उसीकी भक्ति सुरक्षित रहती है । जरा सा भी वैराग्य अथवा ज्ञान से उदासीन हो जाने पर भक्ति का भाव भी खण्डित हो जाने की संभावना होती है । जहाँ भक्ति साधन में थोड़ी सी भी कमी आ जाती है, वहीं ज्ञान (विवेक) तथा वैराग्य भी दम तोड़ने लगते हैं ।

प्रश्न– अब फिर से लौटकर अहंकार पर आते हैं । क्या कारण है कि जिस के मन में अहंकार होता है, उसे कितना भी उपदेश दिया जाए, उसपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता ! वह अपनी लकीर पर ही चला जाता है !

महाराजश्री– अहंकार युक्त मन चंचल होता है । उपदेश के समय यदि मन चंचल होता है, तो बात उसके हृदय को छू नहीं पाती, कानों से टकरा कर ही लौट आती है । यदि हृदय से ग्रहण नहीं करेगा तो उसके अनुसार आचरण क्या करेगा ।

प्रश्न– तब तो अहंकार बड़ा बलवान है !

महाराजश्री– वह अत्यन्त बलवान है । चित्त में जितने भी सद्गुण हैं, सब अहंकार ने दबाकर रखे हुए हैं । सद्गुणों की सेना में अहंकार निर्भय होकर उन्मुक्त विचरण करता है । अहंकार को मारने के लिए जीव का सारा प्रयत्न भी अहंकार युक्त ही होता है । भला अहंकार से कहीं अहंकार मारा जा सकता है ? अग्नि से अग्नि को बुझाया जा सकता है ? क्या अंधकार से अंधकार को भगाया जा सकता है ? सभी जीव अहंकार से ग्रसित है । उनका प्रत्येक प्रयत्न भी अहंकार से ओत-प्रोत होता है । निरहंकारी केवल एक ईश्वर ही है । केवल वही अहंकार को मार सकता है । इसीलिए बार-बार जीव को ईश्वर की शरण ग्रहण करने की ओर प्रेरित किया जाता है ।

प्रश्न– शरण ग्रहण भी तो अहंकार पूर्ण ही होगा ?

महाराजश्री– शरण ग्रहण तभी होता है जब अहंकार को आश्रयदाता के चरणों में समर्पित कर दिया जाता है । यदि अहंकार को बचाकर अपने पास रखा जाए, तो समर्पण एक दिखावा मात्र रह जाता है । यह अहंकाररहित स्वाभाविक अवस्था है ।

हमारे एक दीक्षित सज्जन है, नाम नहीं लूँगा, समाज में काफी प्रतिष्ठित हैं । आकर पता है कहाँ बैठते हैं ? सब लोगों के पीछे, जहाँ लोग जूते उतारते हैं, वहाँ । चुप कर के बैठे रहते हैं । जहाँ लोग एकत्रित होते हैं, भक्त सब से पीछे होता है, जहाँ सेवा कार्य होता है, वहाँ सबसे आगे होता है । जहाँ प्रशंसा होती है, संकोच करता है । जहाँ निन्दा हो रही हो, भाग खड़ा होता है । कष्ट होते हैं तो सहन करता है ।सुविधाएँ उपलब्ध होने पर भी जीवन सादा होता है । भक्त सदैव अपने प्रेम-भाव को गुप्त रखता है । सर्वत्र प्रभु की लीला ही निहारता है । दु:खियों को देख कर उसका हृदय दया से भर उठता है । अपने निन्दकों के प्रति भी सहृदय होता है ।

प्रश्न– क्या ऐसा कोई भक्त आपके देखने में आया है ?

महाराजश्री– आया क्यों नहीं । ऐसा भक्त प्रत्येक मनुष्य के अन्तर में बैठा है । कभी गुप्त हो जाता है, कभी प्रकट हो जाता है । चित्त की विभक्त अवस्था में प्रत्येक मनुष्य संसारी है । जब चित्त का विभाजन नहीं होता तो वही भक्त हो जाता है । सामान्यतया चित्त की अवस्था एक समान नहीं रहती । जितनी साम्यावस्था अधिक होती जाती है, अन्तर का भक्त प्रकट होता जाता है ।

एक सज्जन– आपने तो प्रत्येक व्यक्ति को भक्त बना दिया !

महाराजश्री– किसी को भक्त बनाने वाला भला मैं कौन हूँ ! प्रत्येक मनुष्य पहले से ही भक्त है, पर अपने वास्तविक स्वरूप को छुपाकर अभक्त का मिथ्या आवरण ओढ़ लेता है । लोग भी अन्दर के भक्त को नहीं देख पाते, बाहर के आवरण में ही उलझ जाते हैं ।

(२५) तिलमिलाहट

आज किसी ने कहीं कुछ ऐसी बात कह दी थी जिसे सुनकर मैं तिलमला उठा । इस तिलमिलाहट ने महाराजश्री के द्वारा दिए गए सारे उपदेशों को एक ओर कर, बेकार कर के भुला दिया था । मेरा हृदय बेचैन हो उठा था । इस बात ने मुझे यह सोचने पर विवश कर दिया कि मेरा यहाँ आना ठीक भी था कि नहीं । क्या इतनी सेवा का अन्तत: यही परिणाम होता है ! क्या वे लोग लाभ में नहीं रहते जो सेवा के कठिन क्षेत्र में पाँव ही नहीं रखते ! चाहे कोई सब से कितना भी प्रेम करे, आदर तथा सेवा समर्पित करे, सबकी बातें सहन करे, फिर भी जगत क्या उसे मान्यता प्रदान करता है ? अहंकारी तथा स्वार्थमय संसार का सोचने का

अपना ही ढंग है । उसे न तो किसी की भावना से कुछ लेना-देना है, तथा न ही इस बात से कोई संबंध है कि किस बात से, किसी के हृदय को कितनी ठेस पहुँचती है । प्रेम तथा सेवा का मार्ग, जितना अधिक अपनाया जाता है, उतना ही जगत अधिक तिरस्कार करता है ।

गुरु सेवा की कठिनता एक बार फिर मेरे सामने विकृत रूप धारण कर उपस्थित हो गई । कठिनता गुरु महाराज को लेकर नहीं थी, जगत को लेकर थी । इस सेवा में महाराजश्री तथा लोगों में सम्पर्क सूत्र का उत्तरदायित्व निभाने का कठिन कार्य भी सम्मिलित था तथा यही दुष्कर कार्य था । गुरु महाराज तथा दूसरे लोगों में मानसिक स्तर का अन्तर तो था ही, सबको प्रसन्न रख पाना वैसे भी असंभव प्रायः था । कौन, कब, किस बात पर नाराज हो जाय, क्या पता ? थोड़ी सी बात में सब किया- कराया चौपट हो जाता है । सेवक तो फिर भी अपने सेवा कार्य में लगे रहने पर विवश है, किन्तु लोग कहाँ का क्रोध कहाँ तथा कैसे निकालते हैं ! किसी का जीवन बिगड़ जाता है, उनकी बला से । उन्हें तो अपना प्रतिशोध लेने से मतलब ।

क्या जीवन का महत्व उन्हीं कुछ लोगों का है जो साधक-सेवक से किसी बात पर अप्रसन्न हो जाते हैं, चाहे उनकी वह कल्पना मात्र ही क्यों न हो ! ये सभी लोग अपने लिए जीते हैं, जबकि सेवक उनके लिए जीता है, इसलिए निश्चय ही सेवक का जीवन अधिक महत्वपूर्ण है, किन्तु अभी तो इन कुछ लोगों ने सेवक के जीवन को रास्ते में पड़े पत्थर जैसा बना दिया है । इधर से एक ठोकर लगाता है तो दूसरी ओर से दूसरा । यदि दो-चार प्रतिशत् लोग भी अप्रसन्न हो जाएँ तो समस्या खड़ी करने के लिए पर्याप्त हैं । मेरा हृदय अत्यन्त व्यथित हो उठा था । जिन्होंने गुरु महाराज की कोई सेवा नहीं की, आज बड़े गुरुसेवक बनने का दिखावा कर रहे हैं । और यदि तनिक सी सेवा की भी है तो उसका कितना अभिमान पाल लिया है । जरा सी ठोकर लग जाय तो मनुष्य भाग खड़ा होता है । मेरी सहनशीलता ही क्या मेरे लिए समस्या हो गई है !

आज कूटनीति का युग है, मन में कुछ होता है किन्तु होता कुछ है । आज दिखावे का जमाना है । बच्चे भी खेल-खेल में कूटनीति खेलते हैं । कोई ऐसा क्षेत्र नहीं बचा जहाँ कूटनीति न हो । जो ऐसी चालें नहीं चलते, उनकी भी हर बात में कूटनीति खोजी जाती है । जो इस प्रकार नहीं चलते, जागतिक दृष्टि से घाटे में रहते हैं । आज की कूटनीति को सहन करना सेवक की बड़ी समस्या है । यही उसका तप है, किन्तु ऐसी चालों का उत्तर सेवक सेवा तथा प्रेम से ही, देना चाहता है जिसें कूटनीतिक नहीं समझ पाते । वे सेवक के प्रेम तथा सेवा को भी एक चाल के रूप में देखते हैं । सेवक बार-बार ऐसी बातों का शिकार होता रहता है । अजीब बात यह है कि आध्यात्मिकता में भी कूटनीति घर कर गई है । तो क्या कूटनीति का उत्तर कूटनीति से दिया जाय ? नहीं । वह साधन के सिद्धान्त के विपरीत होगा । साधक का आश्रय तो प्रभु ही हैं ।

सहसा मुझे हिमाचल में बीते दिनों की याद उभर आई । वहाँ का प्राकृतिक सौंदर्य, शान्तता तथा आनन्द अभी तक मन को प्रभावित किए हुए थे । न कोई उत्तरदायित्व, न ही कोई मिलने वाला । एकदम एकान्त, निर्विघ्नता । अपनी इच्छा से सोना, इच्छा से जागना । मन हो तो थोड़ा घूम आना, सतलज के किनारे जा बैठना या भजन गाने लगना । न कोई रोक न टोक । अब तो कदम-कदम पर अनेक निगाहें पीछा करती हैं । तरह-तरह के अनुमान लगातीं तथा कल्पनाएँ करती हैं । कुछ भी करो उसमें मीनमेख निकाली जाती है । जो आता है, कुछ समझता है । अपनी इच्छा के अनुसार व्यवहार की आशा करता है । नहीं करो तो अप्रसन्न होता है । क्या महाराजश्री के समीप रहकर यही सहन करना तप है ?

फिर क्या किया जाय ? क्या सब छोड़कर वापिस उसी आनन्दमय एकान्त वातावरण में लौट जाया जाय ? वहाँ के लोग अभी तक भी मेरे लौट आने की आशा लगाए बैठे हैं । दस पन्द्रह दिन के लिए ही तो कह कर आया था । अब मुझे आए हुए सात वर्ष से ऊपर हो गए हैं । वही जाना ठीक होगा । यह आश्रम वाश्रम मेरे बस का नहीं । आश्रम तो एक बड़ा भारी जंजाल है । गृहस्थी से भी कहीं बड़ी गृहस्थी है । जो मन की शान्ति चाहता है, उसके लिए आश्रम में उलझना ठीक नहीं । यदि कभी उलझ भी जाए तो जितनी जल्दी छुटकारा पा ले, उतना ही अच्छा है । इसी प्रकार के अनेकानेक विचार मेरे अन्दर उमड़ते-घुमड़ते रहे ।

किन्तु महाराजश्री से बात करना आवश्यक था । उनसे मुझे कोई शिकायत भी नहीं थी । उनके प्रेम तथा वात्सल्यता ने मेरा मन मोह रखा था । वह सदैव ही मेरे कल्याण की कामना करते थे । उन्होंने मेरी अनेक त्रुटियों को उदारतापूर्वक क्षमा किया था । जब ऐसे दयालु सद्‌गुरु का वरद्‌हस्त प्राप्त है, तो कुछ भी निर्णय लेने से पहले, उनकी राय तथा अनुमति लेना आवश्यक है । वह जो कुछ भी कहेंगे, मेरे हित को ध्यान में रख कर ही कहेंगे ।

प्रातः भ्रमण में महाराजश्री के साथ मैं अकेला ही था । मैंने उनके समक्ष हृदय की सारी व्यथा-क़था प्रस्तुत कर दी । चले जाने का अपना विचार भी बताया तथा उनका मंतव्य जानने की जिज्ञासा प्रकट की । महाराजश्री ने सारी बात बड़े ध्यान से मौन हो कर सुनी ।

महाराजश्री– देखो ! मैंने तुम्हें पहले ही कहा था कि आने वाले समय में तुम्हारे धैर्य, उत्साह, श्रद्धा तथा सेवा भावना की कई बार परीक्षा होगी । यह सारी परीक्षाएँ तुम्हारा प्रारब्ध ही आयोजित करेगा । प्रत्येक परीक्षा में तुम्हारा कुछ न कुछ प्रारब्ध क्षीण होगा, किन्तु धीरज तथा सहनशीलता से तुम इन कठिनाइयों का सामना कर सको, तो । तुम्हारे आश्रम छोड़कर जाने के विचार से मैं सहमत नहीं हूँ । मैं इसे पलायन मानता हूँ । जब परीक्षा का समय आया

तो भाग खड़े हुए । यह साधकों के सोचने का ढंग नहीं है । साधक तो अपने मोर्चे पर डटा रहता है, कष्टों को सहन करता है, समस्याओं को धैर्यपूर्वक सुलझाने का प्रयत्न करता है, प्रारब्ध को क्षीण होने का अवसर प्रदान करता है तथा परमार्थ के पथ पर आगे बढ़ता रहता है ।

मैंने कुछ सोच कर ही तुम्हें उत्तराधिकार एवं गुरु पद दिया है । मैं चाहता हूँ कि तुम्हारे सामने कड़ी से कड़ी परीक्षाएँ आएँ । तुम जलो, तड़पो तथा तपो । तुम्हारे सभी संस्कार तथा प्रारब्ध जल कर स्वाहा हो जाएँ । कोई महापुरुष जले बिना संत नहीं हुआ । सब को पहले कड़वे घूँट पीने पड़े हैं । खुले पाँव गरम रेत पर चलने के समान तपना पड़ा है । सभी को मानसिक आघात सहन करने पड़े हैं, तभी ऊपर चढ़ पाए हैं । तभी प्रकाश स्तम्भ की भाँति आलोकित हुए हैं । यदि तुम भाग खड़े हुए तो तुम्हारा अभी तक किया गया सारा श्रम व्यर्थ हो जाएगा ।

जिन लोगों से तुम्हें परेशानी हो रही है, उनका कोई दोष नहीं । तुम्हारा अपना प्रारब्ध ही उन्हें माध्यम बनाकर, सब खेल करवा रहा है । तुम्हें उनका कृतज्ञ होना चाहिए कि उन्होंने तुम्हारे प्रारब्ध का माध्यम बनना स्वीकार किया । तुम्हारी चित्तशुद्धि का मार्ग प्रशस्त किया । वे घृणा के नहीं, प्रेम तथा सद्‌भाव के अधिकारी हैं । तुम्हारा सोचना किसी साधक के जैसा नहीं है, वरन् किसी संसारी जैसा है जो हर बात के लिए जगत को दोष देता है । हर समस्या का कारण जगत में खोजता है, किन्तु अपने अन्दर झाँककर प्रारब्ध को नहीं देखता । यह जगत् तुम्हारे प्रारब्ध का ही विस्तार है । तुम्हारा शरीर, शरीर के सुख-दुख तथा शरीर के द्वारा होने वाले कर्म, सभी कुछ प्रारब्ध से ही प्रेरित हैं, किसी का कोई दोष नहीं है । यदि तुम चले गए तो उन लोगों के प्रति घृणा के संस्कार एकत्रित कर के साथ ले जाओगे, जिससे तुम्हारा चित्त और भी अधिक मलीन हो जाएगा । यदि तुम ने यहाँ रहकर, प्रारब्ध का भोग समझकर सब कुछ शान्तिपूर्वक सहन कर लिया तो तुम्हारा प्रारब्ध क्षीण होगा । चित्त की निर्मलता की ओर आगे बढ़ जाओगे ।

सामान्य मनुष्य इन्द्रियों की पहुँच तक ही जगत को स्वीकार करता है । उसके आगे उसे सब अंधकार दिखाई देता है, किन्तु एक साधक इन्द्रियातीत सुख की बात करता है । उसके समीप जगत का प्रकाश केवल अंधकार है जिसमें इन्द्रियातीत सुख विलीन होकर खो गया है । वास्तविक सुख अन्तर में है जो इन्द्रियों से ऊपर उठकर पाया जा सकता है । इस प्रकार अध्यात्म का विषय अति गूढ़ है । तुम साधक हो तो साधक की भाँति विचार करो, बात करो । संस्कारों तथा विकारों की धुंध हटे बिना अन्तर में प्रकाश नहीं हो सकता । अब जब धुंध छटने का उपक्रम आरंभ हुआ, तो तुम भागने की बात करने लगे हो । कैसे साधक हो ?

वैसे तुम जाओ या रहो, इससे मुझे कुछ अन्तर नहीं पड़ता, किन्तु इस बात को समझ लो कि संसार एक नाटक के समान है । जिसे जो काम दिया गया है, वह करता है । जो इस जगत को नाटक नहीं समझ कर वास्तविकता मान लेता है, वह तुम्हारी तरह चंचल हो जाता है । दिया गया काम नहीं कर के, अपनी बुद्धि के अनुसार चलने लगता है । यही जीव का अहम् है ।

प्रश्न– किन्तु जब किसी मनुष्य का धैर्य तथा क्षमाशीलता जवाब दे जाय तथा वह और अधिक सहन करने की स्थिति में न हो, तो क्या करे ?

महाराजश्री– यह सब तुम्हारे मन की बहानेबाजी है, अन्यथा यह गुण कहीं चले नहीं जाते, केवल चित्त में दब जाते हैं । साधक जब चाहे उन गुणों को अन्तर से उदय कर सकता है । केवल मन में वैसी भावना होनी चाहिए । यदि मन गिरना शुरू कर देता है तो गिरता ही जाता है ।

इतना कहकर महाराजश्री तो मौन हो गए किन्तु मैं विचार सागर की अथाह गहराइयों में गुम हो गया, 'क्या मेरी यही नियति है कि जलता-कुढ़ता रहूँ, सहन करता रहूँ, अन्दर ही अन्दर तिलमिलाता रहूँ ! मुँह से आह तक भी न निकालूँ ! किसी के सामने अपनी सफाई भी पेश न करूँ ! जो मेरे सिर में राख डालते हों, उन्हें भी प्रेम करूँ ! जो मुझे लाठी से पीटता हो, गिर जाने पर लाठी उठा कर उसके हाथ में पकड़ा दूँ ! इसजगत में कैसे रह पाऊँगा ?' मैंने महाराजश्री को सम्बोधन करते हुए कहा, "क्या इस प्रकार जगत में रहा जा सकता है ?"

महाराजश्री– यह जगत में रहते हुए जगत से निकल जाने का मार्ग है । यदि तुम प्रतिक्रिया व्यक्त करने में या अपनी सफाई देने में लग गए, या अपने आलोचकों के प्रति तुम नें अपने मन में घृणा का भाव भर लिया तो तुम्हारे अन्दर का संसार कभी भी विलीन नहीं होगा, अपितु संस्कार बढ़ते ही जाएँगे । तुम जगत के प्रति अधिकाधिक आसक्त होते जाओगे । जगत के प्रसन्नता-अप्रसन्नता से भरे वातावरण में सदैव प्रसन्नता बनाए रखना ही एकमात्र सुख का मार्ग है ।

यदि तुम चले गए तो क्या तुमने सोचा है कि सेवा का तुमने जो संकल्प लिया है, उसका क्या होगा ? क्या सेवा की अपेक्षा तुम आस-पास की अनुकूलता-प्रतिकूलता को अधिक महत्व नहीं दे रहे हो ? जगत सदैव सन्मार्ग से हटाने का प्रयत्न करता रहता है । उसे न ठीक रास्ते पर स्वयं चलना है, न किसी को ठीक रास्ते पर चलते देखकर प्रसन्न होना है । थोड़ी सी भी विपरीत हवा चलते देखकर, मैदान छोड़कर भाग जाना कायरता है । ऐसा कायर बनने की मैं तुम्हें कैसे राय दे सकता हूँ ?

प्रश्न– क्या आप इन परिस्थितियों को सुधार नहीं सकते ?

महाराजश्री– अवश्य सुधार सकता हूँ, किन्तु इससे तुम्हारा शुद्धिकरण का क्रम रुक जायेगा । अभी तक भी तुम अनुकूल परिस्थितियों के मोह का त्याग नहीं कर पा रहे हो । अभी तक भी तुम ने साधन के मर्म को ग्रहण नहीं किया है । तुम्हारा कल्याण इसी में है कि लोग तुम्हें टोंचते रहें । तुम्हारा अन्तर लहूलुहान हो जाय । तुम्हारे रोम-रोम से रुधिर प्रवाह फूट निकले । तुम्हें रात को निद्रा सुख भी उपलब्ध न हो, किन्तु फिर भी चित्त की संतुलित अवस्था बनी रहे । यही तो साधन है । यही तप है ।

प्रश्न– महाराज जी ! यह कर पाना मेरे लिये कठिन है ।

महाराजश्री– यही तुम्हारी भ्रान्ति है । इसी भ्रान्ति को दूर करने के लिए मैं प्रयत्नशील हूँ । तुम यह सब अवश्य ही कर सकते हो । यही सब करने के लिए तुम घर से निकले हो । अब यही सब करना तुम्हारे जीवन का एकमात्र प्रयोजन है । आदर, प्रतिष्ठा, यश यह सब माया का छलावा है । अध्यात्म, अन्तर के आवरणों को उतारकर, अन्तर से यथार्थ ज्ञान-प्राप्ति का मार्ग है । ईश्वर के लोक में प्रतिष्ठित होने का मार्ग है । इसके लिये पहले जगत से हटना पड़ता है । जगत में अपमान तथा अपयश सहन करना, जगत से हटने का उपाय है ।

प्रश्न– स्वामी गंगाधर तीर्थ महाराज ने क्रियात्मक रूप से निवृत्ति मार्ग का प्रतिपादन किया है ।

महाराजश्री– स्वामी गंगाधर तीर्थ महाराज अकस्मात् इस स्थिति में नहीं आ गए थे । पहले उन्होंने कितने पापड़ बेले होंगे ! क्या-क्या कुछ नहीं सहन करना पड़ा होगा ! कितने लोगों की कैसी-कैसी बातें सुननी पड़ी होंगी, तब जाकर उन्हें स्वाभाविक निवृत्ति अवस्था प्राप्त हुई । तुमने सूर्य का उदय देखा है, उसे अंधकार का गहन आवरण उतारते नहीं देखा ।

मैं चुप हो गया । महाराजश्री उठकर अपने कमरे में चले गए । मैं बाहर बैठकर गंगा जी की तरफ निहारने लग गया था । आश्रम के सामने लगे वृक्षों से टकरा कर दृष्टि गंगा जी पर पड़ रही थी । परले पार गीता भवन, हिमालय की वात्सल्यमयी गोद में विश्राम पा रहा था । कुछ दिन पूर्व ही महाराजश्री ने गीता भवन की उपमा अनासक्त कर्म-योग से की थी । क्या आज महाराजश्री उसी ओर संकेत कर रहे थे ? किन्तु आज उन्होंने कर्मयोग के साथ सहन शीलता तथा क्षमाशीलता का भी समावेश कर दिया था । कोई प्रतिकार नहीं करने की शर्त भी लगा दी थी । कितना कठिन है यह सबकर पाना ! महाराजश्री मुझे वह कार्य करने के लिए कह रहे थे जिसे करने में संभवतः संसार में कुछ लोग ही समर्थ होंगे । भागो भी नहीं, सहन करो, प्रतिकार भी नहीं करो, सेवा भी नहीं त्यागो ।

एक बात स्पष्ट थी कि महाराजश्री ने मेरे आश्रम छोड़कर चले जाने के विचार को मान्यता नहीं दी थी । ऐसी मान्यता उन्होंने कभी भी नहीं दी । महाराजश्री का सिद्धान्त यह था कि न किसी को आने से कभी मना करते थे, न ही जाने वाले को रोकते थे । फिर मेरे लिए उन्होंने अपना यह सिद्धान्त क्यों उलट दिया ! मेरे जाने का प्रसंग उपस्थित होने पर सदैव अनिच्छा ही प्रकट की । यह भी ठीक है कि चरणों से दूर जाने का मेरा मन भी नहीं होता, किन्तु परिस्थितियों का क्या जाय ?

मुझे और तो कुछ सूझा नहीं, भागकर महाराजश्री के कमरे में घुस गया तथा निवेदन किया, "महाराज जी, दो प्रश्न हैं, अनुमति हो तो कहूँ ?"

महाराजश्री ने मेरी ओर देखा, फिर कहा, "बोलो"

प्रश्न– एक तो आपने कर्मयोग के साथ सहनशीलता, क्षमाशीलता तथा अप्रतिकार को जोड़ दिया है, वह क्यों ? दूसरे, आपने कभी किसी को जाने से रोका नहीं, किन्तु मेरी स्थिति में ऐसी बात नहीं है । आपने सदैव अनिच्छा प्रकट की है । वह क्यों ?"

महाराजश्री– (कुछ सोचकर) देखो ! कर्त्तव्य कर्म करना कर्मयोग है, कर्त्तव्य से भागना नहीं, किन्तु कर्मफल को सहनशीलता से भोग लेना भी कर्मयोग के अन्तर्गत् ही है । कर्मफल को अप्रतिकारपूर्वक भोग लेना भी कर्मयोग से अन्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कर्म अपना फल देगा ही । कर्मयोग का प्रयोजन प्रारब्ध को क्षय करना है । मन की उदारता तथा कर्म में अनासक्ति क्षमाशीलता का प्रयोजन है । मैंने कुछ जोड़ा है, न निकाला है ।

रही बात यह कि किसी को जाने से कभी नहीं रोका, फिर तुम्हें ही क्यों, तो सब की अपनी-अपनी भूमिका है, जिसके अनुसार ही व्यवहार किया जाता है । पिता के साथ पिता की तरह, पुत्र के साथ पुत्र की तरह, फिर सब की अपनी-अपनी मन: स्थिति है । भगवान कृष्ण ने अर्जुन को प्रवृत्ति-मार्ग का उपदेश दिया, किन्तु उद्धव जी को निवृत्ति का । यह अन्तर अर्जुन तथा उद्धव जी की परिस्थितियों तथा मन: स्थिति के अन्तर के कारण है । एक ही लाठी से सब को कैसे हाँका जा सकता है ! रोग तथा स्थिति देखकर रोगी को आहार दिया जाता है ।

सुनकर मैं शान्त रह गया, किन्तु फिर भी मेरा मन शान्त नहीं हुआ । जब बाहर से कोई चुभन हो रही हो, तो मन शान्त हो भी कैसे सकता है ! पर अभी तो मेरे सामने महाराजश्री का स्पष्ट मंतव्य था, इसलिए बात को समाप्त कर दिया । एक पुस्तक में पढ़ा था । (अब याद नहीं किस में) कि शिष्य को कुत्ते की तरह गुरु के द्वार पर पड़े रहना चाहिए । खाने को कुछ मिले या नहीं, प्रेम हो या अपमान, गरमी-सर्दी हो या अँधेरा-उजाला, उसे दर छोड़ कर कभी भी, अन्यत्र नहीं जाना चाहिए । शिष्य को गुरु के द्वार से दूसरा कोई नहीं हटाता, अपना मन ही हटाता है । कई प्रकार के बहाने बनाता तथा भ्रान्तियाँ उपजाता है, भय पैदा करता तथा प्रलोभन देता है । मन ही मनुष्य का सबसे बड़ा विरोधी है ।

(२६) जल-प्रवाह में विघ्न

कई दिनों से मन में कुछ प्रश्न उठ रहे थे । कई बार महाराजश्री से इस विषय पर बात करने का प्रयास किया, किन्तु उचित अवसर नहीं मिल पा रहा था । एक दिन पूछ ही लिया ।

प्रश्न– महाराज जी ! आजकल योग के नए-नए प्रकार आविष्कृत हो रहे हैं । वे लोग ऐसा प्रचार करते हैं कि प्राचीन शास्त्रों को नदी में प्रवाहित कर दो । पुरानी मान्यताओं को ठुकरा दो । हमारा योग ही जगत के लिए कल्याणकारी है । भक्ति की नई-नई शाखाएँ फूट रही है । नए-नए इष्ट एवं सिद्धान्त प्रकट हो रहे हैं ।

महाराजश्री– यह अध्यात्म रूपी नदी के उन्मुक्त जल-प्रवाह में विघ्न के समान हैं । कलियुग के लक्षणों में यह भी एक लक्षण कहा गया है कि नए-नए सम्प्रदाय एवं सिद्धान्त प्रकट होंगे । सब अपने आप को ही सच्चा गुरु घोषित करेंगे । जो भी व्यक्ति कुछ नया घड़ता है, वह प्राचीन सिद्धान्तों पर कालिख पोतने का प्रयत्न करता है । कपड़े बदलने मात्र से मनुष्य नहीं बदल जाता । केवल शब्दावली, व्याख्या एवं प्रस्तुतिकरण नया कर देने से सिद्धान्त नया नहीं हो जाता । यदि यहाँ तक आते-आते जल पानी हो गया है तो जल के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आया । यदि विचार कर देखा जाए तो नए सिद्धान्त शास्त्र-वर्णित विचारों का ही रूपान्तर हैं । नए सम्प्रदायों के रूप में मनुष्य के मन का अभिमान तथा स्वार्थ, लोकेषणा की भूख तथा बड़प्पन की प्यास ही परिलक्षित होती है । कलियुग में माया का विस्तार अत्यन्त बढ़ जाता है । स्वार्थ हर क्षेत्र में अपने पाँव पसार रहा है । जुगनू भी चमकते सूरज होने की भ्रान्ति पाल लेते हैं । धर्म मनुष्य के जीवन का अभिन्न अंग है, इसलिए यह सभी लक्षण इस क्षेत्र में भी प्रकट हो रहे हैं ।

आज राजनीति का प्रभाव बढ़ रहा है । मनुष्य में अपने पीछे, अधिक से अधिक जन समुदाय को आकर्षित करने की वृत्ति पनप रही है । कुछ लोग राजनैतिक संगठनों के रूप में लोगों को एकत्रित कर लेते हैं, तो कुछ धर्म के नाम पर । आज राजनीति में भी हर व्यक्ति अपनी अलग पार्टी खड़ी करना चाहता है । धर्म के नाम पर भी अपना नया सम्प्रदाय बना लेना चाहता है । इसके लिए एक नए सिद्धान्त की आवश्यकता होती है । पुरानी शराब ही नई बोतलों में भरी जाती है । पुराने घर को ही नया रूप-रंग दे दिया जाता है । फिर नए-पुराने के अन्तर को दर्शाने के लिए साहित्य रचना की जाती है, युक्तियाँ तलाशी जाती हैं, प्रवचन तथा आयोजन किए जाते हैं, तथा लोगों को अधिक से अधिक लुभाने का प्रयत्न किया जाता है, यही कलियुग है ।

जो भी नया सम्प्रदाय उठता है, लोगों को यही समझता है कि अभी तक आपको धर्म के नाम पर लूटा गया है, भ्रमित किया गया है, आपको मूर्ख बनाया गया है । आपका कल्याण करने के लिए सही मार्ग का संदेश लेकर हम ही आए हैं । आओ, हमारे पीछे

पंक्तिबद्ध हो जाओ । पुरानी मान्यताओं, भ्रान्तियों तथा अंधविश्वासों को थूँक दो । हम आप के जीवन में खुशियाँ भर देंगे । आपको भागवत शक्ति से सराबोर कर देंगे । हम आपके उद्धारक तथा कल्याणकारक हो कर आए हैं । कुछ समय के पश्चात् उस नवोदित सम्प्रदाय की सड़ाँध बाहर आने लगती है, उसका वास्तविक चेहरा बेनकाब होने लगता है, तब एक नया सम्प्रदाय खड़ा होकर, उसे भी गालियाँ देने लगता है तथा अपने आपको मसीहा घोषित कर देता है । यह चक्र इसी प्रकार घूमता रहता है ।

प्रश्न– किन्तु इन नए-नए समुदायों में से किसी-किसी के पास अनुयायियों की भारी संख्या है । मठों, मंदिरों तथा केन्द्रों की बहुतायत है । अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उनके आयोजन होते हैं । उनके भक्तों में श्रद्धा भी अटूट है !

महाराजश्री– इससे क्या अन्तर पड़ता है ? इन सबमें कोई नया तथा सशक्त सैद्धान्तिक आधार नहीं हो कर, केवल संगठन क्षमता है । कभी उस सम्प्रदाय के विकार भी सामने आने लगते हैं, फिर उन में भी फूट पड़ जाती है । उसके भी एक के पश्चात् एक, कई विभाजन होते चले जाते हैं । अन्ततः वह दम तोड़ देता है ।

आध्यात्मिक सिद्धान्त सहस्त्राब्दियों पुराने हैं । बड़ा लम्बा इतिहास है उनका । देश तथा काल के अन्तर से उनके क्रियान्वयन में परिवर्तन अवश्य होता रहता है । उनके अन्तर्गत कई सम्प्रदाय तथा कई शाखाएँ हैं । इस ज्ञान तथा विकास में वृद्धि भी होती रहती है । कई बार उसमें बहुत सारी विकृतियाँ भी आ जाती है । यह विकृतियाँ, सिद्धान्तों में नहीं उनके अनुयायियों में होती है । आलोचना करने वाले, सिद्धान्तों तथा उनके अनुयायियों में अन्तर नहीं कर पाते, सिद्धान्त को ही अमान्य कर देते हैं । ये आलोचक जीव मात्र को एक स्थान पर एकत्रित करने के नाम पर द्वेष तथा घृणा के बीज बोते हैं । कल्याण की बात करते हैं, किन्तु जन समुदाय को अकल्याण के गहरे गर्त में धकेलते रहते हैं । जब तक उनका प्रेम का नाटक चलता रहता है, वे सफल होते हुए प्रतीत होते हैं । नाटक समाप्त होते ही धड़ाम से नीचे आ जाते हैं ।

प्रश्न– कोई ऐसी पाबंदी नहीं लगाई जा सकती, जिससे यह नाटक भविष्य में चल ही नहीं पाएँ ?

महाराजश्री– पाबंदी कौन लगाए ? सरकार तो ये काम कर नहीं सकती । आजकल प्रजातंत्र का युग है । फिर यदि पाबंदी लगाने वालों में स्वयं में भी कभी विकृति आ जाए, तो उन पर पाबंदी कौन लगाएगा ? नए-नए सिद्धान्त घड़ने की बीमारी प्राचीन काल से चली आ रही है ।

प्रश्न– आजकल ब्रह्मचर्य पर भी कुछ क्षेत्रों से कड़े आक्रमण हो रहे हैं ।

महाराजश्री– यह भी वही एक ही बात है । वे जानते हैं कि ब्रह्मचर्य के नाम से सामान्य जन डरता है, इसलिए बिना बात को समझे ब्रह्मचर्य पर आक्रमण किए जाते हैं तथा उसका स्वरूप यथासंभव भयानक दिखलाकर जनता को भयभीत करते हैं । शास्त्रों ने ब्रह्मचर्य के दो स्वरूप वर्णित किए हैं, एक गृहस्थों का ब्रह्मचर्य, दूसरा विरक्तों का ब्रह्मचर्य । प्राचीन ऋषि प्राय: गृहस्थ थे । संतों में भी नामदेव, कबीर, नानक, तुकाराम, नरसी मेहता आदि अनेक गृहस्थ हो गए हैं । यह सब संत ब्रह्मचर्य के महत्व से भली भाँति परिचित थे तथा गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए भी ब्रह्मचारी थे । उनका गृहस्थ धर्म शास्त्रोक्त एवं संयत था । कई लोग दाम्पत्य सुख को बलात् एक ओर हटा देने को ही ब्रह्मचर्य मानते हैं, किन्तु ऐसा ब्रह्मचर्य केवल विरक्तों के लिए है । जो इस अन्तर को नहीं समझ पाते या समझना नहीं चाहते, वे ही ब्रह्मचर्य के पीछे लठ लिए घूमते हैं ।

काम-कला शक्ति के प्रसव-क्रम की स्वाभाविक क्रिया है । शास्त्रों ने सामाजिक स्तर पर सामान्य जनों को विरक्त-ब्रह्मचर्य का उपदेश नहीं दिया, वरन् शास्त्रानुमोदित गृहस्थ-ब्रह्मचर्य की ओर प्रेरित किया है, जिससे समाज में अनाचार भी न फैले, गृहस्थों की मनोवासना की पूर्ति भी होती रहे तथा वे अध्यात्म की ओर कदम भी आगे बढ़ा सकें, किन्तु आलोचकों का ब्रह्मचर्य के इस स्वरूप की ओर ध्यान नहीं जाता । वे ब्रह्मचर्य को ही कोसने लगते हैं ।

ऋषियों, संतों एवं महापुरुषों ने हर बात पर बड़ी सूक्ष्मता से विचार करने के पश्चात् ही अपने निष्कर्ष निकाले हैं । वे मानव के सकारात्मक तथा नकारात्मक दोनों पक्षों से पूर्णतया अवगत थे । वे जानते थे कि मनुष्य को कहाँ से उठाना है, तथा कौन सा आदर्श उसके समक्ष उपस्थित करना है । वे यह भी जानते थे कि उस आदर्श को एक ही छलाँग में प्राप्त नहीं किया जा सकता । जिस मनुष्य के अन्तर में काम वासना हिलोरें ले रही हो, वे उसे एकदम से दूर हटा देने के प्रयत्न करने का उपदेश देने की भूल कभी नहीं कर सकते थे । वे यह भी जानते थे कि मानव-मन ने कितना पशु-बल प्राप्त कर लिया हुआ है । उसे दबाने से नहीं दबाया जा सकता । दबाने पर वासनाएँ और अधिक वेग से उभरती हैं, इसलिए उन्होंने वासना के प्रेरणादायक संस्कारों को क्षीण करने के मार्ग का विचार समाज के समक्ष प्रस्तुत किया । जब तक यह न हो, तब तक संयत रहकर, वासना के सामने शास्त्रानुकूल समर्पण का मार्ग खुला छोड़ दिया । यही गृहस्थ का ब्रह्मचर्य है । अब इसमें भला किसी को क्या आपत्ति हो सकती है ? जो ब्रह्मचर्य के अंधाधुंध विरोध पर उतारू हैं, वे वासना भोग की खुली छूट देने के आकर्षक प्रलोभन के कारण ऐसा करते हैं, ताकि ज्यादा लोगों को अपनी ओर लाया जा सके ।

प्रश्न– सुख-भोगों से मुख मोड़ने में जीव इतना डरता क्यों है ? दिव्य जीवन के लिए क्या जीवन को समाप्त करना आवश्यक है ?

महाराजश्री– सुख भोगों का आकर्षण आसक्ति के कारण है । शरीर की आसक्ति ही उसे इस प्रकार की युक्तियों के प्रति प्रभावित करती है, जो वैराग्य की अनावश्यकता को दर्शाती है, अन्यथा अध्यात्म में जीवन को समाप्त क्यों कर किया जा सकता है ! साधन करने के लिए भी जीवन तथा शरीर की आवश्यकता है । शरीर को स्वस्थ रखने के लिए मनुष्य को प्रेरित किया जाता है, क्योंकि रोगी शरीर, व्यवहार तथा साधन के अयोग्य हो जाता है । अध्यात्म में शरीर साधन का आधार माना गया है, किन्तु भ्रान्ति फैलाकर लोगों का मति-भ्रम किया जाता है, यही आज का हथकंडा है । न ही मरने के पश्चात् सुख प्राप्त किया जा सकता है । उसे जीवन रहते हुए प्राप्त करना होता है । जो लोग इस प्रकार का भ्रामक प्रचार करते हैं कि अब मुक्ति लाभ के लिये मरना आवश्यक है, वे गुरु नानकदेवजी की इस पंक्ति को भूल जाते हैं, **'जीवित ही करो आसा, मोए मुकती कहें स्वारथी, घट में ब्रह्म प्रकासा,'** इसीको जीवन-मुक्ति की अवस्था कहा जाता है । इस प्रकार आध्यात्मिकता की प्राचीन मान्यताओं के प्रति भ्रान्तियाँ फैलाकर, अपनी सर्वोच्चता का झंडा गाड़ा जाता है ।

प्रश्न– जगत में दो प्रकार के गुरु हैं । एक शिष्यों की पूजा स्वीकार करते हैं, दूसरे नहीं करते । जो पूजा स्वीकार नहीं करते, उनके अनुयायी यह आक्षेप लगाते हैं कि हमारे गुरु महाराज अपनी पूजा नहीं करवाते हैं, जबकि आप के गुरु जी पूजा करवाते हैं ।

महाराजश्री– जो पूजा नहीं करवाते, वे भी पूजा स्वीकार करते हैं । बाह्य पूजा औपचारिकता मात्र है, वास्तविक पूजा आन्तरिक-मानसिक होती है । उनके शिष्य भी अपने गुरु महाराज के प्रति श्रद्धा रखते हैं तथा मन ही मन उन्हें श्रद्धा सुमन भेंट करते हैं, जिन्हें गुरु महाराज स्वीकार करते हैं । बाह्य पूजा केवल श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए है । श्रद्धा के अभाव में पूजा औपचारिकता मात्र ही रह जाती है । यह भ्रान्तियाँ आध्यात्मिक तत्वों-रहस्यों को नहीं समझ पाने के कारण होती हैं । यदि कोई जान-बूझ कर भ्रान्ति से ग्रसित होना चाहे तो क्या किया जा सकता है ?

प्रश्न– क्या साधन जीवन का रूपान्तरण कर देता है ?

महाराजश्री– और साधन का प्रयोजन ही क्या है ? यदि मनुष्य बदलकर सात्विक नहीं हो गया तो कैसा साधन ? जीवन को सुख का रूप प्रदान करना, मन को संतुलित कर शान्ति से भर देना, मित्र-शत्रु का भाव मिटाना, पाप-पुण्य से दूर हटाना, आसक्ति को समाप्त कर प्रेम-भाव का उदय करना, यह रूपान्तरण नहीं तो और क्या है ? यदि जीवन में रूपान्तरण उदय नहीं हुआ तो अध्यात्म का लाभ ही क्या है ? क्या सूरदास, तुलसीदास का रूपान्तरण नहीं हुआ था ? क्या कबीर या चैतन्य महाप्रभु के हृदय में प्रेम की कमी थी ? क्या

मीरा बाई या तुकाराम में नाम को भी राग-द्वेष था ? क्या ये लोग सदैव आनन्द में नहीं रहते थे ? क्या उन्होंने पृथ्वी पर स्वर्ग को नहीं उतार लिया था ? क्या आनन्द प्राप्ति के लिए उन्होंने मृत्यु तक प्रतीक्षा की ?

प्राय: लोग हवा में उड़ने वाले कोरे दार्शनिक होते हैं या दार्शनिक होने का दम भरते हैं । वासनाओं से घिरे हुए हैं, किन्तु बातें ऊँची-ऊँची करते हैं । मनुष्य के सामने तीन मुख्य समस्याएँ हैं (१) प्रारब्ध को समाप्त करना (२) कर्ताभाव को विलीन करना (३) चित्त की संतुलित अवस्था प्राप्त करना । यह सब होने पर ही जीवन का रूपान्तरण संभव है । तभी आध्यात्मिक उन्नति के आगे का मार्ग प्रशस्त होगा । केवल बातें बनाने में क्या लगता है !

हमारे एक गुरु बंधु थे पं. दिलीप दत्त शर्मा उपाध्याय । किसी समय वह आर्य समाजी रहे थे । बाद में उन्होंने गुरुदेव श्री योगानन्द महाराज से दीक्षा ले ली थी । एक बार आर्य समाजियों के साथ उनकी कुछ बातचीत चली । उनसे प्रश्न किया गया कि आप मुक्ति के पश्चात् पुनरागमन मानते हैं ? याद रहे कि आर्य समाज की ऐसी मान्यता है कि जीव मुक्त हो जाने के कुछ समय पश्चात् पुन: लौट आता है । उपाध्याय जी ने क्या सुन्दर उत्तर दिया, "देखिए ! मुक्ति आप भी मानते हैं, तथा हम भी मानते हैं । अभी तक न हम मुक्त हुए हैं, न आप हुए हैं । पहले हम दोनों मुक्ति तक तो पहुँच जाएँ । फिर यदि वहाँ रहना होगा तो वहीं रहेंगे, वापिस आना पड़ा तो वापिस आ जाएँगे । अभी यह वाद-विवाद निरर्थक है ।"

सर्वप्रथम चित्त की संतुलित अवस्था रूपी जीवन का रूपान्तरण प्राप्त करना होगा । चाहे किसी साधना-विशेष से हो या शक्ति की कृपा से, उसके पश्चात् ही अध्यात्म की सीढ़ियों का द्वार खुलेगा । संतुलित अवस्था में ही मन में प्रेम भर सकता है । जो लोग जन्म-जन्मान्तर तक ज्ञान, भक्ति, योग तथा कर्म की कठिनतम साधनाओं के अभ्यास से अनेक प्रकार की आध्यात्मिक परीक्षाओं में से उत्तीर्ण हुए हैं, जिन्होंने अनेकानेक अन्तर्बाह्य अनुभव प्राप्त किए हैं, जिन्होंने वर्षों गहरे चिन्तन के द्वारा मथ कर गूढ़ निष्कर्ष निकाले हैं, उनकी मान्यताओं को कलम की एक ही घसीट से झुठला देना उचित नहीं । इस बात के हम भी पक्षपाती नहीं हैं कि कोई आँख मूँदकर ही किसी बात को ग्रहण कर ले । उसके साथ स्वतंत्र चिन्तन भी आवश्यक है । कई प्रकार के शास्त्र हैं, उनमें कई बातें परस्पर विरोधी भी दिखाई देती हैं । उसका कारण है मन: स्थिति, परिस्थितियों तथा साधन-क्रम का अन्तर तथा प्रस्तुतीकरण का अपना-अपना ढंग । इसलिए यह सिद्धान्त स्थापित किया गया कि सत्य एक है, किन्तु विद्वानों ने उसे अनेक प्रकार से परिभाषित किया है । शास्त्रों को समझने के लिए साधक में समन्वय वृत्ति आवश्यक है । तुलनात्मक दृष्टिकोण अध्यात्म का अहित ही करता है । यह समन्वय साधना से आ पाना ही संभव है । जब तक यह नहीं हो, तब तक साधक को कोई सा भी एक मार्ग, जो उसे अपने अनुकूल लगे, चुन लेना चाहिए । मार्ग सभी

अच्छे हैं। मार्गों पर चलने वाले अच्छे या बुरे हो सकते हैं। साधक को अपने मार्ग पर दृढ़ रहते हुए, अन्य मार्गों का भी आदर करना चाहिए। जो यह कहता है कि मेरा मार्ग ही उत्तम है, बाकी सब भटक रहे हैं, वह अभी तक साधन के मर्म को समझा ही नहीं।

आधुनिक युग में यह समस्या खड़ी हो गई है कि साधकों ने अन्य मार्गों का आदर करना छोड़ दिया है। सभी अपनी-अपनी साधन-प्रणाली को सही सिद्ध करने में लगे हैं तथा एक-दूसरे पर कीचड़ उछाल रहे हैं। यह वृत्ति अध्यात्म को किस गर्त में ले जा कर पटकेगी, भगवान ही जानते हैं। वैसे जगत कभी भी एकमत नहीं हो सकता, क्योंकि नानात्व का नाम ही जगत है। यदि नानात्व समाप्त हो जाए तो जगत भी शेष नहीं रहेगा। मत-वैभिन्य तथा विरोध को सहन करना, आदर करना, प्रेम करना, यही साधक का कर्त्तव्य है। इसी में साधक तथा साधना का हित है।

मुगल बादशाह शाहजहाँ के समय में फिलीस्तीन में एक सूफी संत सरमद हुआ, जो वहाँ से ईरान तथा फिर दिल्ली आ गया। यहाँ आकर शहज़ादा दारा शिकोह से उसकी घनिष्ठता हो गई। कहा जाता है कि वह आधा कलमा 'ला इला' (अल्लाह नहीं है) पढ़ा करता था। जब औरंगजेब बादशाह बना तो उसे पकड़ लिया गया। उस पर यह इल्जाम लगाया गया कि आधा कलमा पढ़ता है जो कि कुफ्र है। इसका अर्थ यह निकलता है कि परमात्मा नहीं है। यह नकारात्मक दृष्टिकोण है। उसे अदालत में पेश कर पूछा गया कि आधा कलमा क्यों पढ़ता है ? उसने कहा –

"अब तक मुझे भगवान के दर्शन नहीं हुए, इसलिए मैं यह गवाही कैसे दे सकता हूँ कि भगवान हैं ? यदि दर्शन हो गए तो पूरा कलमा पढ़ा करूँगा।"

लोग कोई अनुभव हुए बिना ही गवाही देने लग जाते हैं, तथा जिन्होंने कुछ अनुभव प्राप्त कर लिए हैं, उनको झूठा कहते हैं।

मेरा मन अपनी ही मलीनता से झुका जा रहा था। महाराजश्री जिस अमृत सागर में गहरे उतरते जा रहे थे, मैं उस साग़र की एक बूँद पाने को लालायित था, तड़पता था। उनका एक-एक वाक्य, एक-एक दृष्टांत, एक-एक तर्क तथा एक-एक अनुभव हृदय को छूता था। मैं मथता जा रहा था। उनके श्री चरणों में मेरा मस्तक झुकता चला गया।

(२७) केदारनाथ यात्रा

महाराजश्री का स्वास्थ्य कुछ ठीक नहीं था, किन्तु बद्री-केदार जाने का कार्यक्रम पहले ही बन चुका था। साथ चलने के लिए कोई बीस एक लोग बाहर से आ भी चुके थे। कुछ लोगों का कहना था कि अस्वस्थता के कारण महाराजश्री को जाने का कार्यक्रम निरस्त कर देना चाहिए, किन्तु उन्होंने कहा कि केदारनाथ तो वह जाएँगे ही तथा बद्रीनारायण जाने

के बारे में विचार करेंगे । उन दिनों केदारनाथ मार्ग पर बस कुण्ड चट्टी तक जाती थी । आगे की यात्रा पैदल या घोड़े पर करनी होती थी । महाराजश्री से बहुत आग्रह किया गया कि उनके लिये एक घोड़ा कर लिया जाय, किन्तु उन्होंने स्वीकार नहीं किया । रात्रि-विश्राम के लिए रास्ते में एक चट्टी पर रुके, तो महाराजश्री ने कहा, "अब मैं अभी नहीं मरूँगा, क्योंकि रात को मुझे स्वामी नारायण तीर्थ देव महाराज के दर्शन हुए, तथा आशीर्वाद मिला है ।"

अगले दिन से महाराजश्री के स्वस्थ्य में काफी सुधार होने लगा था । ऊबड़-खाबड़ पहाड़ी रास्तों पर चलते भी जाते थे तथा पारमार्थिक चर्चा भी करते जाते थे । मैंने कहा, "बाकी आपकी सारी बातें तो मुझे समझ आती हैं किन्तु अप्रतिकार को मन अभी तक स्वीकार नहीं कर रहा है । इस प्रकार तो संसार में भ्रान्तियाँ फैलती रहेंगी !

महाराजश्री– अपयश में ही तुम्हारा परमार्थ छिपा है । जब शंकराचार्य महाराज ने कहा कि सभी दुःखों, कष्टों, क्लेशों को अप्रतिकारपूर्वक सहन करो तो उनके मन में मानसिक दुःखों का विषय ही था, ऐसी मेरी मान्यता है । क्योंकि यही सबसे अधिक दुखदायी हैं । साधक उन्हें प्रसन्नतापूर्वक शांतचित्त सहन करता है, तभी तो उसका प्रारब्ध क्षीण होता है । अभी तुम्हें समझ नहीं आ रही है, धीरे-धीरे आने लगेगी । अभी तुम मेरी बात पर श्रद्धा रखते हुए, उसके अनुसार व्यवहार करो ।

प्रश्न– क्या आप का अप्रतिकार का उपदेश सब के लिए है ?

महाराजश्री– उपदेश तो सभी के लिए है, किन्तु सबसे मैं इसके पालन की आशा नहीं करता । सबकी अपनी-अपनी मानसिक स्थिति तथा परिस्थितियाँ हैं, इसलिए सबको ऐसी बात कहता भी नहीं । तुम्हें अवश्य कहता हूँ, क्योंकि मुझे विश्वास है कि तुम इसके अनुसार चल सकते हो । इसमें तुम्हें मानसिक क्लेश बहुत होगा, किन्तु उसे सहन करने में ही तुम्हारा कल्याण है ।

मैं सोचता जा रहा था कि यदि महाराजश्री ने मुझ पर विश्वास व्यक्त किया है तो मुझे भी उस पर खरा उतरने का भरसक प्रयास करना होगा, किन्तु क्या मैं यह सब कर पाऊँगा ? बड़े-बड़े साधक भी यह कर पाने में असमर्थता अनुभव करते हैं । गुरुओं की थाह कौन पा सकता है ? यदि महाराजश्री ने इतने निश्चयपूर्वक कहा है तो उनके मन में अवश्य ही कोई संकल्प होगा । मैं उन्हें नहीं समझ सकता, किन्तु वह तो मेरे बारे में पूरी तरह अवगत हैं । प्रयत्न करना कर्त्तव्य है, परिणाम गुरु जी पर छोड़ देना चाहिए ।

एक अन्य सह-यात्री ने प्रश्न किया, "हमारे मुहल्ले में एक कुत्ता है, जो न जाने कैसे अंधा हो गया है । दूसरे कुत्ते जब उसे मारते-काटते हैं, तो वह कुछ नहीं कर पाता । कोई उसे खाने को कुछ डालता है, तो दूसरे कुत्ते छीनकर ले जाते हैं । यह सब भी प्रारब्ध ही होगा । वह कुछ भी प्रतिकार नहीं कर सकता ।"

महाराजश्री– अप्रतिकार का साधन, अंधे का साधन नहीं है । वह कुत्ता अंधा है इसलिए प्रतिकार नहीं कर सकता, किन्तु साधक अंधा नहीं है । उसके मुँह में जबान भी है । वह चाहे तो प्रतिकार कर सकता है । संभवतया दूसरों की बोलती बंद कर देने की क्षमता भी रखता है, पर नहीं बोलता, कोई प्रतिकार नहीं करता । वह अपमान तथा अपयश सहन करता है, फिर भी दूसरों से प्रेम करता है । यही साधक का स्वरूप है ।

प्रश्न– किन्तु लोग कहाँ इस भाव को समझते हैं ?

महाराजश्री– लोग इस भाव को नहीं समझते, तभी तो साधक को तपने का अवसर प्राप्त होता है । साधक को लोगों को नहीं, अपने मन को समझाना है । लोगों की चिन्ता करो या मन की । संसारी बहिर्मुखी होता है, इसलिए लोगों की चिन्ता करता है । संसारी मन तथा जगत को मिला कर एक कर लेता है । साधक मन को जगत से अलग कर देता है । संसारी तथा साधक का मेल नहीं ।

एक अन्य सह-यात्री– अच्छा महाराजश्री ! एक और बात पूछनी है । तीर्थों की स्थापना इतने दुर्गम स्थानों पर क्यों की गई है ?

महाराजश्री– तुम्हारी दृष्टि में इस समय केवल हिमालय के तीर्थ ही हैं । तीर्थ कष्ट तथा अपमान सहन करने के उद्देश्य से विकसित किए गए हैं । अपनी शारीरिक तथा मानसिक क्षमता के अनुसार जो जितना सहन कर सके, वैसी तीर्थ यात्रा चुन सकता है । जिसकी सहनशीलता की क्षमता अधिक है, तो उसे सुगम्य तीर्थों पर जाकर तपने का अवसर प्राप्त ही नहीं होगा । उसके लिए कठिन यात्राएँ हैं, किन्तु वृन्दावन, अयोध्या, काशी दक्षिण तथा उड़ीसा के सुगम्य तीर्थ भी हैं । जिसकी जैसी शारीरिक क्षमता हो, जैसी सहनशीलता हो, वैसी ही यात्रा की जा सकती है । सामान्य यात्री गंगोत्री तक जाते हैं, अधिक उत्साही तथा सहनशील गोमुख की यात्रा करते हैं । यात्राओं का दूसरा उद्देश्य ज्ञानार्जन करना है । विभिन्न लोगों, संस्कृतियों, प्राकृतिक परिस्थितियों, दृश्यों, भाषाओं तथा रीति-रिवाजों का ज्ञान । एक प्रभु की सत्ता के विभिन्न स्वरूप । कष्ट तथा अपमान को सहन कर प्रारब्ध को क्षीण करना, अपने मन को संयत करना तीसरा प्रयोजन है ।

हम गौरी कुण्ड पहुँच गए थे । पहले एक चट्टी पर डेरा किया, फिर तप्त कुण्ड में स्नान कर थकावट उतारी । रात के समय एक यात्री ने बात छेड़ी कि भगवान की कैसी महिमा है ! इतने ठण्डे प्रदेश में गरम पानी की कैसी सुन्दर व्यवस्था कर दी है !

महाराजश्री– ऐसी सुन्दर व्यवस्था गंगोत्री, यमुनोत्री, बद्रीनारायण तथा केदारनाथ सभी जगह है । यहाँ स्थायी निवास करने वाले महात्मा प्रायः इन्हीं के सहारे, सर्दियों में अपना समय व्यतीत करते हैं । तप्त कुण्ड के आस-पास कुछ स्थान में या तो हिमपात् होता ही नहीं, यदि हो जाए तो ठहरता नहीं ।

प्रश्न– यदि मन भी इन तप्तकुण्डों की भाँति निर्मित हो जाए कि विषय रूपी हिमपात् से वह प्रभावित ही नहीं हो, तो कितना अच्छा है ?

महाराजश्री– मन को तप्तकुण्ड की भाँति, विषय रूपी हिमपात् से सुरक्षित रखना ही साधन का प्रयोजन है । ऐसा मन ही आत्म-लाभ का अधिकारी होता है । बाहर से हटेगा, तभी तो अन्तर की ओर जा पाएगा ।

प्रात: काल कुण्ड स्नान तथा चाय-नाश्ते के बाद हमने केदारनाथ के लिए प्रस्थान किया । ऋषिकेश से केदारनाथ की दूरी १३२ मील है तथा गौरी कुण्ड से आठ मील । रास्ता मंदाकिनी नदी के साथ-साथ ऊपर चढ़ता है । नीचे एकदम हरियाली । जैसे-जैसे ऊपर चढ़ते चले जाते हैं, हरियाली का नामोनिशान समाप्त होता जाता है । किसी समय उत्तराखण्ड की यात्रा भारत की कठिनतम यात्राओं में गिनी जाती थी । वह भी एक समय था जब बद्रीनारायण में केवल पुजारी ही रह गया था, जबकि दर्शनार्थी एक भी नहीं था । पुजारी भूखा मरने लगा तो मूर्ति को तप्त कुण्ड में फेंककर, स्वयं भाग गया । अब यह भी एक समय है जब प्रति वर्ष लाखों यात्री आते हैं, तथा सभी प्रकार की सुविधाएँ यहाँ उपलब्ध हैं । उन दिनों यात्री यह सोचकर यात्रा के लिए पाँव बाहर निकालता था कि पता नहीं वापिस आने को मिलेगा भी या नहीं ।

चढ़ाई कठिन थी, महाराजश्री अस्वस्थ थे, धीरे-धीरे ठहरते-ठहरते सब चले जा रहे थे । कुछ हलकी-फुलकी बातें भी चल रही थीं । एक यात्री ने कहा, "सब को ज्ञात है कि एक दिन मृत्यु अवश्यंभावी है, फिर भी वासनाओं को लपकता है ।"

महाराजश्री– मनुष्य की समझ पर यही तो आश्चर्य होता है । नदी में पाँव लटकाए बैठा है, किनारा जल-प्रवाह के वेग से कटता जा रहा है, मनुष्य कभी भी प्रवाह में बह सकता है, किन्तु पीछे घूम कर जगत को देख रहा है । मृत्यु उसकी ओर भागी आ रही है, किन्तु वह उदासीन बना है । महान विस्मय है ।

प्रश्न– किन्तु यदि कोई समझाना चाहे तो समझता भी नहीं ।

महाराजश्री– अरे ! संत समझा-समझा कर थक गए, किन्तु यदि कोई समझना चाहे तो समझे न ! मनुष्य ने तो कानों में जैसे रूई ठूँस रखी है । शब्द कान से बाहर से ही टकरा कर लौट आते हैं । ऐसा नहीं कि सारा संसार ही एक जैसा है । बीच-बीच में बुद्धिमान लोग बात को समझते भी हैं तथा ग्रहण करने का प्रयास भी करते हैं । पर हाँ ! जगत के प्राय: लोगों की स्थिति ऐसी ही है । साधक लोग भी जगत से हटने में कठिनाई अनुभव करते हैं, किन्तु ऐसे साधक अपना ही सत्यानाश करते हैं ।

इस प्रकार बातें करते चढ़ाई समाप्त हो गई थी तथा हमारे समक्ष समतल भूमि थी । सामने बर्फ से ढँका, सफेद चादर ओढ़े उच्च पर्वत शिखर हमारे स्वागत के लिए तैयार था ।

हम समुद्र की सतह से बारह हजार फीट ऊपर चल रहे थे । संसार का कोलाहल बहुत नीचे छूट गया था । हम जितना ऊपर जाते जा रहे थे, उतना ही आनन्द सागर में गहरे उतरते जाते थे । महाराजश्री ने अपने अतीत की एक घटना इस प्रकार सुनाई --

"उन दिनों की बात है जब मैंने अभी दीक्षा नहीं ली थी । साधन में रुचि तो थी ही, किन्तु मन बड़ा बेचैन था । विरह की अग्नि से हृदय हरदम झुलसता रहता था । बीच-बीच में कभी मन के विकार भी सिर उठाकर हृदय में कुछ खलबली सी मचा देते थे, जिससे मैं और भी तड़पने-सिसकने लगता था । कभी निराशा छा जाती थी तो जप, ध्यान या किसी अनुष्ठान में मन को लगाने का यत्न करता था, किन्तु इन सबसे क्या होता है !

एक महात्मा के दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, तो उनके सामने अपनी व्यथा-कथा कह सुनाई । सुन कर कुछ देर वह मौन रहे । फिर कहा कि उनके विचार में यही एक उपाय है कि समुद्र की सतह से आठ हजार फुट ऊपर ही निवास करते हुए तुम साधन करो । जब तक तुम्हारी समस्या का समाधान नहीं हो जाए, नीचे उतरो ही नहीं । आज यहाँ आकर मुझे उन महात्मा की बात याद आ रही है ।"

प्रश्न– किन्तु महाराज जी ! ऐसा तो कोई विरक्त ही कर सकता है ! गृहस्थों के पीछे सौ उत्तरदायित्व हैं । वे यह कैसे कर सकते हैं ?

महाराजश्री– गृहस्थों के लिए यह उपाय है भी नहीं, किन्तु विरक्त भी यह कहाँ कर पाते हैं ! नामको तो विरक्त होते हैं, किन्तु मन से शुद्ध संसारी । सुविधाओं तथा व्यवस्थाओं की आशा करते हैं । बातें करने के लिये तथा अपनी सेवा कराने के लिए उन्हें कुछ लोगों की आवश्यकता होती है । कुछ सेवा-भेंट भी आती रहनी चाहिए । ऐसे लोग ऊँचे पहाड़ों पर जाकर क्या एकान्तवास कर सकते हैं ?

प्रश्न– फिर आप ने यह उपाय किया ?

महाराजश्री– नहीं किया । अभी विचार चल ही रहा था कि गुरुदेव योगानन्द जी महाराज से दीक्षा हो गई । सारा साधन-क्रम ही बदल गया । वैसे दीक्षा के पश्चात् भी किसी पर्वतीय स्थान पर एकान्त में रहकर साधन करता, तो लाभ ही होता, किन्तु योग ही नहीं आया । जीवन के निर्माण में प्रारब्ध का बड़ा हाथ है ।

एक यात्री– दीक्षा के पश्चात् इस प्रकार के उपायों की आवश्यकता भी नहीं ।

महाराजश्री– विरक्तों को आजकल भी आवश्यकता है । गृहस्थ भी यथा संभव, समय तथा अनुकूलता प्राप्त होने पर, यह करते रहें, तो उत्तम ही है । दीक्षा का परिणाम तथा अवस्था सम्प्रति वह नहीं है जो किसी समय हुआ करती थी ।

इस ऊँचाई पर आ कर आक्सीजन की कमी हो गई थी । कुछ लोगों को साँस लेने में भी कष्ट होने लगा था । कुछ बूँदाबाँदी भी हो रही थी । छाता किसी के पास था नहीं । सबने गरम कपड़े पहन रखे थे, फिर भी सर्दी में ठिठुर रहे थे । जैसे-तैसे केदारनाथ पहुँच गए ।

मुझे पिछली एक घटना याद आ गई । अब मंदाकिनी में स्नान करने पर सरकारी पाबंदी लगा दी गई है । पहरे पर पुलिस का सिपाही खड़ा रहता है, किन्तु उस समय जब मैं पहलीबार यहाँ आया था, तब कोई पाबंदी नहीं थी । हम लोगों ने उस समय स्वयं भी मंदाकिनी में स्नान किया था । नदी पर जमी बर्फ को हटा कर घाट खुला कर दिया था । हमारे सामने ही एक आदमी स्नान करता हुआ बह गया तथा बर्फ के नीचे चला गया । उसके पश्चात् यह पाबंदी लागू कर दी गई । वह दृश्य याद आया तो मंदाकिनी का पुल पार करते समय रोंगटे खड़े हो गए । इस समय भी सिपाही पहरे पर खड़ा था ।

हमारा पण्डा देव प्रयाग से ही हमारे साथ हो लिया था । उसने ठहरने-खाने की सब व्यवस्था कर दी । रात को अँगीठी के आस–पास जमे, सब लोग महाराजश्री के सामने बैठे थे ।

महाराजश्री– पहली बार मैं उत्तर खण्ड की यात्रा पर १९३४ में आया । उस समय देव प्रयाग तक ही मोटर मार्ग बना था । यात्री भी बहुत थोड़े होते थे । सुविधा के नाम पर केवल चट्टियाँ तथा पण्डों की व्यवस्था थी । अब कितना बदल गया है ! यात्री भी कितने अधिक हो गए है, किन्तु केदारनाथ में अभी तक भी कोई बदलाव दिखाई नहीं देता ।

यहाँ आकर जो शान्ति प्राप्त होती है वह वातावरण का प्रभाव है, चित्त की अवस्था के कारण नहीं । चंचल-चित्त लोगों को यहाँ आ कर यह अनुभव हो जाता है कि जगत तथा विषयों के सुख के अतिरिक्त कोई अन्य सुख भी है, जो जगत्-सुखों से भी कहीं बड़ा है । वे चाहे तो इस अनुभव का लाभ उठाकर, सुख की दिशा में आगे बढ़ने का यत्न कर सकते हैं ।

प्रश्न– क्या केदारनाथ आक्रमणकारियों के द्वारा कभी त्रस्त नहीं हुआ ?

महाराजश्री– यहाँ तक कोई पहुँचा ही नहीं । बदरीनारायण के मंदिर को भी वैसे तो कोई क्षति नहीं पहुँची, किन्तु बौद्धों ने इस पर अधिकार कर के, बौद्ध प्रतिमा के रूप में इसकी पूजा आरंभ कर दी थी । आदि शंकराचार्य ने इसका उद्धार किया । एक बार पुजारी के द्वारा ही, कोई यात्री नहीं आने से मूर्ति तप्त कुण्ड में फेंक दी गई । अन्यथा उत्तराखण्ड के तीर्थ सुरक्षित रहे ।

प्रातःकाल स्नानादि करके मंदिर में दर्शन-पूजन के लिए महाराजश्री पधारे । उस समय हिमाच्छादित पर्वत-शिखर, सूर्य के प्रकाश में चमकते हुए, अपनी आभा बिखेर रहे थे । चारों ओर नीरवता-स्तब्धता ऐसे प्रतीत हो रही थी जैसे कोई चादर ओढ़े सुख की नींद

सोया हो । महाराजश्री बोले, "श्रद्धा की बात है । श्रद्धा ने ही इस अनघड़ शिलाखण्ड को भगवान शिव का रूप दे रखा है । अब तक लोग हजारों लाखों टन घी का लेप इस पर कर चुके होंगे । श्रद्धा पर ही भारतीय संस्कृति का आधार है ।"

मंदिर के पीछे वह जगह है जहाँ के बारे में कहा जाता है कि आदि शंकराचार्य महाराज ने यहाँ नश्वर देह का त्याग किया था । उस स्थान पर समाधि जैसी बनाकर, उसके पीछे एक दीवार बना दी गई थी । महाराजश्री समाधि के पास खड़े हुए तो बोले, "यह वह जगह नहीं है जहाँ शंकराचार्य समाधिस्थ हुए थे । इंजीनियर बेचारों को इन बातों का क्या पता ? जहाँ, जैसा किसी ने जो कहा, बना दिया ।" फिर उसी दीवार के साथ-साथ मंदिर की दिशा की ओर चलते गए । दीवार समाप्त हो गई तो बोले, "यहाँ भी कुछ नहीं ।" फिर दीवार के साथ-साथ विपरीत दिशा में चलने लगे तथा दीवार की समाप्ति से थोड़ा पहले एकदम बोले पड़े, "यह जगह है जहाँ शंकराचार्य ने विश्राम लिया, यह है समाधि स्थल ।"

बाकी के सभी लोगों को न तो समाधि स्थल पर कुछ अनुभूति हुई थी, न यहाँ दीवार के पास हो रही थी । केवल महाराजश्री का वचन ही प्रमाण था जिसके अनुमोदन का कोई उपाय किसी के पास नहीं था । महाराजश्री ने जगन्नाथ पुरी में इसी प्रकार, स्वामी गंगाधर तीर्थ महाराज की कुटिया की निशानदेही की थी, किन्तु उस बात का समर्थन पुराने म्युनिसिल रिकार्ड से हो गया था । यहाँ ऐसी कोई सुविधा भी उपलब्ध नहीं थी पर हम सब यह जानते ही थे कि महाराजश्री में ऐसी क्षमता थी । पुरी की घटना से यह बात सिद्ध भी हो चुकी थी ।

किसी समय चैतन्य महाप्रभु को भी वृन्दावन में ऐसी ही अनुभूतियाँ हुई होंगी । 'यहाँ भगवान् कृष्ण बालरूप में माखन चुरा रहे हैं, यहाँ घुटनों के बल चल रहे हैं, यहाँ कुण्ड में स्नान कर रहे हैं, ग्वाल-बालों के संग खेल रहे हैं, इस वृक्ष की डाल पर बैठे वंशी बजा रहे हैं ।' जैसे-जैसे वह कहते गए, उस स्थान को उसी रूप में विकसित कर दिया गया । महाराजश्री भी वैसे ही महापुरुष थे । एक ओर जहाँ अदृश्य महानात्माओं से उनका सीधा संपर्क था, वहीं दूसरी ओर महात्माओं तथा संतों द्वारा प्रसारित आध्यात्मिक रश्मियों के प्रभाव को ग्रहण करने की भी उनमें अपार क्षमता थी । इसीलिए उनमें इतनी गंभीरता आ गई थी, कि जन-साधारण के लिए उन्हें समझ पाना असंभव था ।

उस स्थल पर आ कर महाराजश्री की वाणी मौन हो गई थी । थोड़ी देर के लिए ध्यानस्थ हो गए । चेहरे पर कुछ विचित्र प्रकार की अलौकिकता चमत्कृत होने लगी । बाकी सब लोग भी मौन साधे, मूर्तिवत् स्थिर खड़े थे । थोड़ी देर के पश्चात् महाराजश्री स्वस्थ हुए तो बोले, "भारत में कैसे-कैसे महापुरुष हो गए हैं ! जहाँ उन्होंने जन्म ग्रहण किया, शरीर त्याग किया, जहाँ थोड़ी देर भी विश्राम किया, निवास किया अथवा साधन किया, वहाँ अपना

अलौकिक प्रभाव छोड़ गए हैं, जो आज भी साधकों के मन को तरंगित तथा प्रकाशित करता है । आध्यात्मिक रश्मियाँ मन को बलात् खींच लेती हैं ।"

हम दो दिन केदारनाथ में रहे । जिन्हें साँस लेने में असुविधा हो रही थी, उन्होंने गौरी कुण्ड जाकर हमारी प्रतीक्षा की । हम केदारनाथ से वापिस चले तो मीलों तक निरन्तर उतार ही उतार था । रास्ते में भी चर्चा चलती ही रही ।

महाराजश्री– मनुष्य साधन तो करता है पर जीव में ईमानदारी नहीं होती । बेईमान आदमी कितना भी प्रयत्न करे, सब निष्फल है, मन में कुछ, बाहर कुछ । झूठ बोलते तनिक भी संकोच नहीं । उचित, अनुचित जैसे भी हो किसी का माल हड़प लेना । दूसरे को दु:ख देना, सामान्य सी बात है । प्रात: काल थोड़ी देर के लिए भजन कर लिया, दिन भर छुरी लिए घूमते रहे । न अपने मन को शान्ति मिलती है, न दुनिया को चैन लेने देते हैं । ऐसे लोगों का साधन क्या फलीभूत हो सकता है ?

यदि मन का द्वार जगत की ओर खुलता है, तो आत्मा की ओर का कैसे खुलेगा ? आत्मद्वार खोलने के लिए जगत द्वार बंद करना आवश्यक है । पहाड़ पर या तो चढ़ा जा सकता है या उतरा जा सकता है । उतरना चढ़ना दोनों एक साथ संभव नहीं ।

प्रश्न– किन्तु जगत में रहकर, जगत से हटने की बात आप भी कहते हैं ।

महाराजश्री– जगत द्वार बंद करने का अर्थ जगत त्याग नहीं, आसक्ति त्याग है । जगत् त्याग कर भी, मन में आसक्ति बनी रही, तो वह त्याग नहीं ।

हम नीचे उतरते जा रहे थे तो कई लोग ऊपर आते हुए भी मिलते थे । पूछते थे कि कितनी चढ़ाई और है तो हम कहते, "अब आने ही वाला है, थोड़ी दूर ही और है ।"

महाराजश्री– देखा ! शीघ्र पहुँचने की लोगों में कैसी उत्सुकता है ! वास्तव में उन्हें जल्दी पहुँचने की अपेक्षा भी यह भाव अधिक है कि चढ़ाई का कष्ट कितना और बाकी है ? साधन का भी यही हाल है । साधक को आत्म-स्थिति की प्राप्ति की इतनी जल्दी नहीं होती, जितनी साधन के कष्टमय जीवन से मुक्ति की ।

हाँ, तो मैं कह रहा था कि बाहर का दरवाजा बंद होना तथा अन्दर का द्वार खुलना आवश्यक है । कुछ लोग अन्दर का द्वार खोल देते हैं तो बाहर का द्वार बंद हो जाता है । कुछ लोग बाहर का द्वार बंद कर देते हैं तो अंदर का द्वार खुल जाता है । या तो अंधकार को मिटा दिया जाय कि प्रकाश फैल जाय या चित्त को प्रकाशित कर दिया जाय जिससे अंधकार भाग जाय । या तो भक्त इतना वैराग्यवान् हो कि प्रभु का प्रेम मन में हिलोरें लेने लगे, या प्रेम को इतना बढ़ाया जाय कि मन वैराग्य से भर उठे ।

प्रश्न– किन्तु शक्तिपात् के साधन में यह झगड़ा है ही नहीं !

महाराजश्री– वहाँ भी है । कुछ साधकों को वैराग्य पहले हो जाता है, तो कुछ को प्रेम । अन्तर इतना ही है कि शक्तिपात् का साधन यत्न साध्य नहीं है । वैराग्य अथवा प्रेम में से जिसको पहले आना होगा, आएगा ।

हम गौरी कुण्ड पहुँच चुके थे । यहाँ से महाराजश्री कुछ लोगों के साथ ऋषिकेश वापिस चले गए । मुझे महाराजश्री ने, अपने प्रतिनिधि के रूप में, बाकी लोगों के साथ बद्रीनारायण जाने का आदेश दिया । बद्रीनारायण की यात्रा पूरी कर मैं भी महाराजश्री के साथ ऋषिकेश में जा मिला ।

(२८) देवास वापसी

पूना के श्री वामन दत्तात्रेय गुलवणी महाराज प्रख्यात् शक्तिपाताचार्य हो गए हैं । उनकी महाराजश्री से प्रथम भेंट हिमालय में, केदारनाथ के मार्ग पर सन् १९३४ में हुई थी । उसके पश्चात् उनकी भेंट कब तथा कहाँ हुई, इस बारे में मुझे जानकारी नहीं है । जबसे मैं देवास आया था, उनकी परस्पर भेंट नहीं हुई थी । श्री गुलवणी महाराज, महाराजश्री के संन्यास गुरुबंधु स्वामी लोकनाथ तीर्थ महाराज के शिष्य थे तथा महाराष्ट्र, गुजरात में इन्होंने शक्तिपात् विद्या का उल्लेखनीय कार्य किया । इन्होंने पूना में श्री वासुदेव निवास के नाम से आश्रम की स्थापना की । इन के शिष्यों, भक्तों तथा श्रद्धालुओं की ओर से इनके अस्सीवें जन्म दिन के उपलक्ष में सहस्त्रचन्द्र दर्शन महोत्सव मनाया गया जिस पर बड़ा भव्य आयोजन किया गया था । इस अवसर पर कार्यक्रम की अध्यक्षता के लिए महाराजश्री को निमंत्रित किया गया था । जिसे आपने सहर्ष स्वीकार कर लिया ।

पूना जाते हुए महाराजश्री बम्बई पहुँचे । वहाँ से कार द्वारा पूना चले गए । दोनों महापुरुषों का मिलन ऐसा प्रेममय दृश्य उपस्थित कर रहा था जैसे गंगा-यमुना का मिलन । गुलवणी महाराज अत्यन्त मितभाषी थे, किन्तु परम्पराओं का निर्वाह करने में अद्वितीय थे । एक तो वैसे ही शक्तिपात की परम्परा में महाराजश्री का विशेष स्थान था, दूसरे वह गुलवणी महाराज के काका गुरु थे । दोनों का प्रेमपूर्ण मिलन देखकर कई लोगों की आँखों में आँसू आ गए ।

पूजन तथा यज्ञ की विस्तृत व्यवस्था थी । एक वृहद् जन सभा में श्री गुलवणी महाराज का सत्कार किया गया । उस अवसर पर अपने विद्वत्तापूर्ण तथा अनुभव युक्त व्याख्यान में महाराजश्री ने आज की शिक्षण प्रणाली, गुरु-शिष्य संबंध तथा शक्तिपात् विद्या पर प्रकाश डाला ।

पूना से लौट कर हम लोग कुछ दिन बम्बई ठहरे एवं तत्पश्चात् बड़ौदा, झाबुआ, इन्दौर होते हुए देवास लौट आए । अब की देवास में महाराजश्री के स्वागतार्थ आश्रम को झंडियों तथा फूलों से सजाया गया था, बाहर स्वागत द्वार भी था, एक बड़ा शामियाना भी लगा था, भव्य मंच भी था । आश्रम में भीड़-भाड़ भी काफी थी । महाराजश्री ने अपने कमरे

में जाकर कहा, "ऐसा लगता है, यह स्थान अब हमारे रहने योग्य नहीं रहा। यह एक विवाह-स्थल जैसा प्रतीत हो रहा है। इसको संन्यासी का आश्रम कौन कहेगा ? यदि हमें ठाठ-बाट तथा दिखावे की ललक होती तो किसी बड़े नगर में आश्रम बनाया होता। देवास जैसी छोटी सी जगह में पड़े रहने की क्या आवश्यकता थी ?" आश्रम वालों को जब महाराज की अप्रसन्नता का पता चला तो आकर पश्चाताप करने लगे तथा क्षमा माँगी।

दूसरे दिन महाराजश्री अपने कमरे में बैठे थे। मैं गया तो कहने लगे—

"यह सजावट तथा ताम-झाम, यह दिखावा तथा ठाठ-बाट, गुरु या शिष्य दोनों में से किसी को भी पार लँघा सकता है क्या ? शिष्यगण अपने भावातिरेक में गुरु में अभिमान उदय हो उठने का सामान जुटाते हैं तथा स्वयं भी अहंकार के गहरे गर्त में उतरते जाते हैं।"

प्रश्न– किन्तु महाराज जी ! यह तो भक्तों की भावाभिव्यक्ति है।

महाराजश्री– भावाभिव्यक्ति से अधिक अपने अभिमान का प्रदर्शन है। यह भावाभिव्यक्ति ही गुरु में भी अभिमान उदय होने का कारण बन सकती है। यद्यपि आज भी कुछ सद्गुरु जगत् में विद्यमान हैं, किन्तु अधिकांश तथाकथित गुरुओं की दुर्दशा का यही कारण है। शिष्यों को तारते-तारते गुरु स्वयं डूब जाता है।

प्रश्न– किन्तु आपके डूबने की तो अब कोई आशंका नहीं है।

महाराजश्री– आशंका है या नहीं, यह एक अलग प्रश्न है, किन्तु यदि आशंका नहीं भी हो, तो भी दूसरों के लिए उदाहरण उपस्थित करने का उत्तरदायित्व तो है ही। लोग अपनी चित्त-स्थिति तो देखते नहीं, नकल करने लग जाते हैं। एक बात निश्चित समझो कि धन का लोभ मनुष्य को और अधिकाधिक निर्धन बना देता है। यह दिखावा तथा सजावट चित्त पर और भी विपरीत आवरण ड़ाल देती है। यह माया, मोह तथा अभिमान में अति-वृद्धि का सशक्त कारण है। सजाना ही है तो अपने मन को सद्गुणों से सजाओ। दिखावा करना है तो अपने अवगुणों को दिखाओ। लोभ करना है तो रामनाम तथा साधन का करो। कम से कम आवरण मुक्त होने का मार्ग तो प्रशस्त हो।

महाराजश्री की बात कितनी सूक्ष्म एवं सटीक थी किन्तु मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा था जैसे कि यह सब कुछ मेरे लिए ही कहा जा रहा है। मेरे अन्तर में अवश्य ही इन बातों के छुपे हुए संस्कार महाराजश्री को दिखाई देते होंगे, तभी तो मुझे सावधान किया जा रहा है। मनुष्य अपनी ओर से कितना लापरवाह हो चुका है कि उसे अपने ही अन्तर के संस्कारों का पता नहीं। संभवतया ऐसा उसकी बहिर्मुखता के ही कारण होता होगा, तभी तो उसे जगत की कल्पित बुराइयाँ भी दिखाई दे जाती हैं, किन्तु अपने अन्दर नहीं झाँक पाता।

मैं अपने कमरे में चला गया। हाथ मुँह धोकर, अपने आसन पर बैठ गया। गुरु महाराज का ध्यान किया तथा मन ही मन प्रार्थना की, "हे प्रभु ! मुझ पर कृपा करो। मेरे दोष

मुझ पर प्रकट करो ताकि मैं यह जान सकूँ कि मैं कहाँ खड़ा हूँ ।" मैंने सब ओर से ध्यान अन्दर की ओर एकाग्र किया । दृश्य देखकर मेरे रोंगटे खड़े हो गए । 'इतने अवगुण तथा विकार मैं अन्तर में लिए बैठा हूँ ?' मुझे अपने दोषों की कुछ कल्पना तो थी किन्तु वह मात्रा में इतने अधिक हैं यह बात कल्पनातीत थी । मेरे नेत्रों से अश्रुपात् होने लगा तथा मैं सिसक-सिसक रोने लग गया । यदि कोई मेरी बुराई करता है तो मुझे बुरा लगता है, यह भी मेरा मिथ्या अभिमान ही है । उनका बतलाया हुआ दोष मेरे में है या नहीं, इससे क्या अन्तर पड़ता है ? यदि वह दोष चित्त में अभी तरंगित नहीं भी है, तो भविष्य में कभी उभर सकता है । मुझे बुरा मानने के स्थान पर उनका आभार मानना चाहिए ।'

विचारों ने फिर पलटा खाया, 'उन लोगों को क्या अधिकार है मेरे दोष निकालनें का, जब कि वे स्वयं सिर से पाँव तक दोषों के गंदे नाले में डुबकियाँ लगा रहे हैं । संभवतः वे अपने दोषों को छिपाने के लिये ही दूसरे लोगों के दोष उछालते हैं । जगत में दूध का धोया कौन है ? सभी अपने सिर पर पापों का बोझ ढो रहे हैं, किन्तु दूसरों की दृष्टि में अपने-आप को पवित्रात्मा-महानात्मा के रूप में स्थापित करने का प्रयत्न कर रहे हैं ।'

कुछ देर में इन्हीं विचारों में उबलता रहा, फिर जैसे एकदम किसी ने प्रकाशं का बटन अन्तर में दबा दिया । मेरा विचार प्रवाह फिर से विपरीत दिशा में बहने लगा । 'क्या पता भगवान ने ही इन लोगों को तेरे दोष दिखाने के लिए भेजा हो ! क्या पता उसकी क्या लीला है ! ये लोग भगवान की उस लाठी के समान हैं जो तेरी पीठ पर पड़ी रही है । अपना समय बिगाड़कर भी ये तुम्हें सुधारने के लिए प्रयासरत हैं । कितने अच्छे हैं यह लोग ! सचमुच वंदनीय हैं । इनका आभार न मानना कृतघ्नता होगी ।'

अब मुझे प्रशंसकों से भी अधिक निन्दक प्रिय लग रहे थे । संभवतः इसी लिए कबीर ने निन्दक को अपने समीप ही रखने को कहा था । निन्दक को स्वयं गंदगी में सने रहना स्वीकार है, किन्तु दूसरे की अपवित्रता वह सहन नहीं कर सकता । निन्दक ही सच्चा सेवक है जो दूसरों की गंदगी साफ करने में ही जीवन बिता देता है । निन्दा का जगत पर बड़ा उपकार है । कल्पना करो कि यदि निन्दा का भय नहीं होता, तो जगत का क्या स्वरूप होता । तब उच्छृंखलता का नग्न दृश्य देखने को मिलता ।

मैंने यह अनुभव किया कि आसक्ति से पीछा छुड़ाना सब से कठिन है । यही अविद्या है, यही भ्रम है, यही जीव तथा ईश्वर के बीच उभरी दीवार है, यही जीव के सभी दुखों का मूल है । आसक्ति ही जीव को जगत प्रतिष्ठा के प्रति उत्सुक बनाकर, अपने आलोचक के प्रति घृणा तथा वृथा अभिमान से भर देती है । जगत में पूर्णतया अनासक्त व्यक्ति खोज पाना अत्यन्त दुष्कर है । यदि आसक्ति की यह दीवार किसी प्रकार जीव तथा ईश्वर के बीच से हट

जाय, तो ईश्वर को जीव के समक्ष प्रत्यक्ष होने में क्षण मात्र की भी देर नहीं । इसी को हटाने में जीव अपना जीवन खपा देता है, किन्तु आसक्ति इतना शीघ्र पीछा छोड़ने वाली है क्या ?

मेरा मन इधर-उधर घूमता-फिरता, महाराजश्री की बात पर लौट आया था । वैभव, विद्वत्ता तथा अन्य गुणों का प्रदर्शन साधक का कर्त्तव्य नहीं । यह सब बातें बहिर्मुखी वृत्ति की द्योतक हैं, जब कि साधक का यत्न अन्तर की ओर घूम जाना होता है । न वह किसी को कुछ दिखाना चाहता है, न ही जगत की किसी बात का प्रभाव ग्रहण करना चाहता है । उसके सामने समस्या आवरणों को हटाने की होती है, इसलिए महापुरुष सदैव दिखावेबाजी से बचते हैं ।

अब मैं विचार करने लग गया कि कहाँ-कहाँ दिखावा करता हूँ ?

(१) कहीं जाने पर यदि भरपूर स्वागत होता है, तो अभिमान आ ही जाता है । चाल में थोड़ी अकड़ तथा बातचीत में अधिकार का प्रदर्शन होने लगता है । मन में यह भाव उदय हो जाता है कि मैं विशेष व्यक्ति हूँ ।

(२) कहीं प्रवचन् करते समय या परमार्थ विषयक बातचीत में, मैं वह दीखने का प्रयत्न करता हूँ, जो मैं नहीं हूँ । अपनी वास्तविकताओं को छुपा कर नकली चेहरा लगा लेता हूँ ।

(३) खाने के समय यदि कुछ स्वादिष्ट बना हो, तो अन्दर से मन होने पर भी लोगों को अपनी महानता दिखाने के लिये, वह पदार्थ और नहीं लेता । इससे मेरी धाक जम जाती है ।

(४) सेवा का मेरा भाव चाहे जो भी हो किन्तु कई बार सेवा के प्रदर्शन की वृत्ति जाग जाती है । तब मन में अहंकार भी उदय हो उठता है कि लोग मुझे सेवक मानते हैं ।

(५) 'मैं साधन में इतनी देर तक बैठा रहा हूँ ।' लोगों पर यह प्रभाव डालने के लिए साधन में बैठता हूँ । ऐसी अवस्था में मेरा मन बहिर्मुख ही रहता है । तब अहंकार भी पैदा हो जाता है । वह साधन नहीं रहता, लौकिक कर्म हो जाता है ।

दिखावे की वृत्ति देखकर मुझे रोना आ गया । पहले जगत का महत्व स्वीकार किया जाता है तभी दिखावे की वृत्ति उदय होती है । इससे जगत के प्रति सत्यता की प्रतीति और बढ़ जाती है । मनुष्य माया के गर्त में और भी गहरा उतर जाता है, चित्त और भी अधिक मलीन हो जाता है । इस प्रकार जीव अपने प्रभु से और भी दूर हो जाता है ।

मेरे मन में छटपटाहट होने लगी । ऐसी इच्छा होती थी कि दिखावे के इस आवरण को अभी दूर फेंक दूँ, किन्तु यह शरीर का नहीं, चित्त का आवरण था, इतनी जल्दी फेंक पाना भी असंभव था । कई जन्मों की निरन्तर आसक्ति के पश्चात् ओढ़ा था, अब तो ऐसा लगता था कि यह आवरण नहीं मेरा अपना ही स्वरूप हो ।

आश्रम छोड़ कर चले जाने का मेरा विचार भी इसी दिखावे की ही कारस्तानी दिखाई देने लगा था । मैं यही चाहता था कि कोई मेरे मन में झाँक कर नहीं देखे कि इसकी क्या स्थिति है । मैं यही चाहता था लोग मुझे एक अच्छा व्यक्ति, एक अच्छा साधक समझें । मैं अच्छा साधक बनना नहीं, दिखाई देना चाहता था, यही मेरा मिथ्या अभिमान था । मेरे व्यक्तित्व पर जरा सी भी खरौंच आ जाने की संभावना से मैं मुँह छुपा लेना चाहता था । मेरा मन चीत्कार कर उठा ।

लोग कितनी कुशलता तथा सुन्दरता से अपने हृदय के छिद्रों को छिपा लेते हैं तथा अपनी सफलता पर कितने प्रसन्न होते हैं ! संभव है उन्हें अपने छिद्र दिखाई ही न देते हों । अभिमान में फूला मनुष्य यदि अपने अन्तर में नहीं झाँक पाए तो इसमें आश्चर्यजनक कुछ नहीं । जगत के रंग में रँगा जीव जगत प्रवाह के साथ बहता चला जाता है, किन्तु मेरे हृदय की कुरुपता मेरे लिए अभिशाप प्रतीत हो रही थी ।

मेरे अन्तर में क्या द्वन्द्व चल रहा था, यह देखने का संसार के पास न ही कोई उपाय था, न ही किसी के पास समय था । सभी के अपनी-अपनी रुचि के विषय में, अपनी समस्याएँ थीं, अपनी दुनिया थी, किन्तु किसी का तमाशा देखने के लिए संसार, कुछ भी करके समय निकाल लेता है ।

मैंने मन में निश्चय किया कि रहना भी इसी संसार में है तथा साधन भी करना है । जगत निर्वाह भी करना है तथा जगत को अपने मन पर प्रभाव भी नहीं डालने देना है । अपने आध्यात्मिक नियम बनाकर, इस बात को अपनी नियमावली में मैंने सम्मिलित कर लिया कि अब सहनशीलता को जीवन में विशेष महत्व देना है । मुझे जीसस क्राईस्ट के वे शब्द स्मरण हो आए, यदि आप को कोई एक गाल पर तमाचा जड़ दे, तो दूसरा गाल उसके सामने कर दो । ऐसी समस्याओं को यज्ञ का रूप देने का यही उपाय है । यह सब मैं कई दिनों से सुनता आ रहा था, किन्तु अब आकर कहीं इस बात का मर्म प्रकट होने लगा था या ऐसा भी कह सकते हैं कि अब ऐसी चित्त-स्थिति निर्मित हुई थी कि इस बात के रहस्य को समझ सके ।

मुझे इस बात की भी समझ आ गई कि सारा संसार इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने की स्थिति में क्यों नहीं है । क्योंकि उनकी चित्त-स्थिति उसको ग्रहण करने के अनुकूल नहीं होती । महाराजश्री भी यह उपदेश सब को नहीं करते, मनः स्थिति देखकर ही बात करते हैं । जो इस उपदेश के योग्य नहीं होता, उसे नहीं करते, अन्यथा वाणी बेकार जाती है ।

मैं यह भी जानता था कि महाराजश्री सरीखे केवल महाराजश्री ही थे । उनके समान उनका उत्तराधिकारी खोज पाना असंभव था । मैं तो एकदम अयोग्य था । बुद्धि में, साधन में, व्यक्तित्व एवं व्यवहार में, किसी भी प्रकार समानता नहीं थी, परन्तु अब, जब महाराजश्री

ने मुझ पर यह बोझ डाल ही दिया है तो मेरे लिए भागने का कोई औचित्य नहीं । जैसी भी समस्याएँ आएँगी, सहनशीलतापूर्वक उनका सामना करना ही होगा ।

यह निश्चय कर जैसे मैं चिन्ता मुक्त हो गया । ऐसा लगता था जैसे सम्मान-अपमान सभी गुरु चरणों के अर्पित कर दिया है । मेरे मन में अभी भी असंख्य विकार-वासनाएँ थीं, अब जैसे उनसे मुक्त अनुभव करने लगा था । गुरुदेव ने बोझ उठा लिया था । संभवत: यही साधन मार्ग है । महाराजश्री कहते भी थे कि मुक्ति प्राप्ति का यही सरलतम उपाय है कि वासनाओं-इच्छाओं को गुरु-अर्पण कर दो । तब मन में वासनाएँ रहते हुए भी, उनसे बंधन मुक्ति हो जाएगी । चित्त जब शुद्ध होना होगा, होता रहेगा ।

मेरा मन एकदम शान्त हो गया । मित्र-शत्रु का संसारी भाव कहीं दब कर रह गया था । जगत को भला-बुरा देखने की वृत्ति भी निवृत्त हो गई । संसार का प्रत्येक जीव ऐसे दिखाई देने लगा जैसे वह मेरा हित साधने में ही लगा हो, तो फिर सब का हित चिन्तन मेरा भी कर्त्तव्य हो जाता है ।

(२९) मौनी महाराज

एक मौनी जी ने देवास आकर दीक्षा ले ली थी तथा आज कल वह नारायण कुटी पर ही रह रहे थे । दिन में केवल एक घण्टे के लिए ही बात करते थे । महाराजश्री के दर्शनार्थियों का दबाव बहुत था जिससे उन्हें समुचित आराम नहीं मिल पाता था, इसलिए उनकी अनुमति से लोगों से मिलने का समय निश्चित कर दिया गया । आराम के समय किसी को भी मिलने की मनाही थी । महाराजश्री के कमरे के बाहर दरबान का उत्तरदायित्व मेरे पास था । संयोगवश मौनी जी का बोलने का समय (एक घण्टा) उसी बीच पड़ता था जब महाराजश्री के आराम का समय था । मौनी जी दर्शनार्थ आए तो मैंने रोक दिया । उन्हें कहा गया कि आप इतने बजे आइये ।

मौनीजी— मेरा समय निश्चित है । इसी एक घण्टे के लिए बात करता हूँ । बाकी समय मौन रहता हूँ । उस समय महाराजश्री से कोई बात नहीं हो सकती ।

उन्हें कहा गया कि वह अपना बोलने का समय बदल लें ।

मौनीजी— यह कैसे हो सकता है ? मेरा चौबीस घण्टे का कार्यक्रम निश्चित है ।

उन्हें कहा गया कि उन्हें महाराजश्री के समय के अनुसार अपना समय निश्चित करना है या महाराजश्री को उनके समय के अनुसार अपना समय !

इस पर मौनी जी बिगड़ गए तथा क्रोध में आकर कुछ-कुछ कहते हुए चले गए ।

जब महाराजश्री के आराम का समय समाप्त हुआ तो मैंने उन्हें मौनी जी के बारे में सारी सूचना दे दी तथा बातचीत का ब्यौरा भी प्रस्तुत कर दिया । महाराजश्री ने कहा, "केवल बलात् मौन धारण कर लेने से ही कोई महात्मा नहीं हो जाता । मौनी जी को यह पता होना

चाहिए कि उनकी स्थिति एक शिष्य की है तथा शिष्य के कोई अधिकार नहीं होते, केवल कर्त्तव्य होते हैं। यहाँ के नियम कायदों के अनुसार ही उनको चलने का प्रयत्न करना चाहिए।"

मेरे लिए आश्रम के कई कार्य नियत थे। मैं उन्हीं कार्यों में लगा रहता था। मौनी जी के पास कोई काम नहीं था। अपने बोलने के एक घंटे के समय का उपयोग आश्रम-वासियों के समक्ष मेरी शिकायतें करने में करने लगे। इससे आश्रम का वातावरण दूषित होने लग गया। मुझे पता चला तो मैंने विचार किया कि संभवत: दो-चार दिन में अपने आप ठीक हो जायेंगे, किन्तु कई दिन बीत जाने पर भी उनका क्रोध शान्त न हुआ। उनकी गोलाबारी निरन्तर जारी रही।

इन्हीं बातों से साधक के आन्तरिक स्वरूप का पता चलता है। हो सकता है कि बात करने में मेरे से भी कुछ भूल हो गई हो। मैं भी एक मानव ही था, किन्तु मौनी जी के व्यवहार ने मुझे व्यथित कर दिया। सामान्यत: मेरा नियम था कि महाराजश्री के सामने किसी की शिकायत लेकर खड़ा नहीं होऊँ। जहाँ तक हो सका अपने आप सहन कर लिया, या निपट लिया, किन्तु पता नहीं कैसे मेरे मुँह से निकल गया—

"मेरा तो कुछ नहीं, कुछ भी सहन कर लूँगा किन्तु आश्रम का वातावरण दूषित हो रहा है। मौनी जी मेरे बारे में उलटी-सीधी बातें कर रहे हैं जबकि मैं तो केवल श्रीमुख की आज्ञा का ही पालन कर रहा था।"

जैसे छोड़ा हुआ तीर वापिस नहीं आता, ऐसे ही कही हुई बात भी लौटाई नहीं जा सकती। मैं कह तो गया किन्तु मेरा मन खेद तथा पछतावे से भर गया, जैसे एक अग्नि सी मेरे अन्तर में भभक उठी हो। 'यह मैंने क्या कर दिया ? अपने बनाए हुए नियम का स्वयं ही उल्लंघन कर डाला ! अपने हाथ से ही अपना माथा फोड़ लिया ! जब किसी की शिकायत नहीं करने का तूने निश्चय किया था, तो किसी की शिकायत करते समय तेरी जबान लड़खड़ा क्यों नहीं गई !' किन्तु अब क्या हो सकता था। शिकायत नामा पेश हो चुका था। महाराजश्री ने मौनी जी को बुलवाया। वह बोलते तो नहीं थे, किन्तु सुन तो सकते थे।

महाराजश्री– सुनिए मौनी जी ! अपने कार्यक्रम का निश्चय मैं स्वयं करता हूँ। समय की पाबंदी का नियम भी मैंने स्वयं बनाया है। द्वार पर देख-रेख की स्वामी जी की नियुक्ति भी मैंने ही की है। उस आदेश का पालन करने के लिए स्वामी जी कर्त्तव्यबद्ध हैं। आप स्वामी जी का विरोध करके, मेरे आदेश का ही विरोध कर रहे हैं। आप अपने कार्यक्रम में थोड़ा सा परिवर्तन करके, अपने बोलने के एक घंटे के समय को इस प्रकार निश्चित कर सकते हैं, जिससे आप को तथा मुझे असुविधा न हो।

मौनीजी बोलते तो नहीं थे किन्तु उन्होंने अपने कान पकड़े तथा महाराजश्री को प्रणाम करके चले गए ।

बात तो समाप्त हो गई किन्तु इससे मेरे अन्दर भड़की अग्नि बुझ न सकी । 'तू ने किसी की शिकायत करके अपने प्रति घोर अपराध किया है । मौनी जी तपस्वी हैं, सच्चे मन से अध्यात्म पथ पर आरूढ़ हैं । यदि आवेश में आकर उन्होंने कुछ कह भी दिया, तो तेरा क्या बिगड़ गया ? उसे सहन करना क्या तेरी तपस्या नहीं थी ? क्या तू अपनी तपस्या से गिर नहीं गया ?' इसी प्रकार के अनेकानेक विचार मन में उभर कर कचोटने लगे ।

ऐसे में एक आश्रय गुरु महाराज ही थे । वही रिसते घाव पर प्रेम की मल्हम लगा सकते थे । वही पिपासा से व्यथित हृदय को शीतल जल पान करा सकते थे । उन्हीं के शरणापन्न होकर मैंने हृदय की पीड़ा व्यक्त की, "मुझसे एक भूल हो गई है, भूल नहीं अपराध । मैंने आपके समक्ष किसी की शिकायत नहीं करने का नियम बनाया था । यह नियम आपका ध्यान करके बनाया था । आज मैंने मौनी जी की शिकायत के रूप में, उसी नियम को तोड़कर आप का अपराध किया है । इससे मेरा मन बहुत ही व्याकुल है ।"

महाराजश्री ने मेरी बात बड़े गंभीर हो कर सुनी । फिर कहा, "इसमें दुखी होने की कोई बात नहीं । यह ठीक है कि तुमने अपने नियम का उल्लंघन कर के अपराध किया है, किन्तु यह तुम्हारे पश्चाताप युक्त चित्त की वैराग्यपूर्ण सत्त्वगुणी अवस्था है जो पाप-मुक्ति की कठिनतम यात्रा पर धीरे-धीरे अग्रसर है। साधकों को कई बार ऐसी विकट परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है । देखने में तो उनका कोई दोष नहीं होता, बिना दोष के ही उनको कई प्रकार के दण्ड सहन करने पर विवश होना पड़ता है, किन्तु यदि सूक्ष्म विचारपूर्वक देखा जाय, तो अपराध उनके अन्तर में किसी कोने में संचित रखा हुआ होता है, जिसका अभी तक उनको दण्ड नहीं मिला, जो अब मिल रहा है । इस क्रम में साधक से कई बार कुछ भूल भी हो जाती है । यदि पश्चाताप की तपिश से उस भूल की सिकाई कर दी जाए तो उस भूल के बीज को जलाया जा सकता है । यही तुम कर रहे हो ।

"ऐसा तुमने कई बार देखा होगा कि कोई व्यक्ति पूर्णतया निर्दोष होता है, फिर भी साक्ष्य उसके विरुद्ध होते हैं, जिन के आधार पर उसे दण्ड भी भोगना पड़ता है । बिना कारण के कोई कार्य हो नहीं सकता । कारण प्रारब्ध के रूप में अदृश्य होता है, किन्तु होता अवश्य है ।

"साधक का प्रयोजन वर्तमान में केवल शुभ कर्म करना ही नहीं है, उसे अपने प्रारब्ध को भी क्षीण करना होता है इसलिए उसका कर्तव्य है कि फल-भोग को शान्तिपूर्वक सहन करे ।"

महाराजश्री की बातों ने वास्तव में ही मेरे आन्तरिक घाव पर चमत्कारी मल्हम का कार्य किया । मन जब कुछ शान्त हुआ तो मैं मौनी जी के कमरे की ओर चल दिया । उस

समय मौनी जी का मौन चल रहा था, वह कुछ पढ़ने में तल्लीन थे । मैंने हाथ जोड़कर क्षमा माँगते हुए कहा —

"आप आयु में मुझसे बड़े हैं । ज्ञान साधन में भी बढ़े-चढ़े हैं । अपनी निर्दोषता सिद्ध करना इस समय मेरा प्रयोजन नहीं किन्तु जो कुछ हुआ उसका मुझे खेद है । आपके मन को जो क्लेश हुआ, उसके लिए मैं शर्मिन्दा हूँ । मैं आपसे क्षमा माँगता हूँ ।"

मौनीजी कुछ बोले नहीं । उन्होंने मेरी बात सुनी, और हाथ जोड़ लिए । शाम को जब उनका बोलने का समय हुआ तो मेरे कमरे में आए । बोले, "क्षमा तो मुझे आप से माँगनी चाहिए । यह भी नहीं सोचा कि इससे आपको कितना दुःख होगा । अब मैं देखता हूँ कि आपका कोई दोष नहीं था । आप तो महाराजश्री के आदेश का पालन कर रहे थे । बिना विचारे, आवेश में आ कर आपके विरुद्ध बकवास करता रहा, किन्तु यदि आप का दोष होता भी तो भी मैं तो एक साधक था । मुझे तो कुछ सोचना चाहिए था, पर नहीं सोचा । अब मैं आप से क्षमा माँगता हूँ ।"

मौनी जी की नम्र वाणी सुनकर मेरी आँखों में आँसू आ गए । वह भी क्या दृश्य था जब वह मेरे पाँव पड़ने का प्रयत्न कर रहे थे तथा मैं उनके पाँव छूने को उतावला हो रहा था । दोनों और से मन शुद्ध हो चुके थे । गिले-शिकवे समाप्त थे ।

महाराजश्री को पता चला तो बोले, "यही उपाय है परस्पर मन शुद्ध करने का । लोग दिल खोलकर एक दूसरे के सामने नहीं रखते । पीठ पीछे एक दूसरे को छुरे घोंपते रहते हैं । बात बिगड़ती चली जाती है । साधक वह है जो गाँठे खोले, कसे नहीं ।"

इस प्रकार इस प्रकरण का सुखद अन्त हुआ ।

(३०) दीवाली

आज दीवाली का शुभ पर्व है । लोगों के घर तथा दुकानें, रँग-पुत कर नया रूप धारण कर चुकी हैं । सुन्दर वस्त्रों में सुसज्जित पुरुष तथा महिलाएँ इधर-उधर आ जा रहे हैं । मिठाइयाँ तथा पकवान बनाए जा रहे हैं । रात को प्रकाश करने की सब तैयारियाँ हो चुकी हैं । कुछ लोग महाराजश्री के दर्शन करने आश्रम पर आए हुए हैं तथा उनको घेरे, आश्रम के चौक में बैठे हैं ।

एक सज्जन– महाराज जी ! दीवाली पर लोगों में कितना उत्साह होता है, जैसे घर सजाने तथा प्रकाश करने की होड़ सी लगी हो ।

महाराजश्री– सो तो है ही, किन्तु याद रखो कि केवल इतने के लिए ही हमारे पूर्वजों ने दीवाली तथा अन्य पर्वों की व्यवस्था नहीं की । उनका लक्ष्य निश्चित ही, इससे कहीं अधिक था । यह दीवाली केवल बाहर की है । यदि सच पूछो तो यह दीवाली अब बाहर की

भी नहीं रह गई है । यदि किसी को होड़ ही करनी हो तो साधन-ध्यान में करो, चित्त को अधिकाधिक प्रकाशित करने में करो । तुम क्या समझते हो कि अपने चित्त में अंधकार समेटे हुए, बाहर दीवाली संभव हो सकती है ? यह केवल अंदर के अंधकार को छिपाने के लिए, बाहर मिथ्या प्रकाश का आवरण है । क्या बाहर के प्रज्वलित दीपकों का प्रकाश अन्तर के अंधकार को ढँक सकता है ?

दीवाली के उत्साही सज्जन महाराजश्री की बातों से एकदम ठण्डे हो गए । फिर भी उन्होंने कुछ उत्साह बटोर कर कहा, "महाराज जी, यह तो योगियों तथा साधकों की बातें हैं, सामाजिक स्तर पर दीवाली इसी तरह मनाई जा सकती है ।"

महाराजश्री– स्तर सामाजिक हो अथवा व्यक्तिगत्, मुख्य बात यह है कि किसी पर्व या उत्सव मनाने का उद्देश्य क्या है । यदि राष्ट्रीय उत्सव मनाए जाएँ, किन्तु देश-प्रेम की भावना न हो तो काहे का राष्ट्रीय उत्सव ? यदि नाम तो धार्मिक उत्सव का लिया जाता हो, किन्तु मन में धार्मिकता या आध्यात्मिकता का लेश भी नहीं हो तो क्या उसे धार्मिक उत्सव कहा जा सकता है ? जब दीवाली को राम की रावण पर विजय, सत्य की असत्य पर विजय से जोड़ा जाता है या भगवती की असुरों पर विजय से संबंधित किया जाता है तो यह भी देखना पड़ेगा कि वास्तव में रावण मर भी रहा है कि नहीं । आज तो हर मन में रावण दनदनाता विचरण कर रहा है । जिसके भी मन में झाँक कर देखो, विषयों की कामनाओं की लंका ही दिखाई देती है । राम का कहीं पता ही नहीं लगता कि वह कहाँ हैं, फिर दीवाली कैसी ? या तो इन उत्सवों को धार्मिकता का नाम मत दो, यदि देना ही है तो उधर चलने का कुछ तो प्रयत्न करो । आज दीवाली जुएबाज़ों का उत्सव बनकर गई है । जुए के साथ अन्य आसुरी वृत्ति भी चलती ही है । यह सब धर्म के नाम पर किया जा रहा है ।

प्रश्न– तो वास्तविक रूप में दीवाली मनाने के लिए क्या करना चाहिए ?

महाराजश्री– आन्तरिक शुद्धिकरण के सतत् चलने वाले क्रम का नाम दीवाली है । एक निश्चित दिन केवल उसके प्रतीक के रूप में मनाया जाता है । रावण का वध करने से पूर्व राम को चौदह वर्ष वन में रहकर तपस्वी जीवन बिताना पड़ा था । उन्होंने कितने संतों का संग-लाभ किया था । अन्त में लम्बा सेतु बाँधकर, अलंघ्य सागर को पार कर, लंका द्वीप में प्रवेश किया । फिर रावण के साथ घोर युद्ध करके, उस का वध किया, तब अयोध्या में दीवाली का उत्सव हुआ । चौदह वर्ष की निरन्तर तैयारी के पश्चात् ही वह अवसर प्राप्त हो सका । हम सुन्दर वस्त्र धारण कर, घर में रंगाई-पुतवाई करवा कर, मिष्ठान्न भोजन बनाकर तथा दीपक जलाकर ही दीवाली मना लेते हैं, तो यह दीवाली भी वैसी ही मनेगी । मेरे विचार में दीवाली का उत्सव प्रति वर्ष आना भी नहीं चाहिए, चौदह वर्ष के पश्चात् आना चाहिए ताकि जिसको दीवाली मनाने की आकांक्षा हो, वह इसकी तैयारी कर सके । वह देखे कि मैं

दीवाली के कितना समीप पहुँचा हूँ । कहा जाता है, 'सदा दीवाली संत की', क्योंकि संत सदैव ही दीवाली मनाने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं ।

प्रश्न– साधन के लेखे-जोखे के लिए चौदह वर्ष इतने अधिक तो नहीं ?

महाराजश्री– यदि अधिक नहीं तो कम भी नहीं । दूसरे, चौदह वर्ष का अर्थ है लम्बा समय । फिर उसमें चौदह वर्ष लग जाएँ, या चौदह जन्म, या चौदह सौ जन्म । साधन निरन्तर चलते रहना चाहिए । उसके लिए कितनीं भी कठिनाइयाँ आएँ, कितने भी त्याग करने पड़े, अन्तर असुरों से कितना भी युद्ध लड़ना पड़े, या माया रूपी महा समुद्र पर सेतु बाँधना पड़े, साधन की निरन्तरता बनी रहनी चाहिए । दीवाली के अभिमुख बने रहना ही दीवाली है । तब कहीं प्रभु-कृपा से चित्त का अंधकार दूर होने पर अन्तर दीवाली की आशा की जा सकती है । अन्यथा हम अंधकार में ही पटाखे फोड़ते रह जाएँगे ।

प्रश्न– इतने आध्यात्मिक आयोजन, महापुरुषों की समाधियों पर मेले तथा अन्य कई प्रकार के धार्मिक आयोजन होते हैं, जिनमें बाज़ार लगते हैं, झूले तथा कई प्रकार के खेलों की व्यवस्था होती है, मन-बहलावे के कई साधन होते हैं, यदि दीवाली भी उसी प्रकार का एक सामाजिक आयोजन हो जाए तो उसमें क्या आपत्ति हो सकती है ?

महाराजश्री– मुझे कोई आपत्ति नहीं, और यदि हो भी तो कौन सुनता है ? आपत्ति केवल उसी स्थिति में है जब इसके साथ धर्म को जोड़ा जाता है । जब कि धर्म के साथ इसका दूर का भी क्रियात्मक संबंध नहीं होता । वैसे भारतीय विचारधारा के अनुसार सामाजिक व्यवस्थाओं का भी अ़ध्यात्म से गहरा रिश्ता है ।

भारत के मनीषियों ने उत्सवों की स्थापना इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए की थी कि साधारण जनता को आध्यात्मिक मूल्यों के लिये तैयार किया जाए, इसलिये हर उत्सव की पृष्ठभूमि में आध्यात्मिकता का समावेश कर दिया । आज यदि हम राम के आदर्शों, स्थापित मर्यादाओं एवं लोकोपकारी सुकृत्यों को भूलकर, केवल दीपक जलाने तक ही दीवाली सीमित कर दें, तो दीवाली दीवाला मात्र है ।

जब वास्तव में ही दीवाली की आन्तरिक अवस्था प्राप्त हो जाती हैं तो मन अलौकिक आनन्द, प्रेम तथा प्रकाश से भर जाता है । प्रत्येक विचार, भाव तथा कर्म उसी प्रकाश में उदित होता है । मन की सारी भ्रान्तियों, शंकाओं तथा दुविधाओं का अंधकार मन को छोड़कर भाग खड़ा होता है । तब दीवाली एक दिन की नहीं होती, निरन्तर बनी रहती है । मन में सतत् मस्ती तथा आनन्द छाया रहता है । यह स्मरण रहे कि दीवाली रावण वध के पश्चात् होती है । अपने मन में राम को प्रकट करो, रावण का वध करो तथा दीवाली मनाओ ।

महाराजश्री उपर्युक्त वचन कह चुके तो वातावण काफी गंभीर बन गया था । सब लोग अपने-अपने अन्तर में दीवाली की खोज करने में लगे थे । किसी को भी अन्तर में दीवाली नहीं दिखाई दे रही थी । मुझे भी, आँखें बंद होने से, अट्टहास करता हुआ, वासना रूपी रावण दिखाई दे रहा था ।

(३१) बुढ़ापा

एक अति वृद्ध सज्जन आश्रम में आए हुए थे जिनमें वृद्धावस्था के सभी लक्षण पूर्ण-रूपेण प्रकट थे । उस पर विशेष बात यह कि भरा-पूरा परिवार होने पर भी, उनकी देख-भाल करनेवाला कोई नहीं था । महाराजश्री ने श्रोताओं को सँबोधित करते हुए कहा –

"जवानी के पश्चात् बुढ़ापे का आना एक सामान्य प्राकृतिक प्रक्रिया है, किन्तु यह मनुष्यों तथा पशुओं, दोनों के लिए एक समान असह्य तथा दुःखदायी संवेदना है, जिसे युवकों ने बूढ़ों के प्रति अपनी उपेक्षा तथा उदासीनता से और भी अधिक भयावह बना दिया है । एक नन्हें मुन्ने बच्चे पर मनुष्य कहीं अधिक ध्यान केन्द्रित करता है । उसे अपने प्रेम, स्नेह एवं लक्ष्य का अधिक पात्र समझता है । उसके आस-पास बावला बना घूमता फिरता है । उसे उठाता, खिलाता तथा हँसाता है, पर जिन पर बुढ़ापे ने अपना आधिपत्य कर लिया है, उनके लिए उसके पास उपेक्षा, उदासीनता, लापरवाही के अतिरिक्त कुछ नहीं है । किसी बूढ़े व्यक्ति के लिए, युवाओं के मन में यही भाव होता है कि जितनी जल्दी हो सके यह श्मशान का रास्ता पकड़ ले ।

"क्यों भूल जाते हो कि जो आज बूढ़ा है, वह भी कभी जवान था । तब उसने तुम को पाला-पोसा तथा तुम से प्यार किया था । तुम यह भी भूल जाते हो कि तुम भी सदैव जवान रहने वाले नहीं हो । तुम पर भी बुढ़ापा घोड़े पर सवार होकर, सरपट भागा चला आ रहा है । तब तुम्हारी भी, इन्हीं बूढ़ों की तरह दयनीय स्थिति हो जायगी । जब तुम्हारी उपेक्षा की जाएगी तो तुम को कितना दुःख होगा ?

"बच्चे तथा बूढ़े, दोनों समान रूप से पराश्रित हैं, अशक्त हैं । वे दुःखों को सहन करने के लिये विवश हैं । भूख लगने पर बच्चा रोता है, तो बूढ़ा चिल्लाता है । बच्चा बोल नहीं पाता, तो बूढ़ा बक्-बक् करता है, फिर भी बच्चे की विवशता, दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने में पूर्णतया सक्षम होती है । जब कि बूढ़े की विवशता उसके सामने उपेक्षा तथा उदासीनता परोस कर खड़ी रह जाती है वैसे तो बच्चों की अपेक्षा भी कहीं अधिक बूढ़ों की ओर लक्ष्य देना आवश्यक होता है, पर संभवतः मनुष्य के सामने बच्चों के प्रति मोह तथा भविष्य की आशाएँ होती हैं, किन्तु बूढ़ा-व्यक्ति केवल बोझ रूप प्रतीत होता है, इसलिये उसकी ओर ध्यान नहीं जाता, पर बूढ़ा अपने बुढ़ापे से तुम्हारे सामने आपके भविष्य का एक चित्र उपस्थित करता है ।"

एक सज्जन– मैं जब छोटा था, स्कूल में पढ़ता था तो हमारी पुस्तक में एक कविता थी । एक बूढ़ा जो कि कुबड़ा हो चुका था, जा रहा था, तो कुछ युवकों को उसे देखकर शरारत सूझी । उन्होंने कहा, "बाबा, यह धनुष कितने में लिया है ?" बूढ़ा युवकों की ओर देखकर मुस्कुराया तथा कहा, " थोड़ा धैर्य रखो मेरे बच्चों, जब आप मेरी उम्र पर पहुँचोगे तो तुम्हें यह धनुष मुफ्त में मिल जाएगा ।"

महाराजश्री– (जोर से हँसते हुए) युवकों का भविष्य बुढ़ापा ही है, किन्तु यौवन के मद में मनुष्य अंधा हो जाता है । बुढ़ापा मनुष्य को कुबड़ा बना देता है, निर्मल त्वचा पर आँखों के आसपास काले धब्बे उभार देता है, पाँव बोझिल, अशक्त तथा टेढ़े-मेढ़े कर देता है, हाथ पकड़ने-छोड़ने के अयोग्य हो जाते हैं । घुटने दर्द करने लगते हैं, अंग-अंग शिथिल हो जाता है, न उठते बनता है, न बैठते । कुछ खाने का मन होता है तो यह डर सताने लगता है कि यह पचेगा भी कि नहीं ।

जब बूढ़े व्यक्ति के हाथ-पाँव अशक्त हो जाते हैं तो तुम उसे अपने सशक्त हाथों का सहारा दे सकते हो । उसे ऐसा लगे कि मेरे अनन्त हाथ-पाँव हैं । मेरे शरीर का प्रसार कितनी दूर-दूर तक है । मेरे कुछ अंग अशक्त हैं तो कुछ सशक्त । तब उसे शरीर से निराशा तथा घृणा नहीं होगी । आवश्यकता है केवल तुम्हारी सहानुभूति तथा सहायता की, अपनत्व तथा प्यार की ।

बूढ़ा व्यक्ति अपनी लम्बी आयु में जो कुछ बनाता-कमाता है, संचय तथा संरक्षण करता है, उसी के परिणाम का भोग, आज युवक करते हैं । क्या किसी युवक के बड़े होने तथा उसके शिक्षण में किसी बूढ़े के परिश्रम तथा प्यार का योगदान नहीं है ? आज जब उसी बूढ़े को अपने परिश्रम का फल खाने की आवश्यकता आन पड़ती है, तो फल मुँह मोड़ लेता है, उदासीन हो जाता है । बूढ़े के मन की दशा की कल्पना करो ।

आज तुम भोजन बनाने के लिए अग्नि का प्रयोग करते हो, तो क्या यह आज से लाखों वर्ष पूर्व हुए उस मनुष्य के प्रयोग का अनुभव नहीं है, जिसका सर्वप्रथम अग्नि के इस प्रयोग की ओर ध्यान गया ? आज तुम घरों में रहते हो, यह उसी मनुष्य का अनुभव है जिसे पहले-पहल घर के रूप में किसी गुफा की आवश्यकता की प्रतीति हुई । मनुष्य का खान-पान, रहन-सहन, बोल-चाल सभी कुछ पूर्वसंचित ज्ञान पर ही आधारित है । बूढ़ों का अनुभव ही तुम्हारे काम आ रहा है । विकास का एक निरन्तर क्रम चल रहा है । बूढ़ों की उपेक्षा का अर्थ है उस विकास क्रम की उपेक्षा । युवा पीढ़ी बूढ़ों की ऋणी है । एक बूढ़ा व्यक्ति, जिसके द्वारा अर्जित ज्ञान तथा अनुभव के आधार पर तुमने अपने भविष्य का विशाल भवन खड़ा कर लिया है, अवश्य ही तुम्हारी सद्भावना, सेवा, प्यार तथा अपनत्व का सुपात्र है । यह कर के तुम किसी बूढ़े व्यक्ति पर उपकार नहीं कर रहे, अपितु यह सब प्राप्त करना

उसका अधिकार है। तुम्हारी उपेक्षा तथा उदासीनता का अर्थ होगा, किसी को उसके अधिकार से वंचित करना।

एक सज्जन– महाराजजी ! आज युग बदल गया है। संयुक्त परिवार विखण्डित हो रहे हैं। परिवार संयुक्त थे तो बूढ़े भी निभ जाते थे। अब कौन किसे पूछता है ?

महाराजश्री– क्या युवाओं को बूढ़े नहीं होना है। बूढ़ों के प्रति किया गया व्यवहार याद तब आएगा जब उनके बच्चे भी उन्हें नहीं पूछेंगे।

एक सज्जन– क्या इस बात का भी आध्यात्मिकता से कोई संबंध है ?

महाराजश्री– बिलकुल है। यह युवा पीढ़ी की अपने कर्त्तव्य के प्रति उदासीनता है। यह उदासीनता तमोगुणी है, तमोगुण ही संचय करती है, जो ईश्वर से दूर कर देती है।

वृद्ध– महाराज जी !मैं तो अपना प्रारब्ध भोग समझ कर भोग रहा हूँ। मेरा मन अत्यन्त शान्त है। मुझे कोई कष्ट नहीं है।

महाराजश्री– यही उपाय है। और आप कर भी क्या सकते हैं। मन को दु:खी कर लेना कोई उपाय नहीं।

एक सज्जन– कई लोग बुढ़ापे में भी अच्छे भले बने रहते हैं, जैसे युवावस्था का पट्टा लिखवा कर लाए हों !

महाराजश्री– अपना-अपना प्रारब्ध है। कुछ जीवन-पद्धति का भी अन्तर पड़ता है। जितना रहन-सहन प्राकृतिक तथा विषय-मुक्त होगा, उतना ही मनुष्य अच्छा रहेगा। कई लोग सात्विक जीवन जीते हुए भी, बुढ़ापे में शिथिल हो जाते हैं। उनका अपना प्रारब्ध होता है।

यह बातचीत चल ही रही थी कि एक सज्जन ने नया विषय खड़ा कर दिया।

प्रश्न– कुछ लोगों का ऐसा मानना है कि गुरु देहधारी या प्रत्यक्ष होना आवश्यक है, तो कुछ गुरु की आवश्यकता समझते ही नहीं। कुछ के अनुसार कोई दिवंगत महापुरुष, प्रतिमा या शास्त्र भी गुरु हो सकते हैं।

महाराजश्री– जो बात सामान्यत: मान्य हो वही सिद्धान्त हो सकती है, यद्यपि कुछ अपवाद भी होते हैं। सर्वमान्य सिद्धान्त यही है कि गुरु जीवित, देहधारी होना चाहिए, किन्तु कहीं-कहीं इसके अपवाद भी देखने को मिल जाते हैं, जहाँ कोई ब्रह्मलीन महापुरुष स्वप्न या ध्यान की अवस्था में प्रकट होकर, साधक पर कृपा कर देता है। कहीं-कहीं किसी-किसी देवता का अनुग्रह भी प्राप्त होते देखा गया है। कई बार साधक को, बिना कोई कृपा का अनुभव किए, कुछ इस प्रकार की अनुभूति होती है कि उसकी शक्ति जाग्रत हो जाती है। बिना कोई साधन किए तथा आध्यात्मिक जीवन जिए भी, जाग्रति के कुछ उदाहरण मिलते

हैं। यद्यपि ऐसे उदाहरण कम ही हैं, इसलिए उन्हें सिद्धान्त या नियम नहीं बनाया जा सकता। सिद्धान्त रूप में प्रत्यक्ष गुरु ही स्वीकार्य है।

योग दर्शन में गुरु का कहीं उल्लेख नहीं है किन्तु, "जिसके बंधन के कारण शिथिल हो गए हैं, जिसे शक्ति के प्रचार-प्रसार का अनुभव प्राप्त है तथा जो दूसरों में शक्ति का आवेश उत्पन्न कर सकता है" कह कर अप्रत्यक्ष रूप में सद्गुरु के लक्षण दे दिए गए हैं। वहीं महापुरुषों के चित्त का अवलंबन लेने रूपी साधन को भी मान्य किया गया है। नारद भक्ति सूत्र में पहले भक्ति प्राप्त करने के कई साधन कहे गए हैं। जैसे — विषय-त्याग, अखण्ड भजन, भगवद्गुण श्रवण तथा कीर्तन, किन्तु लोग यह सब निरन्तर नहीं कर पाते, वह भी दीर्घ-काल तक, इसलिए आगे उन्होंने सिद्धान्त की बात कह दी "मुख्य रूप से महापुरुषों की कृपा से।" जब कि शिव सूत्र ने एक ही उपाय कहा है "गुरु उसका उपाय है।" शिवसूत्रकार अपवादों के विवाद में नहीं पड़े, सीधे सिद्धान्त की ही बात की है।

प्रश्न– स्वप्न या ध्यान में महापुरुषों के आने की बात क्या है ?

महाराजश्री– पूर्वकाल में किसी महापुरुष के प्रति श्रद्धा का भाव बना रहता है, उन्हीं का ध्यान करता है, उन्हीं से प्रार्थना करता है तथा उन्हीं के नाम का जप करता है, तो श्रद्धा तथा साधना के संस्कार व्यक्ति के अन्दर पुष्ट होते जाते हैं एवं कालान्तर में उसी महापुरुष के रूप में शक्ति की क्रिया प्रकट होती है। मनुष्य का कल्याण जीव के अन्तर में विद्यमान गुरु-शक्ति ही करती है, चाहे प्रत्यक्ष गुरु के माध्यम से करे या पूर्व में हुए किसी महापुरुष के माध्यम से। महापुरुषों का यह अनुभव ध्यान की अवस्था में भी हो सकता है तथा स्वप्न में भी। वैसे इस प्रकार के अनुभव के पश्चात् भी किसी प्रत्यक्ष गुरु का अनुग्रह प्राप्त कर लेना चाहिए।

प्रश्न– जब कल्याण अन्तर्गुरु करता है तो बाह्य गुरु क्या करता है ?

महाराजश्री– वह अन्तर्गुरु को कल्याण के लिए प्रेरित करता है।

प्रश्न– यह दिव्य दीक्षा क्या है ?

महाराजश्री– ईश्वरीय शक्ति का मूर्त अथवा अमूर्त रूप में साधक पर कृपा करते हुए, उसे शक्ति-जाग्रति का अनुभव करवा देना, दिव्य दीक्षा है। इसके लिए सामान्यतया चित्त की पूर्व तैयारी की आवश्यकता है। वैसे ईश्वर की कृपा के लिए किसी कारण का होना आवश्यक नहीं, वह अहैतुकी होती है, किसी पर भी कृपा की वर्षा कर सकती है।

जब हम छोटे थे, दसवीं क्लास में पढ़ते थे तथा रेवाड़ी के बोर्डिंग हाऊस में रहते थे। एक रात हम छत पर लेटे हुए थे कि आकाश से एक प्रकाश-पुंज अपनी ओर आता दिखाई दिया तथा आकर हमारे शरीर में प्रविष्ट हो गया। तब हमें घूर्णा, स्वेदन तथा कम्पनादि क्रियाएँ होने लगीं, किन्तु उस समय जानकारी के अभाव में उसे समझ नहीं पाए। बाद में

१९३३ में श्री योगानन्द जी महाराज से दीक्षा के पश्चात् सब कुछ स्पष्ट हो गया । यह दैवी दीक्षा है ।

प्रश्न– अच्छा महाराज जी ! आपने कहा कि किसी-किसी को, बिना कोई साधन किए ही शक्ति-जाग्रति होते देखी गई है, यह कैसे हो जाता है ?

महाराजश्री– पूर्व संस्कारों के कारण ऐसा होता है । किसी पूर्व जन्म में किसी की शक्ति जाग्रत थी, किसी कारणवश उसकी क्रियाशीलता बंद हो गई । मनुष्य अध्यात्म पथ भूल कर जगत में तल्लीन हो गया । इस जन्म में भी जगत में ही लगाव बना रहा । जब उसकी शक्ति-जाग्रति के संस्कार पुनः उदय हुए तो जाग्रति के लक्षण प्रकट हो गए । ऐसी अवस्था में उसे गुरु की आवश्यकता नहीं । योग दर्शन भी जन्म से सिद्धि को स्वीकार करता है ।

जैसा कि मैंने कहा कि यह अपवाद है, सामान्यतया गुरु की आवश्यकता है । कई लोग गुरु की अनिवार्यता को स्वीकार नहीं करते, किन्तु कभी न कभी गुरु की शरण ग्रहण करनी ही पड़ती है । सामाजिक स्तर पर यही मानना पड़ता है कि गुरु के बिना गति नहीं । महापुरुषों, संतों, भक्तों सबने मुक्त कण्ठ से गुरु की महिमा का बखान किया है एवं गुरु की अनिवार्यता का प्रतिपादन किया है ।

(३२) क्रोध का उपद्रव

एक आश्रमवासी को किसी ने कहा-सुनी में कुछ अपशब्द कह दिए, तो वह भी बिगड़ गए तथा उन्होंने उस व्यक्ति को एक थप्पड़ जड़ दिया । बात बढ़ गई तो महाराज के सामने पहुँची । उन्होंने दोनों को बुलाया तथा कहा–

"सर्वप्रथम तो साधकों में कहा-सुनी होनी ही नहीं चाहिए । कोई बात हो तो आराम से सौहार्दपूर्ण वातावरण में निपटा लेनी चाहिए । साधकों तथा संसारी जीवों में कुछ तो अन्तर होता है । यदि इतना अन्तर भी न हो तो साधक काहे के ? उस पर इन आश्रमवासी की तो और भी अधिक बड़ी भूल है जो इन्होंने एक थप्पड़ मार दिया । इन सज्जन के अपशब्द कहने पर आश्रमवासी को अपना मानसिक संतुलन नहीं खो देना चाहिए । हम साधु हैं । सहनशीलता तथा क्षमाशीलता हमारा कर्त्तव्य है । याद करो कि भगवान के भक्तों को लोगों ने कितने कष्ट दिए हैं । कितना अपमानित किया है ? उनकी खाल तक खिंचवाई है, सिर धड़ से अलग किए हैं, किन्तु उन भक्तों ने कभी क्रोध नहीं किया । केवल सहन किया, क्षमा किया । अपने आपको उन भक्तों का शत्रु समझने वालों के लिए, भगवान से उनके मंगल की प्रार्थना की । यह एक साधु का आदर्श है । मुझे खेद है कि आश्रमवासी होते हुए भी, इन्होंने इतना उत्तरदायित्व विहीन आचरण किया ।"

आश्रमवासी ऐसे स्तब्ध खड़े थे जैसे पत्थर की मूर्ति हों । फिर महाराजश्री ने अपने पूर्वाश्रम की घटना सुनाते हुए कहा, "मैं उन दिनों बहादुरगढ़ (हरियाणा) में एक स्कूल–शिक्षक था । हमारा हेडमास्टर सारे स्टाफ को बहुत परेशान करता था । जबान ऐसी जैसे विष की पुड़िया । सब लोग उसके कारण बहुत दु:खी थे । मुझे भी कुछ न कुछ कहता ही रहता था । एक दिन उसने जम के मुझे डाँटा । यह कहो कि उसने मुझे अपमानित किया । मैं मुँह से तो कुछ न बोला किन्तु अन्तर के क्रोध ने तूफान का रूप ले लिया । मैंने उसी समय त्याग-पत्र दे दिया तथा घर चला गया । घर जाकर चैन नहीं पड़ा रहा था, न रात को नींद ही आ रही थी । रह-रहकर हेडमास्टर आँखों के सामने आ जाता । मैं क्रोध से जलने लगा । प्रात: काल उठा तो पता चला कि रात को हेडमास्टर मर गया । मेरा मन खेद से भर गया । आँखों से जल प्रवाहित हो उठा । अब तक जो क्रोध हेडमास्टर पर आ रहा था, अब अपनी ओर मुड़ गया था । घृणा होने लगी मुझे अपने आपसे । रात भर स्वयं भी क्रोधाग्नि की तपती भट्टी में जलता रहा तथा दूसरे का भी अनिष्ट हो गया । वर्तमान तो बिगड़ा ही, संस्कार संचय करके चित्त को जो मलीन किया, उससे भविष्य भी बिगड़ गया । अब हेडमास्टर सा. तो रहे नहीं, इसलिए क्षमा माँग लेने का भी कोई अवसर नहीं बचा । जीवन के लिए एक पछतावा रह गया ।

"तब मैंने निश्चय किया कि अब जीवन भर किसी पर क्रोध नहीं करूँगा । यह जो आपको मुझ में कभी-कभी क्रोध दिखाई दे जाता है, यह वास्तव में क्रोध नहीं है । मुझे क्रोध वहीं होता है जहाँ प्रेम तथा अपनत्व की अधिकता होती है । उस क्रोध में किसी की मंगल-कामना छिपी होती है अथवा क्रोध का दिखावा होता है जिसमें किसीके प्रति घृणा, द्वेष अथवा प्रतिरोध का भाव नहीं होता, इसलिए उसे क्रोध नहीं कहा जा सकता, किन्तु मेरे विचार में आपका क्रोध वास्तव में ही क्रोध था, क्योंकि उसमें मानसिक विद्वेष का भाव छिपा था ।"

इस पर आश्रमवासी कहने लगे, "हाँ महाराजश्री, वास्तव में ही मैं क्रोध में आ गया था । मैं आपे से बाहर हो गया था । मुझे उस समय यह भी ध्यान नहीं रहा कि यह आश्रम है तथा मैं आश्रमवासी हूँ, किन्तु महाराज जी, इसमें गलती इनकी भी है । यह अनेक बार इस प्रकार का व्यवहार कर चुके हैं । सहनशीलता की भी सीमा होती है । अब की बार मैं सहन नहीं कर पाया तथा भूल हो गई ।"

महाराजश्री– संसारियों की सहनशीलता की सीमा होती है, साधकों की सहनशीलता असीम होती है । दूसरी भूल तुम यह कर रहे हो कि अभी भी इन में दोष निकालने का प्रयत्न करते हुए अपने आप को न्यायोचित ठहराने के प्रयास में लगे हो । यह संसारियों के सोचने तथा व्यवहार करने का ढंग है । ऐसी समस्या खड़ी होने पर साधक की

दृष्टि तत्काल अपना दोष खोजने में लग जाती है । इन की भूल देखना इनका काम है, तुम्हारा नहीं ।

वह सज्जन जो अब तक मौन बने सब कुछ सुन रहे थे, कहने लगे, "नहीं महाराज जी ! भूल मेरी ही है । मेरे अन्दर इनके लिए कुछ गलत धारणा हो गई थी, जिसके वशीभूत होकर, मैंने कई बार इनका अपमान किया । गलती की सजा मुझे मिलनी ही चाहिए थी ।"

यह सुनकर आश्रमवासी का हृदय भी परिवर्तित हो गया । अब अपने मन में वह लज्जित अनुभव कर रहे थे, किन्तु अभी तक भी उनका अभिमान उनकी वाणी को रोके खड़ा था । अन्तत: पश्चाताप की बाढ़ अभिमान रूपी बाँध को बहाकर ले जाने में सफल हो गई । आश्रमवासी ने कहा, "इनकी गलती यह जानें । मैं अपनी गलती स्वीकार करता हूँ । हम आश्रमवासी हैं, साधक हैं, तो भी माया में उलझे जीव ही हैं । हमारी पहुँच तथा शक्ति सीमित है । आपकी कृपा के बिना यह बंधन टूटने वाला नहीं है । हम अपना प्रयत्न कर-करके हार चुके हैं । मन-बार-बार उठाकर पटक देता है । अभी कई दिनों से मन के आवेश को रोकने का प्रयत्न करता आ रहा था, अन्तत: मन ने वह कर दिखाया जो नहीं होना चाहिये था ।"

महाराजश्री– यह है साधकों का दृष्टिकोण । भक्तों-संतों को यदि क्रोध करना होता तो उसके लिए लाखों बहाने बना सकते थे । क्या लोगों ने उनको कम परेशान किया ? किन्तु वे सदैव शान्त बने रहे । महर्षि विश्वामित्र का यज्ञ जब मारीच तथा सुबाहु ने बार-बार भ्रष्ट किया तो भी उन्होंने क्रोध नहीं किया । यही साधक का स्वरूप है । क्रोध पर नियंत्रण किए बिना तितिक्षा सिद्ध नहीं हो सकती । सभी विकार एक दूसरे से संबंधित हैं । एक के बल ग्रहण करने पर दूसरा भी पुष्ट हो जाता है । एक के दुर्बल हो जाने पर दूसरे विकार भी अपनी शक्ति में कमी अनुभव करते हैं । राग, द्वेष तथा ईर्ष्या से क्रोध का सीधा संबंध है । क्रोध के बढ़ जाने पर यह सब भी बढ़ जाते हैं । क्रोध के कम हो जाने पर यह भी कम हो जाते हैं ।

प्रश्न– क्रोध से संभवत: कोई ही मनुष्य अछूता होगा !

महाराजश्री– इसीलिए साधन तथा आत्म-संयम की आवश्यकता है ।

प्रश्न– किन्तु क्रोध के बिना जगत-व्यवहार भी नहीं चल पाता !

महाराजश्री– क्रोध का प्रदर्शन करने तथा क्रोध करने में अन्तर है । राग-द्वेष, ईर्ष्या, घृणा आदि मन में लेकर क्रोध करना क्रोध है । यदि ये सब नहीं हैं तो क्रोध करने में आपत्ति नहीं । माता-पिता तथा गुरु भी क्रोध करते हैं किन्तु उनका क्रोध मनुष्य के हित में होता है । उसे कौन बुरा कह सकता है ।

अब वह आश्रमवासी तथा सज्जन दोनों समझ गए थे । दोनों ने मन से एक दूसरे को क्षमा कर दिया । उसके पश्चात् उन दोनों में कभी किसी बात पर विवाद नहीं हुआ ।

(३३) काल-चक्र

महाराजश्री अब मृत्यु की बात कुछ ज्यादा ही करने लगें थे । वह प्राय: कहते, "अब कब तक बैठा रहूँगा ? अस्सी वर्ष का तो हो गया हूँ । और लोग भी तो आने वाले हैं । उनके लिए भी जगह खाली करनी है । जगत का कोई काम भी अब मेरे बिना नहीं अटका है ।"

प्रश्न– महाराज जी ! जब आप ऐसी बातें करते हैं तो डर लगता है । क्या यह नहीं हो सकता कि इस प्रकार आप बातें नहीं करें ?

महाराजश्री– मैं ऐसी बातें करूँ चाहे नहीं, जो होना है वह तो होगा ही । किसी के कहने या नहीं कहने से, होने वाली बात नहीं टलती । हमारी परम्परा में कैसे-कैसे महात्मा हो गए हैं, किन्तु आज वह हमारे बीच कहाँ विद्यमान हैं ? यह जगत ऐसा ही है, यदि भगवान भी यहाँ चला आए तो उसे भी एक दिन जगत छोड़कर जाना पड़ता है, किन्तु तुम्हें मेरे जाने की बात सुन कर डर लगता है या अपनी मृत्यु याद आ जाती है, उससे डर लगता है !

उत्तर– अपनी मृत्यु याद नहीं आती ।

महाराजश्री– यही तो विडम्बना है कि मनुष्य को अपनी मृत्यु याद नहीं आती । ईश्वर सृष्टि उपजाता है, काल उसे खाता जाता है । काल का मृत्यु तांडव अनादि काल से घटित हो रहा है । प्रतिक्षण जगत काल के गाल में समाता रहा है । इस मृत्यु लीला को प्रत्यक्ष देखकर भी किसी को अपनी मृत्यु याद नहीं आती । जो बात मनुष्य को हरदम याद रखनी चाहिए उसे तो याद रखता नहीं, तथा पता नहीं कब-कब की मिथ्या घटनाएँ अपने अन्तर में सहेजें फिरता है । कितना नादान तथा लापरवाह है मनुष्य !

प्रश्न– मृत्यु को एक दिन आना तो है, जब आनी होगी आ जाएगी, फिर उसे याद कर के भयभीत रहने की क्या आवश्यकता है ?

महाराजश्री– मैंने याद रखने की बात कही है, भयभीत होने की नहीं । संसारी मृत्यु से भयभीत होते हैं, जो मृत्यु के स्वरूप तथा कार्य को नहीं समझते । साधक, मृत्यु का स्वागत करने के लिये हरदम तैयार रहता है । काहे का भय ?

प्रश्न– किन्तु संतों-भक्तों ने मनुष्य शरीर को दुर्लभ तथा साधन-मंदिर न जाने क्या-क्या कहा है । जितने दिन यह अधिक बना रहे उतना अच्छा है । आप तो मृत्यु को याद रखने की बात कर रहे हैं ?

महाराजश्री– मृत्यु को याद रख कर ही शरीर की दुर्लभता तथा उपयोगिता को समझा जा सकता है । मनुष्य देह दुर्लभ साधन मंदिर तो है किन्तु यह सुअवसर कब तक उपलब्ध है, इसका कोई भरोसा नहीं, इसलिए इसका एक-एक क्षण बहुमूल्य है । प्रत्येक क्षण का साधन के प्रति सदुपयोग कर्तव्य है । ऐसा, मृत्यु को याद रखकर ही किया जा सकता

है । इससे भयभीत वे लोग होते हैं जो साधन के प्रति इसका उपयोग करते ही नहीं, विषय-भोग में ही मस्त बने रहते हैं । यही शरीर, साधन-मंदिर भी है तथा विषय भोग का माध्यम भी । मृत्यु याद रखने वाला साधन में रुचि लेता है । मृत्यु को याद रखता है, किन्तु भयभीत नहीं होता । उसे आलिंगन करने के लिये तैयार रहता है ।

प्रश्न– किन्तु फिर भी मृत्यु जीवन को समाप्त कर ही देती है ।

महाराजश्री– मृत्यु जीवन समाप्त करने का कारण है तो नया जीवन प्रदान करने का कारण भी है । शरीर ही भोग का भी माध्यम होने से विषय-भोगी शरीर से आसक्त हो जाता है तथा मृत्यु से भयभीत बना रहता है । साधन-प्रेमी जीवन के प्रति अनासक्त रहता हुआ भी, जीवन के प्रत्येक क्षण का साधन के लिए उपयोग करता है तथा मृत्यु आने पर नए जीवन की ओर आगे बढ़ जाता है । सारा जगत ही परिवर्तन शील है तथा काल ही परिवर्तन करता है । जीवों के स्वरूप के परिवर्तन का नाम ही मृत्यु है ।

प्रश्न– किन्तु सामान्य मनुष्य जीवन के प्रति कैसा आसक्त हो जाता है !

महाराजश्री– जीव की आसक्ति को हटाने के लिये ही भगवान ने काल की व्यवस्था कर रखी है । जिस भी वस्तु या पदार्थ के प्रति जीव आसक्त होता है, काल उसे विलीन कर देता है । जीव के जीवन भर की कमाई मृत्यु एक क्षण में समेट कर चल देती है । जिस शरीर के प्रति जीव आसक्त होता है, काल बाज की तरह एक झपट्टे में, उसको जीवन से अलग कर देता है । यदि देखा जाय तो सब से बड़ा गुरु काल है, जो जीव की आसक्ति तोड़ने के प्रयास में निरन्तर लगा ही रहता है । काल का स्मरण ही श्री गुरुस्मरण है ।

प्रश्न– यह तो आपने बड़ी विचित्र बात कह दी कि काल ही गुरु है, जबकि काल के नाम से भी लोग डरते हैं !

महाराजश्री– काल से वही लोग डरते हैं जो काल के स्वरूप को समझते नहीं । सारा जगत ही काल के नियंत्रण में है । वह एक अनुशासित गुरु की भाँति जगत पर नियंत्रण करता है । गुरु का अनुशासन चाहे कड़क हो, पर हृदय कोमल होता है । काल किसी को मृत्यु दण्ड देता हुआ प्रतीत होता है, किन्तु वह जीव की आसक्ति समाप्त करने के परोपकारी एवं मंगल दायक कार्य में संलग्न होता है, पर काल के सद्भाव को अनदेखा करके, संसार उसे बदनाम करता है तथा उससे डरता है । फिर भी काल अपने काम में लगा रहता है । किसी बात का उत्तर नहीं, किसी लांछन का प्रतिकार नहीं, अपने काम से काम ।

प्रश्न– क्या ईश्वर की तरह काल भी अनादि है ?

महाराजश्री– ईश्वर की तरह ही क्या ? ईश्वर से काल भिन्न नहीं है । ईश्वरीय शक्ति के सृष्टि के रूप में प्रकट होने के साथ, शक्ति की एक क्रिया काल के रूप में प्रकट हुई ।

सारी सृष्टि देश, काल तथा दिशाओं की सीमा में आ गई । यह सब कब हुआ ? कोई कुछ नहीं कह सकता । जो इस रहस्य को जान जाता है तथा कह सकता है, उसकी वाणी मौन हो जाती है । इसलिए जिसके आदि के विषय में नहीं कहा जा सकता, उसे अनादि कह दिया जाता है । शंकर का नाम महाकाल तो प्रसिद्ध है ही ।

प्रश्न– तो काल भी क्या सर्वव्यापक है ?

महाराजश्री– जहाँ देश वहाँ काल है, जहाँ दिशाएँ हैं वहाँ काल है, जहाँ प्रकृति का अणु मात्र भी है, वहा काल है । जब शक्ति, सृष्टि के रूप में अपना प्रसार समेट लेती है तो शिव में विलीन हो जाती है तब काल भी शक्ति के साथ ही विलीन हो जाता है । शक्ति, काल तथा दिशाओं को जीव अनुभव करता है, इनकी कल्पना करता है, यदि इन तीनों को निकाल दिया जाए तो सृष्टि में कुछ बचेगा ही नहीं ।

प्रश्न– अच्छा महाराज जी ! काल पर विजय पाने का क्या अर्थ है ? जब काल एक तरह से ईश्वर की ही शक्ति है, तो उसे विजय कैसे किया जा सकता है ?

महाराजश्री– काल-विजय का शाब्दिक अर्थ काल की गति को रोक देना है, किन्तु काल तथा सृष्टि एक दूसरे से अत्यन्त संबंधित हैं । जब तक सृष्टि है तब तक काल भी रहेगा । उसकी गति को कोई रोक नहीं सकता । इसलिये काल-चक्र का औपचारिक अर्थ ही ग्रहण करना पड़ेगा । इसके दो अर्थ हो सकते हैं–

(१) काल-प्रवाह तो निरन्तर चलता रहेगा, किन्तु यदि किसी प्रकार ऐसी स्थिति प्राप्त हो जाये कि लक्ष्य काल-प्रवाह की ओर जाय ही नहीं, तो यह कालातीत अवस्था होगी तथा इसे काल-विजय कहा जायगा, जैसे समाधि अवस्था ।

(२) ऐसी आध्यात्मिक ऊँचाई प्राप्त कर ली जाय जिससे यह जगत्, शरीर तथा काल-प्रवाह, एक चल-चित्र की भाँति अपने से भिन्न प्रतीत हो तथा वे मन को प्रभावित नहीं करें, तो काल-प्रवाह के होते हुए भी काल-विजय हो जायेगी जैसे तुरीयावस्था ।

प्रश्न– यदि जप में ऐसी एकाग्रावस्था आ जाय कि काल का भान ही न रहे, तो ?

महाराजश्री– वह तो समाधि के अन्तर्गत ही हुई । समाधि सम्प्रज्ञात् हो, अथवा असम्प्रज्ञात् है तो समाधि ही ।

प्रश्न– यह काल विजय तो नहीं, काल प्रवाह के प्रति उदासीनता है !

महाराजश्री– काल-विजय असंभव है । यही अर्थ लेना पड़ेगा ।

प्रश्न– क्या काल विजय के साथ कला, नियति, राग-द्वेष भी विलीन हो जाएँगे ?

महाराजश्री– यह सभी काल के अन्तर्गत ही हैं । काल से अतीत हो जाने पर कला, नियति तथा राग-द्वेष से भी अतीत अवस्था प्राप्त हो जाएगी ।

प्रश्न– आपने सारा अध्यात्म काल के आस-पास ही एकत्रित कर दिया ।

महाराजश्री– सभी विषय एक दूसरे से गुँथे हुए हैं । किसी को भी केन्द्रिय विषय बना कर व्याख्या की जा सकती है । यह चित्त स्थिति पर आधारित है कि कौन किस को कितना महत्व देता है । इसी से कई मत मतान्तर खड़े हो गए हैं ।

प्रश्न– हमें ज्ञात नहीं था कि मृत्यु को याद रखना महत्वपूर्ण क्यों है ?

महाराजश्री– मृत्यु का स्मरण, काल के प्रति जीव का लक्ष्य निर्धारित करता है । मृत्यु का स्मरण जीवन के एक-एक क्षण के महत्व को प्रकटाता है तथा मृत्यु का स्मरण जीवन की क्षण भंगुरता को दर्शाता है । मृत्यु का स्मरण ही जीव को मृत्यु के भय से मुक्त करता है । मृत्यु अगले जीवन का द्वार है । मृत्यु अनासक्ति का क्रियात्मक साधन है । मृत्यु ही जीवन का सार है ।

काल ही जगत में फँसाता है तथा काल ही काल-चक्र से छुड़वाता है । काल ही सृष्टि का विस्तार करता है तथा काल ही समेट लेता है । शक्ति का प्रसव तथा प्रतिप्रसव क्रम काल के ही अधीन है । समाधि की अवस्था में काल बाहर पहरेदार के समान है तथा व्युत्थान दशा में आने पर, सबसे आगे बढ़कर स्वागत करता है ।

प्रश्न– यह सब तो आपने अच्छी तरह समझाया, किन्तु फिर भी आपसे एक निवेदन है । हम अभी अनाड़ी बालकों के समान हैं । पिता की उँगली पकड़ कर चलने का अभ्यास अभी नहीं छूटा । यही आशा रहती है कि श्रीचरणों का सुख सदैव मिलता रहे । आपके मनोहर वचनों से कान पवित्र होते रहें तथा जैसी भी टूटी-फूटी सेवा बन पड़े, आप ग्रहण करते रहें, इसलिए बार-बार मृत्यु का स्मरण कराकर हमारे हृदयों को व्यथित न करें । आत्मा तथा परमात्मा तो बड़ी दूर की बातें हैं, अभी तो प्रत्यक्ष ईश्वर आप ही हैं ।

इस पर महाराजश्री बड़े जोर से हँसे । "मैं नहीं जानता था कि अभी तक आप अबोध बालक ही हैं । जगत में तो आपके बुद्धि-कौशल की धूम है । अपनी मृत्यु की बात अब नहीं करेंगे, किन्तु आप लोगों को अपनी मृत्यु याद रखना है ।"

(३४) साधकों के लिए

जिस प्रकार कोई व्यक्ति सेवा-निवृत्त होने से पूर्व अपने सभी काम निपटाता चला जाता है, लगता था कि महाराजश्री भी अब सेवानिवृत्त होने वाले हैं । अपने भक्तों की ओर, बड़ी तत्परता से उपदेश देने में लगे हुए थे । ऐसा करना, ऐसा नहीं करना आदि बातें बड़े प्रेम से समझाने लगे थे । ऐसा ज्ञात होता था कि अवश्य ही कहीं से, उन्हें कोई गुप्त संदेश प्राप्त हुआ था । उस संदेश को तो वह व्यक्त नहीं करते थे, किन्तु उनके क्रियाकलापों में परिवर्तन से उसका कुछ आभास अवश्य हो रहा था ।

एक दिन बाहर से भी कई लोग आए हुए थे । इन्दौर-देवास के भी अधिकांश शिष्य उपस्थित थे । महाराजश्री बाहर खुले में ही कुर्सी पर विराजमान थे । अपने भक्तों को संबोधन कर रहे थे–

"संत महापुरुषों का गुण-गान करना, उनके जीवन की विविध घटनाओं की चर्चा करना, जीवनियाँ पढ़ना अच्छी बात है । इससे मन में उत्साह, संतोष एवं प्रभु-प्रेम पैदा होता है तथा मार्ग-दर्शन मिलता है, पर यदि कोई महापुरुषों का गुणगान करने तक ही सीमित रहे, स्वयं कुछ नहीं करे तो इस सबका कोई लाभ नहीं । दूसरे के धन का ही गुणगान करता रहे, तथा स्वयं कुछ नहीं कमाए तो तो वह धनवान नहीं हो जाता ।

"हम अपने कमरे को यदि महापुरुषों के चित्रों से सुशोभित करते हैं तो नित्य प्रति थोड़ी देर के लिए, उनके सामने खड़े होकर उनके जीवन की पवित्रता का, उनके गुणों का, उनके शुद्ध चित्त का ध्यान करना चाहिए । इस प्रकार आपका चित्त भावनात्मक स्तर पर उनके चित्त के साथ तादात्म्य में आ जाएगा तथा उन महापुरुषों के सद्‌गुणों को ग्रहण करने लगेगा । आपको अपना चित्त प्रभावित होता हुआ प्रतीत होगा । फिर धीरे-धीरे व्यवहार में भी चित्त में प्रकाश को अनुभव करने लगोगे ।

"मंत्र का भी एक अर्थ होता है, भाव होता है, कुछ संदेश होता है, जिसे जीवन में धारण करना साधक का कर्तव्य है, अन्यथा साधक, जप का समुचित लाभ नहीं उठा पाता । केवल मनके घुमाते रहने का कोई विशेष लाभ नहीं । जब जीवन में सात्विकता का संचार होता है, तभी जप में एकाग्रता आ पाती है ।

"साधन करते समय इस बात का ध्यान रखो कि जिस चैतन्य शक्ति की क्रियाशीलता अन्तर में अनुभव हो रही है, वह प्रत्येक प्रकार के अभिमान से सर्वथा अतीत है । अपने इस गुण को प्रकट करने के लिए ही वह अपनी क्रियाशीलता उजागर करती है । यह क्रियाएँ शक्ति की होकर भी शक्ति की नहीं है, आपकी चित्त-स्थिति के अनुरूप ही क्रिया प्रकट होती है । यद्यपि कोई क्रिया शक्ति के संयोग के बिना नहीं घट सकती, किन्तु फिर भी वह कर्ता होकर भी अकर्ता ही रहती है । कर्ता तो तब हो जब उसमें कुछ करने का अभिमान हो । अभिमान के कारण ही जीव, अकर्ता होते हुए भी कर्ता बन बैठता है । यही जीव का मिथ्या अभिमान है । उसी को दूर करना साधन का प्रयोजन है । उसीके लिए इस आन्तरिक अनुभव की आवश्यकता है ।

"अपना समय अनावश्यक बक्-बक् करने में क्यों बिगाड़ते हो ? यदि विचार करके देखो तो मनुष्य की अधिकांश बातें अनावश्यक ही होती हैं । अमूल्य शक्ति का अपव्यय व्यर्थ की चेष्टाओं में क्यों करते हो ? शक्ति का प्रवाह चित्त में गहरे उतर कर,संस्कारों को उखाड़ कर ऊपर लाने तथा उन्हें क्रियाओं में परिणित करने के स्थान पर,

जगत में प्रसारित होने लगता है । अधिक बोलने का अर्थ है, अपने आपको शक्ति के आन्तरिक अनुग्रह से काट लेना ।

"जब कोई बोलने में अभिमान प्रदर्शन या आत्म-श्लाघा करने लगता है तो उसका प्रत्येक शब्द उसमें अभिमान के बीज संचित तथा पुष्ट करता जाता है । जब किसी के मुँह से निन्दा की गंदी धारा बह निकलती है, तो उसका अपना चित्त जगत रूपी गंदगी से अपवित्र हो जाता है । जब कोई क्रोधित हो उठता है तो उसके शरीर का रोम-रोम तथा मन का कोन-कोना क्रोधाग्नि की ज्वालाओं से धधकने लगता है । जब मनुष्य में घृणा के दूषित जल की लहरें उठने लगती हैं, तो उसके तन-मन में दुर्गन्धयुक्त विषाक्त हवाएँ चलने लगती हैं । यदि अपने आपको जगत की भयानक विकटताओं की आँधियों से बचाकर रखना चाहते हो, तो अपनी वाणी को संयत करो । जितना अधिक बोलोगे उतनी ही आत्म श्लाघा, निन्दा, विषयासक्ति की चर्चा, क्रोध तथा घृणा अधिक करोगे । जिन बातों से आप को कुछ लेना-देना नहीं है, उनमें भी टाँग अड़ाते फिरोगे, जिससे कई बार आपके समक्ष विपरीत परिस्थितियाँ भी उदय हो सकती हैं ।

"अधिक बोलने वाला व्यक्ति कब क्या कहना, क्या नहीं कहना का ध्यान नहीं रख पाता । उसे बड़ों के आदर तथा छोटों से लज्जा का भी ध्यान नहीं रहता । कई बार वह बड़ी हास्यास्पद स्थिति में उलझ जाता है । लोग उससे बात करने में कतराने लगते हैं । एक प्रकार से वह अकेला पड़ जाता है, किन्तु जब बोलने की आवश्यकता हो तो नहीं बोलना भी अच्छा नहीं ।

"भगवान् ने वाणी हृदय के भावों के व्यक्त करने के लिये दी है, छिपाने के लिये नहीं । छिपाने के लिये वाणी का उपयोग, वाणी का दुरुपयोग है । मनुष्य चित्त के कड़वाहट भरे घृणित भावों पर सुन्दर, मधुर तथा सुसभ्य वाणी का आवरण डाल कर, छिपा लेने का प्रयत्न करता है, चालाकियों का सहारा लेता है । हृदय में विष, मुँह में सुस्वादु पकवान । फिर उसे व्यवहार कुशलता का नाम देता है, किन्तु अध्यात्म साधन के यह बात, एकदम विपरीत है । अन्दर-बाहर का यह अन्तर ईश्वर में नहीं है । जिसमें यह अन्तर है, वह जीव है । यदि जीवत्व हटाना है तो यह अन्तर मिटाना होगा ।"

एक श्रोता– महाराजजी ! मुझे अपने कई दोषों का पता है । कई ऐसे दोष भी होंगे जिनका अभी तक पता नहीं चल पाया । उन ज्ञात दोषों से छुटकारा पाने के लिए पिछले कई वर्षों से अनथक प्रयास करता आ रहा हूँ, किन्तु अभी तक उनमें से एक को भी हटा नहीं पाया । ऐसा लगता है कि कई वर्ष पूर्व मैं जहाँ था, अभी भी वहीं खड़ा हूँ । प्रयत्न के साथ कई दोष तो उग्र से उग्रतर होते जा रहे हैं ।

महाराजश्री– यह समस्या तुम्हारी अकेले की नहीं है । प्राय: प्रत्येक मनुष्य की स्थिति है । काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, द्वेष को जितना दबाने का प्रयत्न करोगे, उतना ही अधिक उग्र रूप धारण कर, अधिक उछल-कूद करेंगे । ये ऐसे राक्षस के समान हैं जो मरना जानते ही नहीं । मन के इन्हीं कुकृत्यों के हाथों संत महापुरुष तक परेशान है । अन्तत: भगवान के समक्ष ही प्रार्थी होते हैं ।

चित्त में वासनाओं को उभारने का काम संस्काराशय के हवाले है । प्राय: जो मनुष्य विकारों को निर्मूल करना चाहता है, वह वासना से ही युद्ध करने में लगा रहता है । संस्कार, जहाँ से वासना को बल प्राप्त होता है, अछूता छोड़ देता है । इसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य कभी भी वासना पर काबू नहीं पा सकता तथा इस प्रकार वासना चक्र घूमता ही रहता है । अन्तत: मनुष्य थककर निढाल हो जाता है तथा वासना पर विजय पाने का विचार ही त्याग देता है ।

यदि साधक को वासना पर विजय की जिज्ञासा हो तो उसे वासना की शक्ति का संस्काराशय रूपी आपूर्ति स्थल नष्ट करना होगा । भक्ति से, योग साधन से, सेवा भावना से तथा सबसे बढ़कर जाग्रत शक्ति की क्रियाशीलता से संस्कारों के लिखे को मिटाना होगा । तब अपने आप एक दिन वासना शिथिल होकर गिर जायगी, अन्यथा वासना रूपी दैत्य सदा साधक को भयभीत किए रखेगा । अध्यात्म का भी एक विज्ञान है । साधक यदि नासमझी में, अंधकार में लाठी घुमाता रहे तो उसे कुछ भी प्राप्त होने वाला नहीं । अंधेरे में लाठी मुकाम पर लग जाय, न भी लगे । अधिक संभावना नहीं लगने की है ।

प्लेटफार्म पर जब गाड़ी आती है तो कितनी गहमा-गहमी होती है ! चढ़ते-उतरते यात्री, खोमचे वालों की आवाजें, आरक्षित जगह ढूँढते फिरते इच्छुक, सब ओर धकमपेल । दस-पाँच मिनट में गाड़ी चल देती है ।प्लेटफार्म सुनसान । यही हाल मनुष्य जीवन का है । गाड़ी जगत रूपी प्लेटफार्म पर रुकते ही जीवन की भाग दौड़ आरंभ हो जाती है । घर के कामों में व्यस्त हैं, धन कमाने तथा सामाजिक उत्तरदायित्वों से अवकाश नहीं । बच्चों के साथ उछल-कूद । किसी से मित्रता, किसी से द्वेष । शरीर छूटते ही जीवन रूपी प्लेटफार्म सुनसान हो जाता है । यही मनुष्य का जीवन है ।

मनुष्य जीवन में कितने उत्साह से लगा रहता है ? कितनी व्यस्तताएँ, कितनी चिन्ताएँ, कितने उत्तरदायित्व ? जीवन की गाड़ी छूटते ही सब रखा रह जाता है । किसी मृत व्यक्ति से कहो, "पिताजी उठो ! आफिस जाने का समय हो रहा है या आपका कोई प्रिय जन मिलने आया है" तो भी वह निष्प्राण व्यक्ति उसी प्रकार पड़ा रहता है, क्योंकि अब गाड़ी निकल चुकी है । यही मनुष्य का जीवन है ।

क्या इसी जीवन पर इतने इतरा रहे हो ? क्या इसी जीवन के लिए आप ने ईश्वर को भुला रखा है ? जिन पदार्थों को एक दिन आपको स्वयं त्याग कर चल देना है, उन्हीं पर इतने आसक्त हो रहे हो ? शरीर से संबंधित नाते केवल शरीर रहते तक ही सीमित हैं, उन्हीं को तुम स्थाई मान रहे हो । कौन सा यश तथा काहे का अपयश ? यह सारा खेल चार दिन का ही है । जीवन की वास्तविक कमाई यह नहीं कि लोग आप की प्रशंसा करते हैं या आलोचना । कमाई यही है कि किसने कितना चित्त शुद्ध किया, आन्तरिक यात्रा में कितना आगे बढ़ा, हृदय में प्रभु से कितना प्रेम पैदा हुआ, जगत से अपने आप को कितना दूर हटाया ? वास्तव में यही मनुष्य का जीवन है ।

एक भक्त– महाराजजी ! आप तो बहुत समझाते हैं । संतों, शास्त्रों ने भी बहुत कुछ कहा है । सुन-पढ़ कर मन पर प्रभाव भी पड़ता है । फिर पता नहीं क्या हो जाता है कि जगत अभिमुख होने पर सब कुछ भूल जाते हैं ।

महाराजश्री– जिस मन में फिसलन होती है उसमें बात टिक नहीं पाती । वासनाओं तथा भ्रम की फिसलन, राग-द्वेष तथा अभिमान की काई । बात अन्दर गई नहीं कि झट बाहर, किन्तु जरा सोचो कि काल प्रतिक्षण आपके पाँव के नीचे से जमीन काटता जा रहा है, आप कब तक स्थिर रह पाओगे ? नदी का बढ़ता जल-प्रवाह बड़े वेग से आप की तरफ चढ़ता चला आ रहा है, कब तक अपने आपको बचा पाओगे ? मृत्यु का ताण्डव नृत्य अबाध गति से आपके चारों ओर चल रहा है, एक न एक दिन उसकी चपेट में आ ही जाओगे । जितनी जल्दी चेत जाओ उतना ही अच्छा है ।

अपने मन में प्रभु का ऐसा प्रेम पैदा करो कि संसार के दृश्यमान पदार्थ महत्वहीन तथा गौण हो जाएँ । आपको संसार को त्यागने की आवश्यकता नहीं है, संसार को ही आपको त्याग कर चले जाने दो । तब आपकी इन्द्रियाँ, जो कि इस समय असंयत तथा निरंकुश हैं, आपको अपनी पकड़ से सदैव के लिए मुक्त कर देंगी । आवश्यकता ईश्वर के लिए केवल प्रेम, तड़प तथा विरह पैदा करने की है । विरहाग्नि वासनाओं को भस्मीभूत कर देती है । विकारों का जंगल जला डालती है एवं पुरानी स्मृतियों के बीजों को जलाकर खाक कर देती है । तब आपका मन जगत के अभिमुख होकर भी जगत का कोई प्रभाव ग्रहण नहीं करेगा ।

तब आपका ही साधन-क्रम आपको परमार्थ की उस मनोहर बगिया में ले जाएगा जहाँ न ही वासनाओं की दुर्गंध होगी, न ही विषयों की घुटन, और न ही भ्रान्तियों-शंकाओं की दलदल । जहाँ श्रद्धा तथा प्रेम की सुगंध ही सुगंध तथा शीतल बयार होगी । जहाँ दिन हो या रात, सदैव सूर्य प्रकाशित रहेगा । वहाँ आपके विरह तथा विश्वास को एक बार पुनः

तोला जाएगा । मन के शेष बचे सभी संदेशों तथा भ्रान्तियों को निर्मूल बना कर भ्रममूलक माया के परले पार खुशगवार दृश्यावली में ले जाया जाएगा ।

फिर आपकी यह शिकायत, कि मन फिसलन भरा है, कोई बात मन में अधिक समय तक ठहरती नहीं, अपने आप मिटती जाएगी । आपका अनुभवगम्य विश्वास तुम्हें यथार्थ ज्ञान के स्थिर, शान्त तथा सुन्दरवन में उन्मुक्त विहार का अवसर प्रदान करेगा । जहाँ न वेदना है न चंचलता । न कोई परिवर्तन है न परिणाम ।

प्रश्न– आपने प्रेम तथा विरह के बारे में चर्चा की । प्रेम के विषय में थोड़ा और कहिए ।

महाराजश्री– जिस प्रकार वृक्षों को जल से सींचा जाता है उसी प्रकार जीवन वृक्ष को प्रेम के मधुर-सुहावने रस से । जहाँ प्रेम-रस रूपी जल अटक जाता है वहाँ दुर्गंध पैदा होने लगती है । प्रेम का मन में न होना ही घृणा का स्वरूप है । प्रेम यदि सकारात्मक तत्व है तो घृणा नकारात्मक । प्रेम का स्वाद मीठा तथा घृणा का कड़वा होता है । प्रेम शक्ति के विकास का कारण है तो घृणा ह्रास का । प्रेम के अभाव के कारण ही जीवन में रूखापन होता है । जगत तथा परिस्थितियों को क्यों दोष देते हो ? यह मुरझाए चेहरे घृणा का ही प्रतिफल हैं ।

कहते हैं कि राग-द्वेष जगत का स्वाभाविक गुण है । आप भी उस गुण को स्वाभाविक मानकर, अपने प्रेम को कुछ ही लोगों तक सीमित करने की भूल न करो । अपना हृदय क्यों इतना उदार नहीं बनाते कि सारा जगत ही आपके प्रेम का अधिकारी बन सके ! तब आपका प्रेम बँधे-सड़े जल की परिधि त्याग कर, अनन्त महासागर का रूप ग्रहण कर लेगा । तभी जगत की सीमाएँ तोड़ कर, असीम आकाश में विहार कर सकोगे । तभी मोह रूपी कीचड़ में कमल की तरह खिल सकोगे ।

वास्तविक प्रेम प्रभु-प्रेम ही है । प्रेमी प्राणीमात्र में ईश्वर के दर्शन करता है । किसी से घृणा करने का अर्थ है प्रभु से घृणा करना । अहम् ऐसा हो कि सारा संसार ही आप के अहम् में समा जाए । ऐसा अहम् ही प्रभु का अहम् होगा । ऐसा अहम् ही समष्टि चेतना का स्वरूप है । ऐसा प्रेम ही प्रभु का अपनत्व भाव है । ऐसा प्रेम ही ससीम जीव को असीमता अनन्तता, सर्वज्ञता प्रदान करने का कारण होता है ।

आरंभ में प्रेम मनुष्य को कष्टकर होता है । ऐसा उसी के साथ होता है जिसको अपने वास्तविक स्वरूप की कल्पना नहीं, जिसकी चित्त-स्थिति मिथ्या अहम् में स्थापित है, जिसका चित्त अभी तक प्रेम ज़ैसी विशालता धारण नहीं कर सका । चित्त में संकुचित भाव को लेकर प्रेम की व्यापकता को कैसे निभाया जा सकता है ? किन्तु यदि मनुष्य उस कष्ट को सहन करता रहे तो प्रेम ही उसके मन तथा हृदय को व्यापकता-विशालता प्रदान कर देता है ।

स्वार्थमय प्रेम कोई प्रेम ही नहीं । मोह-वशात् प्रेम भी कोई प्रेम नहीं । यह वासनाओं तथा आशाओं का प्रकटीकरण है, जो कहीं न कहीं अपने साथ घृणा तथा द्वेष भी लपेटे फिरता

है । प्रेम केवल, प्रेम के अपने ही सहारे टिका है । जहाँ आप को घृणा या प्रेम का दूसरा सहारा दिखाई दे, समझ लो कि पहला सहारा भी मोह या स्वार्थ है, प्रेम नहीं ।

जब तक मनुष्य के मन में किसी भी मनुष्य के लिये घृणा, द्वेष या शत्रु भाव है, तब तक उसे किसी से भी प्रेम नहीं । प्रेम ऐसा तत्व नहीं कि किसी से प्रेम हो, किसी से न हो । या तो वह सभी से एक समान होता है, या किसी से भी नहीं । प्रेम में मेरा—तेरा नहीं, केवल मेरा है । जब तक मेरा-तेरा है, तब तक न कोई मेरा है, न तेरा है ।

प्रेम की पराकाष्ठा विरह है । हवाई जहाज पर बैठकर देखो । बादल ही बादल दिखाई देते हैं । पहाड़, समुद्र, नगर, मरुभूमि, आकाश सभी कुछ बादलों में छिप जाता है । उसी प्रकार जिस हृदय में विरह रूपी बादल छा जाते हैं, वहाँ कोई दूसरा भाव प्रवेश नहीं पा सकता । विरह के अतिरिक्त कुछ अनुभव नहीं होता । विरह अन्य सभी भावों को हृदय से दूर हटा देता है । विरह में अति वैराग्य सिद्ध होता है । यह ऐसी अन्तर्अग्नि के समान है, जिसमें सब कुछ जल कर राख हो जाता है । विरही भक्त भगवान के समक्ष रोता है, उसे पुकारता है । कई बार तो उसे भावातिरेक में उपालम्भ भी देने लगता है ।

विरह चुपके-चुपके हृदय में प्रवेश कर जाता है । घर मालिक को पता भी नहीं चलता कि वह कब घुस गया । चित्त का सारा बोझ, वासनाएँ, आसक्ति, संस्कारों का तो हरण कर लेता है, किन्तु स्वयं का बोझ चित्त में छोड़ जाता है । वासनाओं का बोझ जन्म-जन्मान्तर तक पीछा नहीं छोड़ता, किन्तु विरह का बोझ प्रभु मिलन के पश्चात् स्वत: उतर जाता है ।

जब तक मनुष्य को अभिमान दबाए रहता है, वह मस्तक तथा आँखें ऊपर उठाए संसार में घूमता रहता है । उसके हाथ बार-बार अपनी छाती पर आ जाते हैं, किन्तु जब विरह प्रकट हो जाता है, तो मस्तक तथा आँखें झुक जाती हैं । दोनों हाथ बँध कर नीचे लटक जाते हैं । सारा मिथ्या अभिमान गलित हो जाता है । तभी मनुष्य को अपनी यथार्थता का भान होता है ।

भव सागर अत्यन्त गहरा तथा विशाल है । वासनाओं तथा विकारों की लहरों से इसने अपने आपको और भी भयावह बना लिया हुआ है । कोई इसे पार करना भी चाहे, तो नहीं कर सकता । न प्रयत्न से, न साधना से, न ही कर्म-भक्ति से । संसार के प्राय: लोग इसके किनारे खड़े रहकर अभिमान के गाने गाते रहते हैं । इसको पार करने का एक मात्र उपाय प्रभु-कृपा ही है ।

विरही अभिमान रहित होता है । मैं तथा मेरे की भावना उसे छू भी नहीं पाती । वह जीवित अवस्था में मरे हुए के समान होता है । लोग उसके बाल नोचते हैं, किन्तु वह सहन करता है । नोचने वालों को मना भी नहीं करता । लोग उसके सामने मौज मस्ती करते हैं, वह उदासीन बना रहता है । उसकी अन्तर्तार सदैव अपने प्रभु के साथ जुड़ी रहती है ।

भरे-पूरे संसार में वह अकेला ही होता है । न वह किसी को अपने साथ लेता है, न ही उसे किसी को अपने साथ लेने की आवश्यकता होती है, न ही उसके साथ कोई चल पाता है । वह जानता है कि प्रेम गली में से, अकेले निकल पाना भी कठिन है । वह अपने मन तथा शरीर से भी सारा सामान फेंकता जाता है । बेसहारा, बेघरबार, न कोई संगी न साथी, मन में अपने प्रियतम की आस लगाए प्रेम गली में भटकता फिरता है ।

जगत अपने आपको बुद्धिमान, दक्ष तथा जागरूक समझता है, विरही जो कि अन्तर्गगन में विहार करता रहता है, को नासमझ, असभ्य तथा आलसी जाने क्या-क्या नाम देता है, उसकी उपेक्षा करता है, किन्तु जब काल मृत्यु का रूप धारण कर चुग्गा चुगता है, तो संसार के लोग उसकी सशक्त पकड़ में पड़े तड़पते हैं, जबकि विरही परमार्थ भवन में बैठा, आनन्दमग्न होता है । विरही के लिए यह संसार मरुभूमि, पथरीला तथा वीरान है । उसे इसमें कोई आकर्षण नहीं । वह प्रेम तथा विश्वास की नाव में बैठकर जल विहार करता है ।

इसीलिए मैं कहता हूँ कि अब भी अवसर है अपने आप को सँभाल लेने का । संसार में क्यों फँसे-धँसे जा रहे हो ? मन में प्रभु का प्रेम पैदा करो तथा वैतरणी पार कर जाओ ।

यह सुनकर सभी लोग गहरी सोच में डूब गए। उन्हें अपना हृदय एक ऐसा मरुस्थल दिखाई दे रहा था, जिसमें एक भी पुष्प नहीं खिला था ।

(३५) भविष्य के लिए मार्गदर्शन

एक दिन महाराजश्री ने मुझे बुलवाया तथा इस प्रकार कहने लगे –

"तुमने मुझे अपनी मृत्यु की बात नहीं करने के लिये कहा था, और मैंने उसे मान भी लिया था, किन्तु सारे जगत की मृत्यु की बात तो कर ही सकता हूँ ।सच्ची बात यह है कि संसार का प्रत्येक जीव मृत्यु के जबड़े में अटका हुआ है । मृत्यु जब चाहे उसको निगल जाए । प्रत्येक जीव नदी किनारे कें वृक्ष के समान है, जिसे जल-प्रवाह जब चाहे, किनारा काटकर बहा ले जाए । युवा, बाल, वृद्ध सभी की यही दशा है । अगला साँस कोई ले पाएगा कि नहीं, इसका कोई पता नहीं, इसलिए जो कुछ मैं तुम्हें क़हता हूँ उसे ध्यान से सुनो-समझो । अच्छा काम भविष्य के लिए कभी टाल नहीं देना चाहिए क्योंकि पता नहीं फिर अवसर प्राप्त हो कि नहीं । कभी न कभी अवश्य यह समय आएगा ही, जब इस शरीर का वरद् हस्त तुम्हारे सिर पर नहीं रहेगा, किन्तु भावनात्मक स्तर पर तुम्हें सदा मेरे साथ होने की स्थिति का ध्यान बना रहना परम आवश्यक है । वैसे भी शरीर भले ही विलीन हो जाए किन्तु गुरु तंत्व सदैव ही विद्यमान रहता है । उसकी अनुभूति बने रहना ही कल्याणकर है ।

(१) गुरु होने के मिथ्या अभिमान को कभी भी अपने पास फटकने भी नहीं देना । यदि सच पूछा जाए तो गुरु जगत में कोई है ही नहीं । यदि गुरु का वास्तव में ही अस्तित्व

होता, तो किसी एक को सारा संसार गुरु रूप में मानता होता । जैसे सूर्य, पृथ्वी, जल आदि का अस्तित्व सारा जगत स्वीकार करता है । किसी भी देश का वासी, किसी भी धर्म का अनुयायी, कोई भी भाषा बोलने वाला, विद्वान या मूर्ख, धनवान या भिखारी, आस्तिक-नास्तिक इन के अस्तित्व से इंकार नहीं करते, किन्तु किसी भी गुरु के साथ ऐसी बात नहीं है । कुछ लोग उसे गुरु मानते हैं, अधिकांश नहीं मानते । यह केवल भावना की बात है, मानने की बात है । तुम ने बार-बार गुरु कार्य करने से इंकार किया तथा मैंने हर बार यही समझाया, कि तुम गुरु नहीं बन रहे हो । गुरु बना नहीं जाता, जो गुरु है वह तीनों कालों में सदैव ही गुरु है । इस विषय में कुछ बातें स्पष्टतया अपने मन में समझ लो—

* संसार में केवल एक ही गुरु है, और वह है ईश्वर । जगत में गुरु माने जाने वाले सभी लोग ईश्वर से ही शक्तिग्रहण करते हैं ।

* गुरु तत्व अथवा गुरु की शक्ति कभी दिखाई नहीं देती, वह सदैव अदृश्य रहकर ही जीवों का कल्याण करती है क्योंकि वास्तविक गुरु को किसी से अपनी प्रशंसा सुनना अच्छा नहीं लगता । केवल उसकी क्रिया को अनुभव किया जा सकता है । जगत में गुरु केवल औपचारिक प्रयोग है । जिसका जगद्गुरु ईश्वर से संबंध स्थापित हो गया है, तथा जो भी ईश्वर के गुरु कार्य का माध्यम बन जाता है, संसार उसे गुरु कहने—मानने लग जाता है ।

* गुरु अनुग्रह भी ईश्वर ही करता है, जो किसी शरीर के माध्यम से होता है । यदि ईश्वर न चाहे तो अनुग्रह भी नहीं हो सकता । जगत उसी माध्यम-शरीर को गुरु मान लेता है, सेवा प्रणाम करता है । यदि ईश्वर किसी शरीर के माध्यम से कृपा करता है तो शिष्य भी किसी शरीर के माध्यम से ही ईश्वर की सेवा तथा उसे प्रणाम करते हैं । शिष्य तथा ईश्वर के बीच गुरु शरीर संपर्क सूत्र होता है । संतों-भक्तों ने सद्गुरु की इतनी महिमा गाई है तो उनके समक्ष गुरु रूप में ईश्वर ही था ।

* किसी भी प्रकार का अभिमान, ईश्वर-रूप से संबंध सूत्र कमजोर करने का कारण है । जो मनुष्य अपने-आप को गुरु मानता है, वह गुरु तो क्या शिष्य भी नहीं रहता । वह अभिमान का बोझ ढोने वाला, केवल एक मजदूर होकर रह जाता है ।”

प्रश्न– कुछ लोग तो अपने आपको जगद्गुरु लिखते हैं ?

महाराजश्री– लिखने का क्या है ? चाहे अपने आपको कोई ब्रह्माण्ड गुरु लिख ले ! सारे जगत ने क्या किसी को, कभी गुरु माना भी है ?

(२) आश्रम में तुम्हें हजारों लोगों के साथ संपर्क में आना पड़ेगा । कुछ तुम्हारे अनुकूल होंगे तो कुछ प्रतिकूल । तुम्हारी प्रशंसा करने वाले भी, आलोचना करने वाले भी ।

कई तुम्हारे सहायक होंगे, तो कई तुम्हारी टाँग खींचेंगे । तुम्हें सब को निभाना है । सब से प्रेम करना है तथा सभी का कल्याण चाहना है । तुम्हारे मन में जितना सभी के प्रति, ईश्वर के प्रति, अपने पराये के प्रति प्रेम होगा, उतने ही हृदय में सद्‌गुणी भाव होंगे, उतनी ही सहन शीलता बढ़ेगी तथा उसी अनुपात में अन्तर में ज्ञान का प्रकाश होगा । जिसके मन में प्रेम नहीं, उसके मन में ज्ञान, भक्ति तथा वैराग्य भी उजागर नहीं हो सकता । कोई तुम्हारे लिए मंगल कामना करे या नहीं, किन्तु तुम अपने मन में, सबके लिए मंगल कामना करना ।

प्रतिशोध की भावना चाण्डाल वृत्ति है । मनुष्य को अंधा कर देती है । कुमार्गगामी बनने पर विवश कर देती है तथा प्रेम-भाव का नाश कर के, मन में राग-द्वेष की वृद्धि करती है । प्रतिशोध की भावना में जलता मनुष्य रात को चैन से सो नहीं पाता । लौकिक अथवा पारमार्थिक, किसी काम में मन नहीं लगता । प्रतिशोध की ज्वाला में पड़ा जीव, जन्म-जन्मान्तर तक अपने जलते रहने की व्यवस्था करने में लगा रहता है । हमारे जीवन में अनेक ऐसी घटनाएँ घटीं, जिन से प्रभावित होकर यदि हम अन्तर में क्रोध की ज्वाला भड़का लेते, तो किसी को कुछ हानि पहुँचा पाते या नहीं, अपना जीवन अवश्य नरक बना लेते । भगवान की ऐसी कृपा रही कि हम ने कभी भी उन बातों को गंभीरता से नहीं लिया, सबको मन से क्षमा कर दिया, सबका भला चाहा । परिणामतः मन शान्त बना रहा ।

(३) सारा जगत बहुत दुःखी है, कई प्रकार के विकार उसको घेरे हुए हैं । कोई स्वार्थ की अग्नि में जल रहा है तो कोई काम, क्रोध अथवा लोभ की भट्टी में । कोई अभिमान में सिर ऊँचा किए घूमता है तो कोई दीन बना दूसरों के तलुए चाटता फिरता है । कई प्रकार की व्याधियाँ, अनेक प्रकार की समस्याएँ । भय ने जीवों को अलग से डरा रखा है । कोई कुछ भी कहता रहे पर सारी दुनिया दबी, सहमी, मुरझाई है । ऐसे में लोग मन का दुःख तुम्हें सुनाने आएँगे । संसार में किसी का दुःख सुनने का, किसी के पास समय नहीं । एक साधु ही है जिसके पास जाकर कोई मन हलका कर सकता है । सब की सुनना, धीरज देना सांत्वना देना, तुम्हारा कर्त्तव्य है । साधु किसी का कुछ कर पाए या नहीं, सुन तो सकता है । यह मत सोचना कि मैं साधु हूँ, मुझे किसी के दुःखों से क्या प्रयोजन है ? यदि तुमने इस प्रकार विचार किया तो यह तुम्हारी स्वार्थ वृत्ति होगी ।

यह भी हो सकता है कि दूसरों का दुःख सुनने में तुम्हारे ऊपर भी कुछ छींटे पड़ें । कभी मन भी विचलित हो सकता है । दुःखी मनुष्य अपने आस-पास दुख का ही प्रसार करता है । जिसके पास जो कुछ होगा, उसीके साथ जगत् को प्रभावित करेगा, किन्तु तुमको अपना मन इस प्रकार का रखना है कि वह सुख या दुख, किसी भी प्रभाव को ग्रहण न करे । जगत को वासना, स्वार्थ तथा अभिमान के फंदे से छुड़ाने के लिए नित्य प्रति भगवान से प्रार्थना करना । इस प्रार्थना के करने से तुम देखोगे, कि तुम्हारे अपने मन को भी अपार शान्ति मिलती है । दूसरों की भलाई चाहने से तुम्हारा भी भला होता है ।

सभी जीवात्माएँ प्रभु मिलन के लिए तथा सुख-शान्ति के प्राप्त्यर्थ भटकती फिर रही हैं । उन्हें मार्ग नहीं मिलता तो खोजती हैं । कभी मार्ग मिल जाता है तो सीधे चलने लगती हैं । कभी कहीं की कहीं पहुँच जाती हैं । जंगल में रास्ता तलाश करती फिरती हैं, किन्तु प्रयत्न सभी का एक ही है, - परमार्थ-लाभ । जो आज जगत् में भूले भटके हैं, उनको अध्यात्म विरोधी कहकर, घृणा मत करना । वे भी भटके हुए हैं, पर हैं उसी पथ के पथिक । रास्ता मिल जाने पर, एक दिन वे भी उसी मार्ग पर आ मिलेंगे । इसलिए सबकी सुनना, सबसे स्नेह करना, सबका भला चाहना, इसी में तुम्हारा श्रेय है ।

प्रश्न– किन्तु कई ऐसे एकान्त प्रिय महात्मा भी हो गए हैं, या आज भी हैं, जो न किसी से मिलते हैं, न ही किसी की बात सुनते हैं, जबकि आप सब की बात सुनने तथा सबका कल्याण चाहने की बात कर रहे हैं । दोनों में से कौन सा मार्ग सही है ?

महाराजश्री– दोनों मार्ग सही हैं । दोनों विपरीत दिखाई देते हुए भी एक ही दिशा की ओर अग्रसर हैं ।

तुम आश्रम को साथ लेकर चल रहे हो, अर्थात् लोगों के साथ तुम्हारा संपर्क होगा, इसलिए तुम्हें सारे जगत को प्रेम करना, अपना समझना ही मार्ग है । इस प्रकार तुम राग-द्वेष से ऊपर उठ जाओगे । जो एकान्त प्रिय महात्मा हैं उन्हें जगत व्यवहार नहीं करना पड़ता, इसलिए उनको यही भाव बना कर रखना श्रेयस्कर है कि जगत् में मेरा कोई नहीं । इस प्रकार वे भी राग-द्वेष से ऊपर उठ जाते हैं । राग-द्वेष से ऊपर उठना, यह लक्ष्य एक समान है । सारा जगत मेरा है या जगत में मेरा कोई नहीं । जब कोई, कुछ लोगों को अपना तथा कुछ को पराया मान लेता है, तो राग-द्वेष के कारण समस्या खड़ी हो जाती है । इस तरह ये दोनों भाव परस्पर विरोधी दिखते हुए भी, राग–द्वेष को समाप्त करने के समान लक्ष्य की ओर ही बंढ़ते हैं ।

(४) तुम्हारा जीवन अब गुरु-सेवा में समर्पित है । सेवक कैसा होना चाहिए ? इसको समझने के लिए हनुमानजी का चरित्र सर्वोत्तम उदाहरण है । हनुमान जी के पास अपना कहने के लिए कुछ भी नहीं था । यहाँ तक कि उनकी प्रत्येक क्रिया, उनका एक-एक क्षण सब उनके स्वामी के लिए समर्पित था । सेवा का यह स्वरूप, आसक्ति तथा अभिमान को काट कर फेंक देने का सर्वोत्तम उपाय है । सेवा में कोई काम बड़ा या छोटा नहीं होता । उसमें सेवा का भाव मुख्य होता है तथा कार्य गौण । सेवक से क्या काम लेना, इसका निर्णय स्वामी के पास होता है । सेवक का कर्त्तव्य है आदेश का पालन करना ।

हमें गुरु-महाराज की शारीरिक सेवा का अधिक सुअवसर तो प्राप्त नहीं हुआ, किन्तु हमने जो कुछ भी किया, संब गुरु सेवा से अभिभूत होकर ही किया । यहाँ तक कि हमारा साधन भी गुरु सेवा का ही रूप लिए हुए था । कहीं जाना, कुछ करना, किसी को कुछ

कहना-समझाना, सभी में गुरु सेवा का भाव निरन्तर बना रहता था । उन्हीं के आदेशानुसार हम देवास आए, आश्रम बनाया, दीक्षाएँ दीं । यह सभी एक भक्त की, अपने आराध्य देव के चरणों में पुष्पांजलि के समान था । मृत्यु के पश्चात् भी गुरु-भक्त अपने गुरुदेव के चरणों में ही समा जाने की कल्पना-भावना करता है । श्री ज्ञानेश्वर महाराज ने ज्ञानेश्वरी में कितने सुन्दर भाव व्यक्त किए हैं कि मेरे मरने के पश्चात् भी मेरे शरीर का एक-एक तत्व, श्री गुरु-सेवा में ही तत्पर बना रहे । गुरु-सेवा, भक्त का एक ऐसा भाव होता है जो उसे पंचभौतिक जगत् में कर्म करते हुए भी, इस दृश्यमान प्रपंच से ऊपर उठा कर श्री गुरुचरण रूपी अमर-पद की प्राप्ति करवा देने में पूर्णतया सक्षम है ।

हमारा शरीर रहे या नहीं, किन्तु हमारा उपदेश तथा आदेश, एक मार्ग-दर्शक के रूप में सदैव तुम्हारे साथ रहेगा । भगवान राम वन को गए, पिताजी स्वर्गवासी हो गए, इससे राम जी के दृष्टिकोण में कोई अन्तर नहीं आया । पिताजी नहीं है तो उनके वचन तो सामने हैं । उनका पालन करना ही कर्त्तव्य है । यदि गुरु का शरीर विलीन भी हो जाय, तो उनके वचन, उनकी आकांक्षाएँ, उपदेश-आदेश तो गुरु-सेवक के पास होते हैं । उन्हीं के प्रकाश में उसका क्रिया-कलाप प्रभावित होता रहता है ।

इस आश्रम को हमारा ही शरीर समझना । शिष्य-परिवार को हमारे ही शरीर का विस्तार मानना । जो कार्य हम पूरे नहीं कर पाए, उन्हें पूरा करने का प्रयत्न करना, किन्तु यह सब करते हुए भी अभिमान नहीं करना । यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक कार्य में फल की दृष्टि से तुम्हें सफलता ही प्राप्त हो । सफलता-असफलता भगवदाधीन है । भक्त की सेवा, कर्त्तव्य का पालन करने तक ही सीमित है । वह सेवा के फल में अनधिकार हस्तक्षेप करता ही नहीं । भक्त तथा संसारी में यही अन्तर है । घर हो या आश्रम, मुख्य बात हृदय के भाव की है. ।

(५) यदि तुम्हें कभी कोई परेशानी हो तो संसार से टकराने से बचना तथा जगत की परवाह भी नहीं करना, किन्तु अपने कर्त्तव्य से नहीं हटना । यदि कोई तुम्हें अच्छी बात कहे तो अपना लेना । मन को संयत रखकर, सहन करना । यदि कभी आवश्यकता पड़े तो क्रोध तो नहीं, किन्तु क्रोध का प्रदर्शन करने में कोई बुराई नहीं । इस प्रकार अपने व्यवहार तथा दृष्टिकोण में, इन सब बातों का सामंजस्य कर लेना । जो यह सब कर सकता है वही दक्ष कहा जाता है ।

अध्यात्म की चढ़ाई कठिनतम यात्रा है । इसमें बड़े-बड़े साधक भी लुढ़क जाते हैं, फिसल जाते हैं । अपने को सँभाल पाना दुष्कर कार्य है । कोई काम-क्रोध में अटका है तो कोई लोभ-अभिमान में फँस जाता है । माया को इसीलिए नटनी कहा जाता है । यह कई प्रकार के रूप धारण कर जीव को प्रभावित करती है । कभी भय दिखाकर, कभी कोई

प्रलोभन दिखाकर, तो कभी भविष्य की कल्पनाओं के सुनहरे जाल में फँसाकर । जीव को भरमाने में वह शास्त्र का उपयोग करने में भी अत्यन्त सिद्धहस्त है । अधर्म को धर्म का स्वरूप देकर जीव के समक्ष उपस्थित कर सकती है ।

तनिक कल्पना करो कि चारों ओर फैले इस मायामय जगत में डरे सहमे जीव की क्या दशा होगी ! विशाल मरुभूमि रूपी रेत के महासागर में आश्रम तथा धर्म-स्थान एक ऐसे टापू के समान हैं जिसमें जल-स्रोत तथा हरियाली उपलब्ध है । जहाँ आकर थका-माँदा यात्री शीतल-जल ग्रहण करता तथा विश्राम पाता है । आश्रम पर आने वाले संसारी जीवों को ऐसा आभास होना चाहिए कि यह स्थान स्वार्थ, अभिमान तथा वासनाओं की लपटों से सुरक्षित है । यहाँ ग्रहण करने के लिए प्रेम रूपी शीतल जल उपलब्ध है । यहाँ थोड़ी देर विश्राम पाया जा सकता है । सुगंधित वायु में चैन की साँस ली जा सकती है । यदि आश्रम पर आने वालों को यहाँ आकर भी, अपमान के घूँट पीने पड़ें, स्वार्थ तथा अभिमान के थपेड़े खाने पड़ें, वासनाओं की जलती ज्वाला ही दृष्टिगोचर हो, तो उनकी मनः स्थिति क्या होगी ? मैं जानता हूँ कि यह काम तुम अकेले नहीं कर सकते । जब तक प्रत्येक आश्रमवासी का सहयोग तुम्हें प्राप्त नहीं होगा, तुम कर भी क्या सकते हो ? किन्तु आश्रमवासियों तथा सहयोगियों को तैयार करना, उनकी मनः स्थिति तथा आचरण को एक साँचे में ढालना तुम्हारा कर्त्तव्य है । मुख्य भूमिका तुम्हारी विचारधारा तथा कार्य शैली की होगी ।

(६) आश्रम का मुख्य विषय शक्तिपात् का साधन है, इसके विकास पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है । स्वामी गंगाधर तीर्थ महाराज से ले कर, यहाँ तक आते-आते यह साधन कुछ लँगड़ा कर चलने लग गया है । उसमें गांभीर्य, समर्पण, ईमानदारी तथा साधन विकास की दृष्टि से कुछ न्यूनता आ गई है । उसके कई कारण हो सकते हैं । इस समय मैं उन कारणों में नहीं जाना चाहता, किन्तु यह बात सत्य है कि परिणाम तथा विकास की दृष्टि से साधन का वह स्वरूप नहीं रह गया है जो गंगाधर तीर्थ महाराज के समय में था ।

वैसे तो संसार का यह नियम है कि कोई भी देश, सम्प्रदाय, सिद्धान्त, सभ्यता या भाषा ऐसी नहीं है, जो उठी हो, तथा फिर गिरी न हो । जो गंभीरता, यथार्थ दृष्टिकोण तथा सच्चाई आरंभ में होती है, समय बीतने के साथ वह लुप्त होती जाती है । शक्तिपात् विद्या भी कई बार प्रकट हुई, विस्तार पाया और फिर अदृश्य में चली गई । गंभीरतापूर्वक देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है । साधन की जो परिस्थिति, परिणाम तथा प्रभाव गंगाधर तीर्थ महाराज के समय में था, अब उसकी आशा कर पाना असंभवप्रायः है । वह त्याग, तपस्या की भावना, उन्नति की तड़प साधकों में अब कठिनता से ही मिलती है । उस समय सारा जोर साधन पर था । अब साधकों का अधिकांश लक्ष्य आश्रम के भवनों का विकास, शिष्यों की संख्या वृद्धि, उत्सवों के आयोजन, साहित्य प्रकाशन तथा इसी प्रकार की अन्य भौतिक

गतिविधियों की ओर अधिक होता जा रहा है । परिणाम-स्वरूप परस्पर वैमनस्य, एक दूसरे पर छींटाकशी, अभिमान, दम्भ तथा प्रतिशोध की भावना ने पाँव पसारने आरंभ कर दिए हैं । आध्यात्मिकता में भौतिकता का समावेश होता जा रहा है, जिससे इस विद्या के फिर से अदृश्य होते जाने की परिस्थितियाँ बनती जा रही हैं ।

जब किसी परम्परा विशेष का आरंभ होता है तो उसके आदि पुरुष की आध्यात्मिक ऊँचाई अत्यन्त उच्च शिखरों को छूती हुई अनुभव होती है । उसका लक्ष्य के प्रति समर्पण, आत्म-संयम की अथाह गहराई, त्याग-तपस्या का अद्वितीय प्रयास तथा आस-पास के वातावरण को प्रभावित कर पाने की निश्चित क्षमता होती है, किन्तु यह स्थिति सर्वप्रथम तो आदि-पुरुष के साथ ही समाप्त हो जाती है । अधिक से अधिक एक दो पीढ़ी और चल पाती है । फिर स्वार्थ, विकार तथा अवगुण, अपनी छिपी हुई हलचल का फिर से प्रदर्शन करना आरंभ कर देते हैं । तब परम्परा निस्तेज होती जाती है ।

गंगाधर तीर्थ महाराज प्रकट हुए, तो उनकी तपस्या के प्रभाव से यह परम्परा सौ वर्षों से चल रही है, किन्तु जब कोई आवाज उभरती है तो धीरे-धीरे वायु-मंडल में विलीन भी हो जाती है । उस आध्यात्मिक ध्वनि को फिर से गुंजरित करने की आवश्यकता आन पड़ी है । सौ वर्ष तो हम ने गंगाधर तीर्थ महाराज की तपस्या के बल पर निकाल दिए हैं । अब किसी नए गंगाधर तीर्थ की आवश्यकता की प्रतीति होने लगी है, जिससे परम्परा भी चलती रहे तथा साधकों का आध्यात्मिक विकास भी होता रहे ।

शक्तिपात् की जितनी भी परम्पराएँ उदय हुईं, एक, दो या तीन पीढ़ी में ही समाप्त हो गईं । रामकृष्ण परमहंस देव का भी शक्ति का विकास आगे नहीं बढ़ पाया । कबीर के बाद कोई दूसरा कबीर नहीं हुआ, न ही रमण महर्षि के पश्चात् दूसरा रमण । तुलसीदास, तुकाराम, ज्ञानेश्वर, नरसी मेहता तथा चैतन्य महाप्रभु सब की यही स्थिति है । बातें बनाने तथा जप-कीर्तन करते रहने की बात अलग है, किन्तु यह साधन तो अनुभवगम्य है । सब संतों के अनुयायी गुणगान करने तक ही सीमित रह जाते हैं ।

क्रियाशक्ति का कार्य-पशु शक्तियों का नाश करना है, किन्तु जगत पशु-शक्तियों के जमाव का ही दूसरा नाम है । भगवान राम के समय में भी राक्षस दनदनाते फिरते थे । भगवान कृष्ण के समय में भी, पाण्डवों की सेना की तुलना में कौरवों की सेना चार अक्षौहिणी अधिक थी । हर काल में पृथ्वी पर असुरों का ही वर्चस्व रहा है । यही हाल प्रत्येक चित्त का भी है । प्रायः हर चित्त में विकारों-अवगुणों का ही आधिपत्य है । यदि कभी कोई सद्गुण दिखाई देता भी है तो तत्काल अवगुण सिर उठा लेता है । क्रिया शक्ति की कृपा का कोई ही चित्त लाभ उठा पाता है । प्रायः जीव माया के घेरे में ही ऊपर-नीचे होते रहते हैं । तनिक ऊपर उठते हैं तो अभिमान कोई न कोई बहाना बनाकर सिर नीचे दबा देता है । सारा

संसार ही इन आन्तरिक असुरों के अत्याचारों से पीड़ित है । जीव के मुख में यदि कोई परमार्थ के शीतल जल की एक बूँद टपका देता है, तो उसे बड़ा सुख मिलता है । इन बातों को अपने ध्यान में रखो ।

बनने को तो कई गुरु बन जाते हैं पर गुरु बनना बहुत कठिन है । शिष्य को अन्त तक निभा पाना सरल नहीं । शिष्य भी प्राय: ऐसे मिलते हैं जो न स्वयं आगे बढ़ते हैं, न गुरु को आगे बढ़ने देते हैं । गुरु का कर्त्तव्य है कि शिष्यों को भी आगे बढ़ाए तथा स्वयं भी आगे बढ़े, किन्तु यहाँ तो किसी में आगे बढ़ने की तड़प ही नहीं है । कुछ ही गुरु ऐसे हैं जो गंभीर होकर गुरु-कर्त्तव्य का निर्वाह करते हैं । यह बात भी तुम्हें ध्यान रखनी चाहिए ।

देखने में आश्रम चलाना तथा साधन करना, दो भिन्न बातें हैं, किन्तु कोई भी कर्म साधन में विघ्न-कारक नहीं । विघ्नकारक कर्म कर्त्ता का भाव या वृत्ति है । समय नहीं मिल पाना भी एक बहाना ही है । जो कर्म को साधन नहीं मानते तथा समय का वर्गीकरण करते हैं, वही इस प्रकार की बहानेबाजी करते हैं । कबीर तथा रविदास जैसे संत काम कर के अपना पेट पालते थे । कोई कपड़ा बुनता था, कोई जूते गाँठता था, कोई छीपा था, तो कोई धुनिया । काम के समय भी उनका साधन चलता था । जो समय का वर्गीकरण कर लेते हैं, उनका व्यवहार का समय परमार्थ से अवश्य अलग हो जाता है ।

प्रश्न– कुछ लोगों का ऐसा मानना है कि आश्रम में रहकर साधन कर पाना असंभव है क्योंकि खेंचतान इतनी होती है कि मन विचलित हो जाता है ।

महाराजश्री– ऐसा वही कहते हैं जो कि अनुकूलता-प्रतिकूलता को सहन करना साधन का अंग नहीं मानते । सुख-दु:ख को समझकर सहन करने की स्थिति कैसे आएगी, जब तक किसी के सामने सुख-दु:ख नहीं आएँगे ? लोग एकदम निवृत्ति-परायण होने की कल्पनाएँ करने लगते हैं । प्रवृत्ति से घबराते हैं । यह नहीं समझते कि निवृत्ति के लिए पहले प्रवृत्ति कितनी आवश्यक है । प्रवृत्ति से ही आन्तरिक निवृत्ति की अवस्था उदय होती है । जन-समाज में रहते हुए, प्रत्येक परिस्थिति का सामना करते हुए, सहन करते हुए, एक—दूसरे के प्रति सद्भाव बनाकर रखते हुए, चित्त की संयत अवस्था प्राप्त की जा सकती है ।

कई दिनों से मेरे मन में एक प्रश्न बार-बार उठ रहा था । आज मुँह पर बात आ गई तो पूछ ही लिया ।

प्रश्न– क्या मैं भी कभी अदृश्य महापुरुषों का दर्शन-लाभ कर सकूँगा ?

महाराजश्री– साधन में कुछ भी असंभव नहीं । कभी भी कुछ घट सकता है, किन्तु इस प्रकार की कामना रखना तुम्हारे साधन में विघ्न है । जब जो होना होगा,तुम्हारे सामने आ जाएगा । इस प्रकार की भावना करके, अपने साधन का लक्ष्य स्थिर करने की भूल क्यों करते हो ? ऐसी भावना समर्पण भाव के विपरीत है । हमें जब प्रथम बार ऋषिकेश में ऐसा अनुभव

हुआ तो उसके लिए हमारे मन में कोई भावना नहीं थी । कब कौन सी अनुभूति हो, यह शक्ति पर छोड़ देना ही कर्त्तव्य है । तुम तो साधन में लगे रहो ।

प्रश्न– हमें चाहे कोई अनुभव हो या नहीं, अदृश्य महापुरुष तो हमें देखते ही होंगे ?

महाराजश्री– इस विषय में निश्चित तो कुछ नहीं कहा जा सकता, किन्तु विचार यही है कि जब आश्रम में उनका आना-जाना है, तो अवश्य देखते होंगे । हमें यह भी ज्ञात है कि एक महापुरुष तो साधन गुफा में ही निवास करते हैं, किन्तु वह प्राय: समाधि अवस्था में ही रहते हैं इसलिए, उनका ध्यान कभी तुम्हारी तरफ गया है कि नहीं, कहा नहीं जा सकता ।

प्रश्न– उनके समाधि अवस्था में रहने का, साधकों को भी लाभ अवश्य मिलता होगा ?

महाराजश्री– अवश्य मिलता है । उनकी दिव्य आध्यात्मिक रश्मियाँ सारी गुफा में तरंगित होती रहती हैं ।

प्रश्न– आपका सानिध्य प्राप्त है । अदृश्य महापुरुष की समाधि अवस्था का लाभ भी है, फिर साधकों के मन की जैसी अवस्था होनी चाहिए, नहीं बन पा रही । राग-द्वेष तथा क्रोध-अभिमान में मरे जा रहे हैं ।

महाराजश्री– यही तो खेद का विषय है । संभवत: हम भी थोड़ा जल्दी कर रहे हैं । जीव के संस्कार बहुत गहरे हैं । उन्हें मन से हटाने में समय तो लगेगा ही ।

प्रश्न– महाराज जी ! आपने कोई भविष्यवाणी भी की है क्या ?

महाराजश्री– नहीं । हम तो एक ही भविष्यवाणी जानते हैं कि जैसा जगत आज हमें दिखाई दे रहा है, कल वैसा नहीं दिखेगा, क्योंकि इसमें प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है । कुछ लोग भविष्यवाणियों में बहुत रुचि लेते हैं । घण्टों तक इसी की चर्चा करते रहते हैं । भक्त के लिए यह सब भगवान की लीला है । भगवान की जब जैसी लीला होगी, देख ली जाएगी ।

प्रश्न– यह सब बातें मन को साधन की ओर से हटाती हैं क्या ?

महाराजश्री– इसमें क्या शंका है ? यह सब मन की चंचलता है । किसी प्रकार मन के जगत में ही घूमते रहने के बहाने हैं ।

प्रश्न– बलवान मन के सामने किसी का बस नहीं चलता ।

महाराजश्री– किन्तु साधक का जीवन मन को परास्त करने के लिए होता है । ईश्वरीय शक्ति का सहारा उसे प्राप्त है । शक्ति के आगे मन की शक्ति महत्व नहीं रखती ।

(७) कठिनाइयों में घबराना नहीं । चित्त का संतुलन खो नहीं देना । बड़े-बड़े संतों-भक्तों को पता नहीं क्या-क्या सुनना-सहन करना पड़ा है । मनुष्य जितना ऊँचा उठता

है, उसको गिराने के लिए उतने ही बड़े शस्त्र का प्रयोग किया जाता है । आध्यात्मिक योद्धा सबको सहन करता है । उसकी कठिनाई यह होती है कि वह उसी भाषा में उत्तर नहीं दे सकता । किसी के सामने कोई कठिनाई खड़ी करने का प्रयत्न नहीं कर सकता । उसका अपना स्तर होता है, अपने नियम तथा सिद्धान्त होते हैं, वह सामान्य मनुष्यों के स्तर तक नीचे नहीं उतर सकता, इसलिए प्रसन्न चित्त सहन करने के अतिरिक्त उसके पास अन्य मार्ग नहीं । न ही वह अपना सेवा कार्य छोड़ सकता है, न सबके साथ प्रेम का त्याग कर सकता है । वह यह भी समझता है कि सारे प्रशंसक तथा आलोचक, उसके प्रारब्ध के हाथ की कठपुतलियाँ हैं । उसका अपना प्रारब्ध ही, विभिन्न रूपों तथा क्रियाओं में उसके समक्ष व्यक्त हो रहा है । इन बेचारों के हाथ में कुछ नहीं । यह सब किसी अदृश्य शक्ति द्वारा प्रेरित, अभिनय करने में विवश हैं । जब इनके भाग का अभिनय समाप्त हो जायगा, तो यह नैपथ्य में चले जाएँगे ।

कठिनाइयों से हतोत्साहित हो जाना या भागना नहीं । यह मनुष्य के सामने जीवन में निखार लाने के लिए प्रकट होती हैं । यह अनुपम सौंदर्यदायक हैं । जिस जीवन में कठिनाइयाँ नहीं होतीं, वह ऊपर भी नहीं उठ पाता । ये टूटे मन में उत्साह तथा स्फूर्ति का कारण हैं । उजड़ी फुलवाड़ी में महकते पुष्प के समान हैं । जीवन में चेतना का प्रतीक हैं । जगत में जब कोई साथी नहीं होता, तो इनका साथ सुहावना प्रतीत होता है । सुविधाओं का परिणाम यदि दुःख होता है, तो प्रतिकूलताओं का परिणाम सुख । इसलिए कठिनाइयों का आह्वान करो, उनका स्वागत करो । वह तुम्हारे कल्याण के लिए प्रकट होती हैं ।

कठिनाइयाँ भी जगत के समान क्षणभंगुर तथा अस्थायी हैं । आती हैं और चली जाती हैं । पीछे छोड़ जाती हैं, सुख तथा शान्ति का अखण्ड भण्डार । जिस प्रकार कमल कीचड़ में ही पैदा होता है, उसी प्रकार आध्यात्मिकता का सूर्य भी कठिनाइयों के अंधकार में ही उदय होता है । कठिनाइयों के अंधकार के पश्चात् सूर्य का प्रकाश आएगा ही ।

आश्रम जीवन तथा गृहस्थ का विधान कठिनाइयाँ सहन करने के लिए किया गया है । जो सहन नहीं कर पाते वे जंगल में, एकान्त में भाग जाते हैं, किन्तु वहाँ भी क्या कठिनाइयाँ पीछा छोड़ देती हैं ? कहीं मच्छर काटते हैं तो कभी भूख सताती है । जगत कठिनाइयाँ झेलने के लिए है । जो मानसिक तप समाज में रह कर हो पाता है, वह एकान्त में नहीं होता ।

(८) जिसको लोग एकान्त कहते-समझते हैं, वह एकान्त होता ही नहीं । जंगल में चले जाओ, कोई मनुष्य दिखाई नहीं देता, किन्तु दृश्य तो दिखाई देता है । अन्तर के दोष-विकार सामने आते हैं, पुरानी घटनाएँ याद आती हैं । फिर कोई अकेला कहाँ हुआ ! अन्दर-बाहर इतना कुछ तो साथ लिए बैठा है । यह मिथ्या एकान्त है ।

एकांन्त तो तब होता है जब कोई दूसरा हो ही नहीं, न दृश्य, न विकार, न स्मृति, न मानसिक तरंगें । बस आप और केवल आप । यही समाधि अवस्था है । यही एकान्त है । यही परमानन्द है । दुख की आत्यन्तिक निवृत्ति है । इसी के लिए तप है । इसी के लिए सेवा-साधन है । जब तक यह अवस्था प्राप्त नहीं होती, एकान्त की चर्चा एक दिखावा है ।

एकान्त या उसे प्राप्त है जो जगत में रहते हुए भी जगत से न्यारा है । जिसे जगत दिखाई देते हुए भी, चित्त को प्रभावित नहीं कर पाता । जो जाग्रत अवस्था में भी समाधि का आनन्द उठाता है । यही तुरीय अवस्था है । इसमें दृश्य समक्ष होते हुए भी महत्वहीन हो जाता है । नाम-रूप चैतन्य की लीला भासित होता है । जगत अन्तरात्मा का विलास हो जाता है ।

यह बातें तुम्हें इसलिए कह रहा हूँ क्योंकि तुम्हें भी एकान्त की बड़ी ललक है तथा कई बार आश्रम में, सामने आने वाली कठिनाइयों से घबरा उठते हो । तुम्हारा एकान्त बलात् ओढ़ा हुआ एकान्त है, अन्यथा उसमें एकान्त वाली कोई बात नहीं । साधन-सेवा में लगे रहो, एक दिन अपने आप एकान्त की स्थिति प्रकट हो जाएगी ।

प्रश्न– किन्तु स्वामी गंगाधर तीर्थ महाराज तो एकान्त प्रिय थे ?

महाराजश्री– पहले उनकी जैसी आन्तरिक अवस्था प्राप्त कर लो, फिर उनकी बात करना । वह अन्दर-बाहर से एकान्त का आनन्द उठाते थे जबकि तुम्हारा मन अभी तक चंचल है । तुम्हारी उनकी क्या तुलना ? केवल तुम ही क्या ? आज उनके समान एक भी साधक नहीं है ।

इस पर मेरी वाणी शांत हो गई ।

यह बातें तुम्हें इसलिए कही हैं कि फिर पता नहीं अवसर मिले या नहीं । सँभल कर चलना, संसार फिसलन भरा है । अपने-पराये सभी लूटने में लगे हैं । कोई मीठा बनकर लूट रहा है, तो कोई विरोधी बनकर नोच रहा है । अपने जीवन की कीमत को पहचानो । यह अमूल्य अवसर यदि चूक गए तो लाखों जन्मों तक भटकते फिरोगे । फिर गुरु होने के नाते तुम्हारा उत्तरदायित्व और भी बड़ा है ।

उदार तथा सहनशील बनो । संयमी तथा अक्रोधी बनो । साधक-धर्म तथा सेवा-धर्म निभाओ । मैं यदि चला भी गया तो भी तुम्हारे पास ही रहूँगा । जब चाहो मुझे अपने अन्तर में देख सकोगे । आश्रम की चिन्ता न करना । जिसकी चिन्ता होती है, उसके प्रति आसक्ति हो जाती है जिसका आश्रम है, उस पर चिन्ता छोड़ दो और सेवा करो ।

यह बातें सुनकर मैं सोच में पड़ गया । यह क्या किसी अनहोनी का संकेत है ! महाराजश्री ने पहले तो कभी इस प्रकार की बातें नहीं कीं, फिर आज ही क्यों कर रहे हैं ? ऐसा

प्रतीत हो रहा था जैसे कोई अपना सभी कार्य दूसरे को सौंपकर, सेवा-निवृत्त हो रहा हो । तो क्या इस स्वार्थमय जगत में, महाराजश्री मुझे अकेला छोड़कर जाने की तैयारी कर रहे हैं ? इन बातों से तो ऐसा ही प्रतीत होता है ।

प्रणाम कर के मैं चला गया । मैं सोचता रहा, सोचता रहा कि कुछ तन्द्रा सी आ गई । स्वप्न में देखा कि सभी आश्रमवासी तथा अनेक अन्य भक्त आश्रम के प्रांगण में जमा हैं तथा महाराजश्री का शरीर, अभय मुद्रा धारण किए हुए आकाश में उठता जा रहा है । सभी लोग जोर-जोर से रो रहे हैं । मेरी आँख खुल गई ।

मेरा शरीर भय से काँप रहा था । मेरी सिसकियाँ थमने का नाम नहीं ले रहीं थीं । रात भर जागते व्यतीत हुई ।

प्रात: काल भ्रमण समय महाराजश्री को रात का स्वप्न निवेदन किया तो बड़े जोर से हँसे । "यह तो स्वप्न है और तुम भयभीत हो गए ! साधक को सारा संसार ही स्वप्नवत अनुभव करना होता है, किन्तु तुम ने अपने आप को स्वप्न से ही प्रभावित कर लिया !"

अब मैं क्या कह सकता था ? चुप हो कर रह गया ।

(३६) विचार प्रवाह

महाराजश्री की वृत्ति तथा दृष्टिकोण में अब काफी बदलाव आता जा रहा था, जैसे किसी बात में कोई रुचि ही न हो । लोगों का ध्यान संसार की ओर था तो महाराजश्री जगत की ओर से उदासीन होते जा रहे थे । जब उनसे कोई बात पूछी जाती तो कहते, "मेरे से क्या पूछते हो, जैसा ठीक समझो कर लो । वैसे भी भविष्य में हर बात का निर्णय तुम्हें स्वयं ही लेना है । मुझे अब आराम करने दो ।" यह सुनकर मेरा सारा जोश ठण्डा हो जाता ।

महाराजश्री का नया निवास सन् १९६५ में ही बन गया था । अपने नए मकान के वराण्डे में, एकटक आश्रम को निहार रहे थे । मैं बिलकुल चुपचाप एक कोने में बैठा था । कहने लगे, "इस आश्रम को भी ओवरकोट की तरह हमने पहन रखा है, या यूँ कहो कि इस आश्रम के आवरण में अपने आप को छिपा रखा है । इस आश्रम में यह मकान एक कमीज की भाँति है, जो इस ओवरकोट के अन्दर हमारे शरीर से लिपटी है । यह शरीर भी एक आवरण ही है । इसे एक बनियान की भाँति आत्मा पर आवरण रूप समझो । यदि किसी को अपने वास्तविक स्वरूप के दर्शन करने हैं तो उसे इन आवरणों से बाहर निकलना होगा । बहिर्मुखी मन शरीर की नग्नता पर लज्जित अनुभव करता है पर अन्तर्मुखी मन चित्त की नग्नता पर आनन्दित होता है । यह संस्कार-वासनाएँ भी आवरण रूप हैं । सबसे सूक्ष्म, किन्तु अत्यन्त सशक्त आवरण अहंकार है । यह आश्रम तथा यह घर, स्थूल आवरण हैं । इन्हें उतार फेंकना अपेक्षाकृत सरल है । यदि जीव इन्हें नहीं उतार सके, तो मृत्यु आकर इस आवरण को बलात् खेंच लेती है ।"

प्रश्न– आन्तरिक आवरणों को मृत्यु भी नहीं उतार सकती ?

महाराजश्री– वह क्यों उतारेगी ? आन्तरिक आवरण ही मृत्यु के बार-बार आने का बहाना है । इन्हीं आवरणों के कारण जीव, पुनः-पुन: जन्म लेता तथा मृत्यु को प्राप्त होता है । यही आवरण जीव को जीवन के प्रति आसक्त कर देते हैं । मृत्यु हो जाने के उपरान्त भी चित्त वही रहता है तथा चित्त के आवरण भी वही । मृत्यु अर्थात् परिवर्तन शरीर का होता है चित्त का स्वरूप परिवर्तन संस्कारों के बदलने पर होता है, जो मृत्यु का विषय नहीं । काल-चक्र की समाप्ति, आवरणों का विलीनीकरण शक्ति के अधीन है । वही इन्हें चलाती है, वही इन्हें विलीन कर सकती है ।

प्रश्न– किन्तु सामान्य मनुष्य तो अभी तक बाह्य आवरणों में ही उलझा है, अन्तर के आवरणों की बारी कब आएगी ?

महाराजश्री– बाह्य आवरण, आन्तरिक आवरणों का ही प्रकटीकरण है । आन्तरिक आवरण उतर जाने पर, बाह्य आवरण अपने आप विलीन हो जाते है ।

यह दृश्यमान जगत अपने में कुछ नहीं है । मन में किसी समय इस मकान का कोई भाव रहा होगा तो यह मकान प्रकट हो गया । मन में छिपी वासनाएँ ही कई प्रकार के दृश्य तथा परिस्थितियों का रूप धारण कर व्यक्त होती हैं । बाहर के आवरणों को हटाने का कार्य अन्तर में होता है । अब यदि अन्तर में इस मकान का भाव समाप्त हो गया है, तो बाहर भी इसमें रुचि नहीं रह गई है । मकान की बात तो फिर भी ठीक है अब तो इस देह के प्रति भी अपनत्व ममत्व का भाव समाप्त ही है । अब यह शरीर रहे या नहीं, सब एक समान है । वैसे भी यह शरीर हाथ से छूटता दिखाई दे रहा है ।

तुम्हें भी ऐसे समय के आने की अनिवार्यता को ध्यान में रखकर ही कर्त्तव्य पालन करना है । कर्त्तव्य पालन आन्तरिक आवरणों को उतारने के लिए आवश्यक है । पलायन वादी के अन्दर आवरण चढ़ते चले जाते हैं । दृश्य जगत का, चाहे सत्य हो या असत्य, अन्तर से घनिष्ट संबंध है । जहाँ अन्तर के संस्कार बाहर किसी घटना को प्रकट करने में कारण हैं, वहीं बाहर की घटना के प्रति आसक्ति संस्कार संचय का कारण बन जाती है । कर्त्तव्य पालन या सेवा कर्म में प्रारब्ध अपना फल तो देता है, पर संस्कार-संचय नहीं हो पाते । योग मार्ग में दु:खों का कारण अविद्या कहा है ।

ऐसा ज्ञात होने लगा था कि महाराजश्री को अब यह जगत् छूटता दिखाई दे रहा था । परले पार क्या होगा, यह तो भगवान जाने, पर यहाँ का परदा गिर जाने वाला था । मनुष्य की यही तो नियति है । कोई महात्मा हो या संसारी , एक न एक दिन सबको अपना मुकाम यहाँ से उठा लेना है । जगत का प्रत्येक जीव काल का ग्रास है । काल के शिकंजे में कसा हुआ ही

योजनाएँ बनाता तथा भागता फिरता है । जीव का जन्म होता है तो मृत्यु भी साथ ही सक्रिय हो जाती है । महाराजश्री की बातों से मन में एक बार फिर से घबराहट होने लगी ।

महाराजश्री ने कहा, "स्वामी नारायण तीर्थ देव महाराज के वे शब्द याद करो जो उन्होंने अपने अन्तिम समय में रोते-बिलखते शिष्यों को कहे थे कि हमारे देह-त्याग पर भय या शोक को मन में नहीं लाना चाहिए । देह-त्याग तो एक-दिन सबका होना ही है, फिर भला इस अपरिहार्य विषय के लिए शोक और भय क्यों ? विश्वास रखो, मैं सुन्दर विदेह अवस्था में अबाध शक्ति से स्वेच्छानुसार आतिवाहक देह धारण कर तुम लोगों का अब से भी अधिक कल्याण करने में समर्थ रहूँगा । विदेहावस्था ही हमारी परमावस्था और आनन्दमय सत्ता है, अत: इसके लिए विषाद नहीं, अपितु आनन्दित होना ही उचित है । इसके द्वारा तुम्हारा और हमारा अधिक आन्तरिक निकटतम संपर्क होगा । इसलिए आपको तो हमारी तद्रूप अवस्था अवस्था प्राप्ति के लिए प्रार्थना करनी चाहिए । मैं भी आप सब लोगों को आशीर्वाद देता हूँ कि आप सबको तद्रूप अवस्था प्राप्त हो ।"

एक साधक– किन्तु महाराजजी ! हम तो माया बद्ध जीव हैं । हमारी इन्द्रियाँ केवल स्थूल जगत को ही देख पाती हैं । अन्तर्गुरू से मिलन उच्च साधकों के लिए ही संभव है । हमें प्रत्यक्ष गुरु की ही आवश्यकता है ।

महाराजश्री– प्रत्यक्ष गुरु सदैव के लिए प्रत्यक्ष नहीं रह सकता । कभी न कभी उसे जाना ही पड़ता है । साधक को ऐसे अवसर के लिए भी अपने मन को तैयार करना होता है । हमारे गुरुदेव श्री योगानन्द जी महाराज तथा स्वामी शंकर पुरुषोत्तम तीर्थ जी महाराज कभी हमारे सामने प्रत्यक्ष थे, किन्तु आज वे जगत् से अदृश्य हो चुके हैं, पर जो शक्ति आप में जाग्रत हो चुकी है, वह तुम्हारी वास्तविक गुरु है । उसके साथ अपने संपर्क को अधिकाधिक बढ़ाना तुम्हारा कर्तव्य है । विवेक को भी गुरु माना जाता है, किन्तु कई बार वह भी धोखा दे जाता है । वासनाएँ आच्छादित हो जाने से उसके विपरीत तर्क लुभावने लगने लगते हैं ।

हमने यदा-कदा जो उपदेश दिए हैं, जो पुस्तकें लिखी हैं तथा सबसे बढ़कर आपमें जिस शक्ति का उद्‌बोधन किया है, वह सब आपका मार्ग दर्शन करने के लिए पूर्णत: सक्षम है यदि आप लोग ही मन पर कुछ प्रभाव ग्रहण नहीं करो, तो कोई क्या कर सकता है ?

एक साधक– आपकी रची हुई पुस्तकें तथा आपके द्वारा दिए गए उपदेश हमारे मार्ग दर्शन के लिए हैं ही, किन्तु आपकी कृपा-शक्ति भी क्या हमारी कठिनाइयों एवं शंकाओं का समाधान करती रहेगी ?

महाराजश्री– वह तो मैं कह ही चुका हूँ । जाग्रत शक्ति के अधीन होकर हमने संकल्प किया तथा उसी गुरु-शक्ति का आप के अन्दर उद्‌बोधन हो गया । वह जाग्रत शक्ति ही कृपा-शक्ति है, जो अथाह ज्ञान एवं वात्सल्य का अखण्ड भण्डार लिए आपमें सर्वदा

विराजमान है ।उद्‌बोधन का अर्थ है, उसकी कृपाशीलता का कार्यान्वित हो जाना । हमारा शरीर रहे या जाए, कृपाशीलता आप में प्रकट हो ही चुकी है । अन्तर्शक्ति जन्म-मरण से अतीत है । आपके देह-त्याग के पश्चात् भी वह आप के सूक्ष्म शरीर में विद्यमान रहती है । उसी के तादात्म्य तथा साक्ष्य में, जीव का सूक्ष्म शरीर योनि परिवर्तन करता है । पुनः स्थूल शरीर उपलब्ध हो जाने पर उसकी कृपाशीलता फिर से कार्यशील हो जाती है । इस प्रकार अन्तर्गुरु जन्म-जन्मान्तर तक कार्य करता रहता है, जब तक कि आपको पूर्णत्व-लाभ नहीं हो जाए । आवश्यकता केवल उसके प्रति समर्पित होने की है ।

एक साधक– सारा जगत स्वार्थ में डूबा है । गुरु भी जगत का ही एक जीव होता है, फिर वह शिष्य की इतनी चिन्ता क्यों करता है ?

महाराजश्री– शरीर की सीमाओं में पड़े होने के कारण ही तुम गुरु को जीव कह रहे हो, किन्तु गुरु रूपी जीव, अन्य जीवों की अपेक्षा बहुत भिन्न होता है । उसके अन्तर में जगत् का गुरु, सबका प्राणदाता तथा सुहृद प्रभु प्रत्यक्ष होता है । ईश्वर की कल्याणकारी शक्ति ही गुरु तत्व है । शिष्य के आत्मिक कल्याण की तरंगें गुरु तत्व में ही उठा करती हैं जो माने जाने वाले गुरु के चित्त के माध्यम से प्रकट होती हैं । जितना ही किसी में गुरु तत्व का प्रत्यक्षीकरण एवं संबंध अधिक होता है, उतनी ही उसमें गुरु सामर्थ्य भी अधिक होती है । ईश्वर ही गुरु शरीर के माध्यम से शिष्य की मंगलकामना करता एवं उस पर कृपा करता है । ईश्वर कल्याण स्वरूप है, उसमें कोई स्वार्थ नहीं । आप लोग अभी तक गुरु-शरीर तथा गुरु-तत्व के अन्तर को नहीं समझ पाए, ऐसा प्रतीत होता है ।

प्रश्न– कोई अपने आप को गुरु समझे, उसके कई शिष्य भी हों, किन्तु उसमें उक्त लक्षण नहीं हों, उसको आप क्या कहेंगे ?

महाराजश्री– उसको हम कुछ भी कहें, किन्तु गुरु नहीं कहेंगे । चाहे कितना भी उत्कृष्ट वक्ता हो, आश्रम कितना भी सुन्दर हो, व्यवहार में कितना भी कुशल हो, उसके कितने भी शिष्य हों, संसार में उसकी कैसी भी प्रतिष्ठा हो, किन्तु यदि उसमें गुरु सामर्थ्य नहीं हो, उसकी बात-बात में अभिमान टपकता हो, जिसकी दृष्टि तथा मन में चंचलता हो, जिसके पास बैठने पर शान्ति का अनुभव नहीं होता हो, जो बाहर से तो त्यागी किन्तु अन्तर से पूरी तरह आसक्त हो, वह गुरु कहलाने योग्य नहीं है ।

प्रश्न– किन्तु यदि किसी तथाकथित गुरु से कोई संबंध जोड़ ले तथा बाद में उसे अपनी भूल का आभास हो, तो वह क्या करे ?

महाराजश्री– इसमें सोचने की क्या बात है ? यदि वह गुरु है ही नहीं तो गुरु-शिष्य संबंध भी कहाँ स्थापित हुआ ? वह संबंध केवल एक भावनात्मक दिखावा मात्र था । भावना समाप्त होते ही, वह तथाकथित संबंध भी समाप्त हो गया, किन्तु इसमें भी सावधानी

की आवश्यकता है । कहीं यह किसी के विकृत मन की शरारत न हो । मन साधन खण्डित करने के लिए, ऐसी शंकाएँ खड़ी किया ही करता है ।

प्रश्न– कहते हैं कि गुरु कैसा भी हो, यदि शिष्य अपनी श्रद्धा बनाए रखे तो उस श्रद्धा के बल पर वह उन्नति करता जाता है ।

महाराजश्री– श्रद्धा हो, तब न ! जब श्रद्धा ही छिन्न-भिन्न हो गई तो बना कर भी क्या रखे ?

अब शंका करने योग्य कुछ नहीं बचा था । स्वच्छ आकाश में निकट भविष्य में दारुण तथा चीत्कारी घटना के घटित होने वाले लेख को, आसानी से पढ़ा जा सकता था । महाराजश्री बार-बार जाने का संकेत दे रहे थे ।

(३७) सार्वजनिक प्रबोधन

आज सायंकालीन जन-समाज में महाराजश्री का वक्तव्य बड़ा भावपूर्ण तथा ओजस्वी था । सब लोग मंत्र मुग्ध काष्ठवत् बैठे चुपचाप सुन रहे थे । महाराजश्री के भाषण का सारांश इस प्रकार है–

(१) यदि तुम्हारी ज्ञानेन्द्रियाँ जगत का ज्ञान-संचय तथा व्यवहार में तुम्हारा पथ-प्रदर्शन करती हैं, किन्तु हृदय में वास्तविक ज्ञान, अपने यथार्थ स्वरूप की पहचान, सात्विक भाव तथा सर्वव्यापक प्रेम के विकास में उनका कोई योगदान नहीं हो, तो ज्ञानेन्द्रियों की सक्रियता का कोई उपयोग नहीं । इसी प्रकार तुम्हारी कर्मेन्द्रियाँ भी पकड़ने-छोड़ने तथा चलने आदि कार्यों में ही लगी रहे तथा ईश्वर की तुम्हारी यात्रा तनिक भी आगे न बढ़ पाए, तो कर्मेन्द्रियों की सारी व्यस्तता बेकार है । ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों की ज्ञान तथा क्रिया शक्ति तुम्हें इसलिए प्रदान नहीं की गई कि जगत में भ्रमित तथा मोहित होकर समय व्यर्थ नष्ट करते रहो । विचार करो कि इनका उपयोग परमार्थ-पथ में क्या तथा कैसे कर सकते हो ।

(२) किसी झरने का शीतल जल तुम्हारी प्यास तो बुझा सकता है किन्तु अन्तर में वासना की ज्वाला को शान्त नहीं कर सकता । वासना की धधकती अग्नि को लिए हुए मनुष्य संसार में भी ठोकरें खाता फिरता है, उसे जगत में अनेक मार्ग दिखाई दे सकते हैं किन्तु वह सच्चा मार्ग दिखाई नहीं देता, जो उसे प्रभु-प्रियतम के पास तक ले जाए तथा जिसे खोजने के लिए उसे मनुष्य शरीर प्रदान किया गया है ।

(३) हृदय की ऐसी स्थिति विकसित करना कि वह अन्दर की ओर देख सके, ऐसा मन प्राप्त करना जो प्रभु स्मरण में निरन्तर बना रह सके, ऐसी ज्ञानेन्द्रियों को अपनाना जो जगत की नित्य घटित होने वाली परिवर्तनशीलता का ज्ञान अर्जित कर सकें, ऐसी कर्मेन्द्रियों पर सवारी करना जो प्रभु की सेवा में सतत् बनी रह सके, यही तुम्हारा कर्त्तव्य है । यदि तुम्हारे

पास यह सभी कुछ है तो तुम्हारा जीवन सार्थक है, अन्यथा तुम इन सबके द्वारा शक्ति तथा समय का अपव्यय कर रहे हो ।

(४) तुम लोग मुक्ति की बातें करते हो, किन्तु उसके लिए कौन-सी वस्तु का त्याग करने के लिए तैयार हो । बिना त्याग किए कुछ प्राप्त नहीं होता । त्याग करने की बात तो दूर है, तुम तो पापों का संचय करने में ही लगे हो । फिर कैसे तुम्हें प्राप्त होगा मुक्ति का अवसर !

(५) केवल बातें बनाने से ही कोई मुक्त नहीं हो जाता । क्या कर रहे हो तुम मुक्त होने के लिए ? क्या तुमने मन तथा इन्द्रियों को अन्दर की ओर उलट लिया है ? क्या तुम्हारे हृदय में विरहाग्नि प्रज्वलित हो गई है ? क्या संसार में राग-द्वेष का त्याग हो गया है ? क्या प्रभु का नाम सुनते ही तुमको रोमांच हो जाता है ? यदि नहीं तो किस मुँह से तुम मुक्ति प्राप्ति की आशा करते हो ?

(६) तुमने कई प्रकार के दान-पुण्य, कर्म-काण्ड तथा विभिन्न तीर्थ कर के देख लिया, किन्तु यह सब तुम ने अभिमान, संशय तथा कई प्रकार की भ्रान्तियों से युक्त होकर ही किया । मन में झाँक कर देखो कि तुम में श्रद्धा, विश्वास तथा प्रेम किस मात्रा में था । क्या बात-बात में तुम क्रोधित नहीं हो जाते थे ? क्या क्षमाशीलता नाम को भी तुम में थी ? क्या तुम्हारा अन्तर घृणा से भरा हुआ नहीं था ?

(७) महापुरुषों का नाम ले-ले कर, गुणगान करते रहने से कुछ होने वाला नहीं । उन्होंने अवश्य ही अपने बंधन के कारणों को शिथिल कर लिया था, किन्तु तुम्हारे बंधन के कारण अभी तक यथावत् हैं । तुम अभी तक कई वासनाओं-आशाओं की पकड़ में हो । दिन प्रतिदिन तुम्हारे यह बंधन कसते जा रहे हैं, किन्तु तुम हो कि पराये धन पर अभिमान किए बैठे हो । अपनी ओर देखो, अपनी चित्त-स्थिति निहारो, अपने मन के प्रेम को तोलो, तब तुम्हें पता लगेगा कि तुम कहाँ खड़े हो । अभी तक तुम्हें यह भी नहीं पता कि तुम्हें जाना कहाँ है ? न ही यह ज्ञात है कि मार्ग कौन सा है ? मार्ग की कठिनाइयाँ क्या हैं ? पड़ाव कौन से हैं तथा कहाँ-कहाँ से सहायता मिल सकती है ?

(८) तुमने परमात्मा के पवित्र तथा निर्मल अहम् को अपने चित्त में उतारकर दूषित कर रखा है । जिस अहम् में समता थी, उसमें तुमने विषमता भर दी है । जो अहम् सदैव जगत् से निर्लिप्त था उसे तुमने वासनाओं-इच्छाओं में डुबो दिया । जो अहम् सदा आनन्दित बना रहता था उसे अवसादों तथा दुःखों के गहरे दुर्गंधयुक्त गर्त में डाल दिया, किन्तु फिर भी तुम्हारे मलीन अहम् के रूप में, ईश्वर का निर्मल अहम् ही प्रतिबिम्बित हो रहा है । उसके दिव्य ईश्वरीय गुण दब चाहे जाएँ, किन्तु समाप्त नहीं हो सकते । तुम्हारा अहम् फिर से निर्मलता, निर्लिप्तता तथा आनन्द को प्रकट कर सकता है । वही ईश्वरीय अहम्

साधन के रूप में तुम्हारे अन्दर है । वही साधक भी है तथा साध्य भी । तुम्हारा अभिमान बीच में आड़े आ रहा है, उसे कुचल डालो ।

(९) द्वैत का अर्थ है जोड़ा । यह संसार ज़ोड़ों से भरा है, सुख-दुःख, हानि-लाभ, अनुकूलता-प्रतिकूलता इत्यादि । स्त्री तथा पुरुष का जोड़ा भी द्वैत के ही अन्तर्गत है । अद्वैत में यह जोड़ा है ही नहीं । जोड़े के दोनों अंग एक दूसरे के पूरक भी हैं तथा विरोधी भी । कभी परस्पर सहायक हो जाते हैं, तो कभी लड़ने-कटने लगते हैं । इन दोनों में एक ही तत्व की विद्यमानता को पहचान लेना आध्यात्मिकता कहलाती है । यह दोनों चाहे पूरक हो या विरोधी, जब तक इनके पृथकत्व का भाव है, तब तक तो द्वैत ही है ।

(१०) तुम आए थे जगत् में कुछ कर जाने के लिए, अभिमान को मिटाने तथा अपने आपको पहचान लेने के लिए । तुम आए थे अनन्त गगन में विहार करने के लिए तथा अध्यात्म के गूढ़ रहस्यों को प्रकट तथा उजागर करने के लिए । तुम आए थे कल्पित सीमाओं, भ्रान्तियों तथा संशयों को तोड़ देने के लिए, किन्तु तुमने अपने आपको रूढ़ियों तथा मलीन मान्यताओं की परिधि में कैद कर लिया, जिससे तुम्हारी उन्मुक्त विचरण की शक्ति का ह्रास हो गया । तुम तड़पते हुए एक पक्षी की तरह होकर रह गए, जो फड़फड़ाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकता ।

(११) संत, महापुरुष तथा शास्त्र सदैव मानव की भलाई की ही बात करते हैं । यदि तुम उनकी बात पर ध्यान नहीं देकर मनमानी करते हो, तो यह पृथ्वी ऐसे एक नरक का रूप ले लेती है जिसमें चारों ओर आग ही आग लगी है । नरक-भोग के लिए अन्य किसी लोक में जाने की आवश्यकता नहीं रहती । यही पृथ्वी हर समय तुमको काटती, जलाती तथा तड़पाती रहती है ।

(१२) भावों तथा वासनाओं की मन में लपटें उठा ही करती हैं । वह मन तथा जीव दोनों को जलाती-तपाती रहती हैं । मन की अग्नि बाहर भी प्रकट होने लगती है तो संसार भी जलता तथा जलाता हुआ दिखाई देता है । यह लपटें तुम्हारे जीवन को ही नहीं, वरन् जीव के उद्देश्य को भी जला डालती हैं । इससे पूर्व कि संसार की यह अग्नि तुम्हारे उद्देश्य को तहस-नहस कर दे, तुम्हीं इसे समाप्त कर दो ।

(१३) किसी कर्म अथवा भाव को टटोल कर यह देखने का प्रयत्न करना हानिकर हो सकता है कि वह शुभ है अथवा अशुभ । प्रत्येक शुभ में अशुभ का भी समावेश होता है । शुभ स्मृतियों के साथ अशुभ-स्मृतियाँ भी संचित हो जाती हैं । इसलिए कर्तव्य कर्म करना ही श्रेयस्कर है । यही कल्याण का मार्ग है । यही संतों का उपदेश है । यही हमारा कथन है ।

(१४) किसी आकर्षण में नहीं उलझो । यह संसार बड़ा आकर्षक तथा लुभावना है । यह संसार माया नगरी है । सौंदर्य दिखाकर, असौंदर्य उपस्थित कर देता है । दिखाता अमृत है, देता विष है । अपने आपको सँभाल के रखो ।

(१५) कई मनोप्रवाह ऐसे हैं जो दिन में तो बड़े मनमोहक होते हैं, किन्तु रात्रि के अंधकार में वीभत्स रूप धारण कर लेते हैं । ऐसे मनोप्रवाह भी हैं जो आनन्द तथा मस्ती की वर्षा करते रहते हैं, किन्तु कब वे शोक, संताप तथा दुःख में बदल जाएँ, इसका कोई पता नहीं । कई प्रवाहों में कोमलता, दयालुता, क्षमाशीलता तथा सद्भावना होती है, फिर अचानक वे ही कठोरता, वीभत्सता, दम्भपूर्ण दीनता, राग-द्वेष तथा ईर्ष्या का आवरण ओढ़ कर भयानकता धारण कर लेते हैं । ऐसे मनोप्रवाह भी हैं जो ठण्डे जल की शीतलता बाँटते फिरते हैं, अचानक किसी मरुभूमि की तपती दोपहरी की तरह आग उगलने लगते हैं ।

अच्छाई तथा बुराई, जगत् में एक साथ ही विचरण करती हैं । जो आज अच्छा है उसे बुरा बनते देर नहीं लगती । अच्छाई तथा बुराई का भी एक जोड़ा है, जिसका विस्तार भगवान ने सृष्टि निर्माण के समय ही कर दिया था । तुम्हारा लक्ष्य उस तत्व को प्राप्त करना है जो अच्छाई तथा बुराई दोनों से अतीत है ।

जो आज तुम्हारे सामने सुख-वैभव उपस्थित करता है वह कल तुम्हारे सामने से हटा भी सकता है । जिसे तुम प्रेमपूर्वक दूध पिलाते हो, वही तुम्हें डंक भी मार सकता है । जगत का यही क्रम है । मन को किसी भी अवस्था के लिए तैयार रखो, क्योंकि यह सब तुम्हारे अपने ही किए का फल है ।

(१६) तुम ऐसे चित्त में से शान्ति, आनन्द तथा सुख की आशा कर रहे हो जिसमें अभी तक तुम वासना, चंचलता, क्रोध तथा द्वेष की गंदगी भरते रहें हो । जिस कुएँ में तुम कूड़ा-कचरा डालते रहे हो, उससे निर्मल स्वच्छ जल कैसे प्राप्त किया जा सकता है ?

(१७) संसार को दया करुणा, सद्भावना तथा सहनशीलता से शान्ति अवश्य प्रदान करो, किन्तु उसके बदले में जगत से किसी बात की आशा मत करो अन्यथा बदले के रूप में तुम्हारे समक्ष दुख प्रकट हो सकता है ।

(१८) संसार से प्रेम करो, उसकी मंगल कामना करो, उसका दुःख दूर करने का प्रयत्न करो; किन्तु मन में जगत से यह आशा मत रखो कि समय पड़ने पर वह भी तुम से वैसा ही व्यवहार करेगा । हो सकता है कि संसार में तुम्हारे प्रति घृणा का भाव प्रकट हो जाए ।

(१९) संसार को वासना प्रतिक्षण खाए जा रही है । इच्छाओं तथा आशाओं की आग मन में धधकती ही रहती है । इन्हीं में समाकर सारा जगत मृत्यु का ग्रास बनता जा रहा है । जगत को कल्याण का मार्ग दिखाकर, उसे मृत्यु के गाल में जाने से बचाने का प्रयत्न अवश्य करो, क्योंकि ऐसा करने में ही तुम्हारा भी कल्याण है ।

(२०) जगत को अच्छा या बुरा कहना-समझना जीवों का काम है, परमात्मा का नहीं । यदि तुम उसकी कृपा प्राप्त करना चाहते हो तो तुमको जगत की अच्छाई या बुराई की

ओर से अपने आपको उदासीन बनाना होगा । तभी मन स्थिर भी हो सकेगा तथा ईश्वर का सामीप्य भी प्राप्त कर सकोगे ।

(२१) सर्वप्रथम तो कुछ आशा करो ही नहीं । कुछ भी माँगने का भाव मन में मत आने दो क्योंकि आशा का फल निराशा है । यदि कुछ माँगना ही हो तो ईश्वर से माँगो क्योंकि वही सबको देने वाला है ।

(२२) जिस बात की आशा तुम अपने आपसे नहीं कर सकते, उस बात की आशा किसी दूसरे से भी मत करो । संभव है कि वह व्यक्ति भी, वह आशा पूरी कर पाने में असमर्थ हो । न ही किसी से कोई ऐसी आशा करो जो तुम चाहते हो कि तुमसे भी नहीं की जाए ।

(२३) जगत में कोई भी वस्तु, पदार्थ अथवा परिस्थिति ऐसी नहीं जिसे प्राप्त करके तुम सदैव के लिए दुःख मुक्त हो जाओ, अपितु यदि यह कहा जाय कि संसार का प्रत्येक पदार्थ तुम्हारे मन की चंचलता तथा अभिमान बढ़ाने का ही कारण है तो कोई अतिशयोक्ति न होगी ।

(२४) अपने मन को स्थिर, शान्त तथा आनन्दित रखो । जगत के उलझाव व फिसलाव से अपने आपको दूर रखो । दूर रहकर ही तुम जगत के यथार्थ स्वरूप को समझ पाओगे । यदि इसमें उलझ गए तो जगत रूप हो जाओगे ।

(२५) मनुष्य का गंतव्य-प्राप्तव्य ईश्वर है । इसके अतिरिक्त दूसरा कोई भी प्राप्तव्य ऐसा नहीं कि उसे प्राप्त करने के लिए इतने कष्ट उठाए जाएँ । अध्यात्म की चढ़ाई लम्बी तथा कठिन है, ऊबड़-खाबड़ है, संकटाकीर्ण है, तो उतने ही अधिक विश्वास से अपने आपको सुसज्जित कर लो । मार्ग की कोई भी कठिनाई अवरोध उत्पन्न नहीं कर पाएगी ।

(२६) जो अपना सब कुछ जला डालने के लिए तैयार हो, जो मोह, ममता को त्याग देने के लिए पूरी तरह तत्पर हो, जिसने इस बात को ताक पर रख दिया हो कि जगत् उसके बारे में क्या विचार करता है, वही साधन-पथ पर अपने पाँव आगे बढ़ाए ।

सब लोग ऐसे सुन रहे थे जैसे पाषाण प्रतिमाओं को बड़ी संख्या में एकत्रित कर स्थापित कर दिया गया हो । वक्तव्य समाप्त हुआ तो भी सब लोग वैसे ही चुपचाप बैठे रहे । उनके चित्त पर ऐसा प्रभाव पड़ा था कि किसी को सुध-बुध ही नहीं थी । जब थोड़े स्वस्थ हुए तो एक श्रोता ने कहा—

एक श्रोता— महाराज जी, जो कुछ भी आपने कहा, वह सब हमारे कल्याण के लिये ही है । हमें आशीर्वाद दें कि आप के वचनों को हृदय में धारण कर सकें ।

महाराजश्री— मेरा आप लोगों को उपदेश करने का अर्थ ही यह है कि, आप सबको मैं इस मार्ग पर चलते देखना चाहता हूँ, किन्तु आशीर्वाद का लाभ उठाना आपका काम है । शिष्य यदि चलना ही नहीं चाहे तो आशीर्वाद भी किस काम का ?

सब लोग अपने-अपने मन को टटोल कर यह देखने में लगे थे, कि इन उपदेशों के अनुसार वह अपना विकास कहाँ तक कर पाने में समर्थ हैं ।

काम कठिन तो था ही, किन्तु गुरु महाराज की शक्ति के सामने कौन सा काम मुश्किल है ? यदि आशीर्वाद साथ है तो एक न एक दिन बेड़ा पार हो जायगा । मैं भी यही सोचते हुए अपने कमरे में चला गया । सामने दीवार पर नारायण तीर्थजी महाराज तथा महाराजश्री के चित्र टँगे थे । समक्ष जाकर नत मस्तक हो गया । मन ही मन प्रार्थना करने लगा, "प्रभो ! जगत् बड़ा ही उलझन भरा है, निकल पाना आसान नहीं । इसे छोड़कर भागो तो पीछे भागता है । इसके पीछे भागो तो आगे भागता है । न छोड़ते बनता है, न पकड़ते । अजीब सी उलझन है । आप ही इस उलझन से निकाल सकते हैं । आपका ही सहारा है । हर पल जीवन मृत्यु के मुँह की ओर सरकता जा रहा है, पर जीव को उसका ध्यान ही नहीं । वह जगत की चिन्ता किए जा रहा है । मृत्यु मुँह फाड़े समीप आती जा रही है । कब तक जीवन मरण का खेल खेलता रहूँगा ! इससे बचाओ, आपकी ही शरण हूँ । रक्षा करो ! रक्षा करो !"

(३८) ऋषिकेश के लिए प्रस्थान

सन् १९६८ का शीतकाल । जनवरी मास का आरंभ । महाराजश्री ऋषिकेश के लिए प्रस्थान कर रहे थे । जब ऋषिकेश जाना होता था तो वह सदैव ही बड़े प्रसन्नचित्त तथा उत्साहयुक्त दिखाई दिया करते थे, किन्तु आज वह बड़े गंभीर थे । बार-बार नजर घुमाकर आश्रम को देख रहे थे । फिर आँखें बंद कर लेते थे । कभी जन समूह को निहारने लगते तो कभी उनका ध्यान चामुण्डा माता की टेकड़ी पर चला जाता, फिर एक दम मुँह को दूसरी ओर घुमा लेते थे । मैं जाने की तैयारी में व्यस्त था किन्तु बीच-बीच में महाराजश्री के हाव-भाव भी देखता जा रहा था । जब वे अपने कमरे में गए तो मैं भी पीछे-पीछे चला गया । पूछा, "महाराज जी ! आपका स्वास्थ्य तो ठीक है न ।"

महाराजश्री– क्यों ! मेरे स्वास्थ्य को क्या हुआ है ?

प्रश्न– आप कभी आश्रम की ओर देखते हैं, कभी लोगों की ओर । फिर आँखें बंद कर लेते हैं ।

महाराजश्री– देख रहा था कि परमात्मा ने मेरे आस-पास क्या-क्या इकट्ठा कर दिया था । उलझने वाले इन्हीं में उलझ कर रह जाते हैं, फिर उन्हें सब छोड़ते हुए कितना दुःख होता है ? गुरु महाराज की कैसी कृपा है कि न मुझे इस आश्रम के प्रति आसक्त किया, न ही इन लोगों से । जब छोड़ना पड़ेगा तो शान्ति से छोड़ दूँगा, क्योंकि मैंने पहले से ही यह सब मन से पकड़ा ही नहीं ।

प्रश्न– किन्तु अभी छोड़ने की बात ही कहाँ है ?

महाराजश्री– वह तो मैं ऐसे ही कह रहा था ।

महाराजश्री ने बोल तो दिया कि ऐसे ही कह रहा था किन्तु मेरे लिए यह आने वाली अप्रिय घटना के संकेत जैसा था । अब जाने की तैयारी करने में मन नहीं लग रहा था । जब कोई शंका अन्दर गहरे तक मार कर जाती है तो मन अत्यन्त चंचल हो जाता है । कई प्रकार की शुभाशुभ कल्पनाएँ हृदय-सागर में तैरने लगती हैं, किन्तु फिर भी जाना तो था ही, तथा जाने की तैयारी भी करनी थी, इसलिए जुट गया ।

महाराजश्री कमरे से बाहर आ गए थे । जन-समूह एकत्रित था । महाराजश्री भी अपने भाव में थे । जन-समूह के साथ उन की बातचीत बड़ी गहरी तथा मर्मस्पर्शी थी, जिस का सारांश इस प्रकारहै–

(१) अब हम यहाँ से जा रहे हैं । जीवन का कोई भरोसा नहीं । वापिस आना हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता । वापिस आया तो ठीक, नहीं तो तुम लोगों को मेरा यह अन्तिम उपदेश है ।

(२) चार दिन की चाँदनी रूपी जीवन में, इस जगत् में, कुछ भी प्राप्त होने वाला नहीं है । संसारी मनुष्य ही मान-बड़ाई, सत्ता-वैभव तथा सुविधाओं के लिए बेचैन रहते हैं । भक्त के लिए लोभ दुःख का तथा संतोष सुख का कारण है । जिस प्रकार सूखा तालाब न प्यास बुझा सकता है, न ही स्नान का आनन्द प्रदान कर सकता है, उसी प्रकार जगत से किसी प्रकार के सुख की उपलब्धि की आशा करना व्यर्थ है ।

(३) संसारी संसार की चिंताओं में ही डूबे रहते हैं, पल भर के लिए भी उनका मन विश्राम नहीं पाता । वे भूले भटके राही हैं । दो दिन के इस जीवन में वासनाओं तथा विकारों के मिथ्या जाल में उलझे रहते हैं । ऐसे स्वार्थी, नासमझ, भटके हुए संसारियों से सद्व्यवहार तथा भलाई की आशा करना एक भूल ही कही जाएगी ।

(४) जगत में शत्रुता कूट-कूट कर भरी है । केवल स्वार्थ ही किसी को मित्रता का स्वाँग करने के लिए आगे कर देता है । जगत् में न कोई सहारा है तथा न ही कोई विश्वास के योग्य । इसलिए किसी की मित्रता पर भरोसा मत करो । प्रभु ही एक सहारा है ।

(५) संसारी सफलता भी एक भुलावा है । जीवन तभी सफल होता है, जब जीव ईश्वर के प्रत्यक्ष दर्शन पा लेता है । जागतिक सफलता अपने साथ अनेक ही असफलताएँ लेकर प्रकट होती है । इसलिए संसारी सफलता पर मन में संतोष नहीं कर लेना ।

(६) भक्त दीनता तथा विनम्रता का मूर्तिमान स्वरूप होता है । क्रोध तथा उत्तेजना उसे छू भी नहीं सकती । उसे अपने अन्दर कोई गुण दिखाई नहीं देता, तथा दूसरों में कोई अवगुण दृष्टिगोचर नहीं होता । वह अपने आप को दुर्बलताओं, दोषों, भ्रान्तियों तथा नासमझियों का भण्डार मानता है, जो पापों में आकण्ठ डूबा हुआ है, किन्तु यह होते हुए भी

उसे परमात्मा की कृपा पर पूर्ण विश्वास होता है । यह ठीक है कि उसके मन में, असंख्य पाप जमा हुए उसे दिखाई देते हैं, किन्तु प्रभु की कृपा शक्ति के आगे ठहरने का पराक्रम क्या पाप दिखा सकते हैं ? "हे प्रभु ! मैं अपने किए पापों पर लज्जित हूँ, जो मुझे नहीं करने चाहिए थे, या जिनके करने से मैं बच सकता था, उन्हें भी मैंने निर्भय होकर किया । अब तेरी ही शरण हूँ ।"

(७) जब कोई किसी को भक्त मानता है तो सच्चा भक्त लज्जा के मारे जमीन में गड़ जाना चाहता है, क्योंकि उसके सामने अपने द्वारा किए गए पाप होते हैं ।

(८) सच्चा भक्त अपने द्वारा किए गए पापों के भण्डार को परमात्मा के श्री चरणों में प्रस्तुत कर देता है तथा उससे क्षमा की याचना करता है । उसे अपने पुण्य कर्मों की शक्ति का अभिमान नहीं होता, वरन् प्रभु की क्षमाशीलता, दयाशीलता पर पूर्ण भरोसा होता है ।

(९) भक्त प्रभु के सामने बार-बार रोता है, गिड़गिड़ाता है, क्षमा की याचना करता है, दयालुता की दुहाई देता है । अपने पापों पर लज्जा का अनुभव करता है ।

(१०) न किसी को बुरा कहो, न किसी का बुरा करो, न किसी का बुरा सोचो । सब प्राणियों के हृदय-मंदिर में प्रभु ही प्रतिष्ठित है, हर साँस उसी की क्रिया है, हर बात उसी का गुणगान है, हर दृष्टि में उसी का दृश्य है । इसलिए प्रत्येक हृदय वंदनीय एवं पूज्य है । यदि अपने हृदय में प्रभु-मिलन की इच्छा हो, तो किसी के हृदय को पीड़ा मत दो ।

(११) तुम्हारे अन्तर में कई दुर्बलताएँ, विवशताएँ तथा भ्रान्तियों की भरमार ही नहीं है, असीमित सत्ता, अनन्त सर्वज्ञता एवं अखण्ड आनन्द भी विद्यमान है । यदि तुम्हारे अन्दर रोग है तो उसका उपचार भी तुम्हारे अपने अन्दर ही है । अपने अन्दर की शक्ति तथा उसके प्रभाव को पहचानने की आवश्यकता है । अपने स्वरूप में स्थित होकर विकारों को जला डालो ।

(१२) इस दृश्यमान नानात्व का आधार अद्वैत है । एक सत्ता के सिवाय कुछ नहीं । उसी एक सत्ता का अन्तर में प्रत्यक्षीकरण, साधन का मार्ग प्रशस्त कर देता है । एक ही सत्ता अन्दर-बाहर लीलारत है । उसी में स्थित होना परमार्थ है ।

(१३) यह जगत एक मनमोहक सुन्दर फुलवाड़ी के समान है, किन्तु भक्त इसे अपने प्रियतम प्रभु से मिलन का माध्यम समझता है । प्रभु ने जो मनुष्य देह तथा जीवन प्रदान किया है, उसे प्रभु मिलन के लिएं एक सुअवसर मानता है । वह हर समय भक्ति के नशे में डूबे रहना चाहता है ।

(१४) वह जीवन के प्रत्येक क्षण का साधना-स्मरण के प्रति सदुपयोग करता तथा इस दिशा में सचेष्ट रहता है । एक क्षण भी व्यर्थ हो जाने पर उसका हृदय चीत्कार कर उठता है । वह हर समय अपने प्रियतम के बड़प्पन का ही गुणगान करता है ।

(१५) साधक-भक्त अपनी आन्तरिक अनुभूतियों को सदैव ही छिपा कर रखता है।

(१६) भक्त के समीप मृत्यु तथा जीवन में कोई अन्तर नहीं होता। यह सब निरन्तर चलने वाली एक अदृश्य यात्रा के विभिन्न पड़ाव हैं। इसलिए न उसे जीने की लालसा होती है, न ही मृत्यु से भय।

(१७) भक्त को ऐसा दृढ़ विश्वास होता है कि वह हर समय प्रभु की गोद में ही खेलता है। प्रभु के एक इशारे से उसका अस्तित्व प्रकट होता है तो एक इशारे से प्रभु में ही विलीन हो जाता है। वह अपने आपको प्रभु की नित्यता का प्रतिबिम्ब मानता है, जो ईश्वर के इशारे पर ही नाचता है।

(१८) मन पर चिन्ताओं, कठिनाइयों तथा समस्याओं का कितना भी बोझ क्यों न लदा हो, प्रभु का ध्यान करते ही मन से सारा बोझ उतर जाता है।

(१९) अपने अन्दर की बंद आध्यात्मिक खिड़की को खोल दो। शीतल बयार को मन में बहने दो। मन में छाए गहरे अंधकार को, ज्ञान के प्रकाश में विलीन हो जाने पर विवश कर दो।

(२०) अपने अमूल्य जीवन को जगत की मिथ्या लालसाओं, अनावश्यक व्यस्तताओं तथा अशुभ अभिलाषाओं में नष्ट मत करो। भगवान की ओर से तोहफे के रूप में यह जीवन प्रदान किया गया है। उसने किसी आशा से ही यह तोहफा तुमको दिया है। उसकी आशा को अपने माथे पर धारण करो। तुमको समझाना हमारा कर्त्तव्य था, इसलिए ये दो शब्द तुम्हारे सामने कहे। इसके अनुसार अपने जीवन को चलाना, तुम्हारा कर्त्तव्य है। गुरु महाराज तुम्हें सद्बुद्धि प्रदान करें।

इसके बाद भक्तों ने प्रणाम किया, प्रसाद वितरण हुआ तथा महाराजश्री गाड़ी पकड़ने के लिए चल दिए। जब गाड़ी ने देवास का प्लेटफार्म छोड़ा, तो महाराजश्री ने बैठे-बैठे ही आश्रम को प्रणाम किया, टेकड़ी तथा माता चामुण्डा को प्रणाम किया, फिर देवास नगर की ओर देखकर उसे प्रणाम किया, फिर रेल्वे स्टेशन को प्रणाम किया, तथा सबसे अन्त में अपने भक्तों को प्रणाम किया। जैसे कोई लड़की अपना पीहर छोड़कर ससुराल जाती है तो माता-पिता तथा सगे-संबंधियों से विदा लेने के अतिरिक्त अपने घर को, सामान को, कोई गाय-बैल या कुत्ता हो तो उसको, बार-बार देखती है। कुछ ऐसा ही महाराजश्री की चेष्टाओं से आभास हो रहा था। स्टेशन पीछे छूट गया तो मैंने पूछा कि आपने अपने भक्तों को क्यों प्रणाम किया? तो महाराजश्री ने उत्तर दिया, "मैंने भक्तों को प्रणाम नहीं किया, उनमें विद्यमान शंकर को किया है।"

फिर कहने लगे, "इतने वर्षों से नारायण कुटी में, टेकड़ी की तलहटी में, माँ चामुण्डा की छत्रछाया में रहा हूँ। कितने लम्बे समय से देवास नगर ने, इस शरीर को आश्रय प्रदान

कर रखा है, यह इन सबकी अत्यन्त कृपा है । भगवान ही सब व्यवस्था करते हैं तथा भगवान ही सब छीन भी लेते हैं । मनुष्य समझता है कि यह सब व्यवस्था उसने अपने परिश्रम तथा योग्यता से जमाई है । अभिमान से भर उठता है तथा मोहित हो जाता है, किन्तु आँख तब खुलती है जब सारी व्यवस्था उसके पाँव के नीचे से खिसक चुकी होती है ।"

महाराजश्री के अन्तर में उमड़ते-घुमड़ते विचारों का यह केवल बाहरी संकेत मात्र था । मैं अपने हृदय की पीड़ा छिपा न सका तथा कहा कि हम यह सब छोड़ कर थोड़े ही जा रहे हैं ! दो-तीन महीने में लौट के आने वाले हैं ।

महाराजश्री– हाँ ! लौट के तो आने वाले हैं किन्तु बदली हुई परिस्थितियों में । यह बदली हुई परिस्थितियाँ क्या होंगी ? यह तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु ऐसा लग रहा है कि इन परिस्थितियों में इनसे दोबारा मिलना नहीं होगा ।

प्रश्न– बदली हुई परिस्थितियाँ क्या हो सकती हैं ?

महाराजश्री– यह तो भगवान ही जानें, किन्तु बार-बार मन में यही भाव उठ रहा है ।

मेरे अन्दर विचारों का एक तूफान-सा उठा रहा था । कई प्रकार की परिस्थितियों की कल्पनाएँ उभर रही थी । महाराजश्री आँखें बंद किए शान्त बैठे थे कि उज्जैन का स्टेशन आ गया । वहाँ का भक्त मण्डल स्टेशन पर दर्शनार्थ उपस्थित था ।

महाराजश्री ने उनसे कहा– "आप लोग महाकाल की नगरी में निवास करते हैं, आपको तो मृत्यु का स्मरण हर समय बना रहना चाहिए । यह स्मरण जीवन में पवित्रता भर देता है ।"

एक भक्त– शंकर को महाकाल क्यों कहा जाता है ?

महाराजश्री– क्योंकि शंकर काल का भी काल हैं । सृष्टि को अपने में विलीन करते समय वह काल को भी अन्दर समेट लेते हैं, इसीलिए उन्हें महाकाल कहा जाता है ।

रास्ते में नागदा, कोटा, मथुरा में भी भक्तों ने दर्शन लाभ किया, मथुरा निकल गया तो महाराजश्री ने कहा, "दिल्ली ने भी हमें बहुत देर तक आश्रय दिया है । मैं सोचता हूँ कि उसका भी धन्यवाद करके, उससे भी विदाई ले लें । फिर पता नहीं कैसे हालात हों । इसलिए दिल्ली में दो-एक दिन रुक जाएँ ।"

टिकट तो हमारे पास हरिद्वार तक का था किन्तु हम दिल्ली में ही उतर गए । वहाँ दर्शनार्थ आए लोगों को जब पता चला कि महाराजश्री यहीं उतरने वाले हैं तो सब प्रसन्न हो गए । वहाँ हनुमानजी के मंदिर, मेहरोली के योग माया मंदिर तथा लाल किले के पीछे काली मंदिर दर्शनार्थ गए । महाराजश्री ने कहा कि उनके जीवन में इन मंदिरों का बड़ा महत्व रहा है, इसलिए इनका धन्यवाद करना आवश्यक प्रतीत हुआ । वैसे तो यह नाम रूपात्मक जगत

छलावा मात्र है किन्तु फिर भी इसे भगवान के सौंदर्य के प्रतिबिम्ब रूप में तथा लीला के रूप में भी लिया जा सकता है ।

दिल्ली से एक सज्जन की कार के द्वारा हम ऋषिकेश पहुँच गए। वहाँ के आश्रमवासी हर्षित हो उठे । यह तो लिख ही चुके हैं जब महाराजश्री गंगा किनारे किसी भी नगर में होते थे, तो उनका प्रात:स्नान गंगा जी में ही होता था । ऋषिकेश में जब पहले दिन गंगा-स्नान के लिए गए, तो महाराजश्री थोड़ी देर के लिए आंखें बंद किए खड़े रहे । पता नहीं बहिर्गंगाजी का ध्यान कर रहे थे कि अन्तर्गंगा का, किन्तु उस समय उनकी मुद्रा एक भक्त की थी । बोले, "हे माँ ! तुमने बहुत कुछ दिया है, तूने अनेक पापों का हरण भी किया है । जब तक यह शरीर बना रहे, तेरी कृपा ऐसे ही बरसती रहे । हम लोग तो अज्ञानी जीव हैं, तेरी कृपा के सहारे ही जीवन-नैया खे रहे हैं । हमें सँभाले रखना माँ, हमें सँभाले रखना ।"

आश्रम पर लौट कर कहने लगे, "भगवान की इस भारत देश पर कितनी महान कृपा है कि उसने गंगा मैया जैसी पवित्र नदी उसे प्रदान की, जो अपने निर्मल तथा स्वच्छ जल से भारतीयों के आहार की व्यवस्था तो करती ही है, उसके साथ, इसके प्रति, लोगों में भक्ति भावना संबंधित है, उससे परमार्थ भी सुधर जाता है । गंगा जी का किनारा सहस्त्राब्दियों से तरह-तरह की उपासनाओं तथा साधनाओं का केन्द्र रहा है । ऋषियों-मुनियों ने इसके किनारे पर परमार्थ लाभ किया है तथा जीवन की गुत्थियों को सुलझाया है ।

"गंगा जी भारतीय संस्कृति का आधार है, साधकों की भावनाओं का सार है, मनीषियों की उत्कृष्ट लेखनी का विस्तार है, योद्धाओं की अतुलनीय वीरता का दातार है, व्यापारियों तथा कृषकों में आशा का संचार है । इसका स्मरण मात्र जीव में भक्ति भावना का बीज अंकुरित तथा पल्लवित कर देता है । निराश्रितों को माता के समान प्रश्रय देती है, किन्तु पापियों को दण्ड देने में विकराल रूप धारण कर लेती है ।

"यह अन्दर-बाहर एक समान प्रवाहित है । इसकी गहराई अथाह तथा विस्तार अनन्त है । यह जितनी दृष्टिगोचर होती है, उससे असंख्य गुणा अधिक अदृश्य रूप में प्रवाहित है । तीनों लोक इसी के किनारे पर अवस्थित हैं । यही जीव की प्राण दाता है, यही तारक है, यह पालक है तथा यही संहारक है । गंगा जी कालातीत है । यह काल की भी काल है । यही जीवों में कुण्डलिनी रूप में विराजती है । यही शेष रूप धारण कर पृथ्वी का भार वहन करती है । ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि सभी देवता इसी का स्वरूप हैं ।

"पुराणों में गंगावतरण की कथा आती है । कहते हैं कि भगीरथजी गंगा जी को पृथ्वी पर लाए थे । आज भी न जाने कितने भगीरथ गंगाजी को पृथ्वी पर लाने के प्रयत्न में लगे हैं । कितने ही भगीरथ, गुरु कृपा से इसे पृथ्वी पर लाने में सफल हो चुके हैं । मूलाधार पृथ्वी ही तो है जहाँ से गंगा जी सुषुम्ना में प्रवाहशील हो जाती है । भक्तों की जितनी

अपेक्षाएँ-आशाएँ गंगा जी से हैं, वह सब यही अन्तर्गंगा जी पूरी करती है । भावुक भक्त बाह्य गंगा जी में डुबकी लगाता है, तो अन्तर्गंगा जी में उतर जाता है । भारतीय वाङ्मय में अन्तर्बाह्य गंगा जी का कैसा अनूठा सामंजस्य स्थापित कर रखा है !"

यह कहते-कहते महाराजश्री की आँखें मुँद गईं । वह ध्यानस्थ हो गए ।

(३९) साधन-धाम

हर बार की तरह इस बार गरुड़ चट्टी जाने का कार्यक्रम नहीं बना । एक दो बार महाराजश्री को याद भी दिलवाया, बोले, "देखेंगे, क्या जल्दी है ।" ऐसा लगता था जैसे उधर से भी महाराजश्री ने अपने मन को समेट लिया था, किन्तु प्रातः भ्रमण तथा गंगा-स्नान का कार्यक्रम सदैववत् चल रहा था । एक दिन प्रातः भ्रमण में उन्होंने कहा था, "हमारी श्री योगानन्दजी महाराज से शक्तिपात् की दीक्षा यहीं गंगा किनारे सम्पन्न हुई । स्वामी शंकर पुरुषोत्तम तीर्थ महाराज ने संन्यास की कृपा भी यहीं की । अब यही एक इच्छा बाकी है कि अंतिम साँस भी यहीं निकले तथा शरीर को भी गंगा जी में ही प्रवाहित किया जाय । इसी दृष्टि से यहाँ योग श्री पीठ का निर्माण किया गया है, अन्यथा योग श्री पीठ या नारायण कुटी से हमें कोई भी मोह नहीं ।"

फिर कुछ रुक कर बोले, "किन्तु क्या पता भगवान को क्या स्वीकार है ! वह कहाँ तथा कब, किस स्थिति में काल को सक्रिय कर देता है । योग श्री पीठ एक ओर रखा ही रह जाए तथा किसी अन्य स्थान पर जीवन लौ बुझ जाए । तुम एक काम करना कि ऐसा समय जहाँ भी आए, हमारे शरीर को गंगा जी में प्रवाहित करने के लिए यहीं ले आना । यदि अन्तिम साँस गंगा किनारे नहीं लिया जा सके, तो कम से कम, शरीर तो प्रवाहित हो जाय । हम शरीर को गंगाजी में प्रवाहित करना चाहते हैं । इसे जमीन में गाड़कर, समाधि नहीं बना देना । कालान्तर में समाधियों का बहुत दुरुपयोग होता है । संभवतः इसीलिए हमारी परम्परा में किसी गुरु की समाधि नहीं बनाई गई । तुम भी हमारी समाधि बनाने की भूल मत करना, यह हमारा स्पष्ट आदेश है ।"

जिस बात को मैं नहीं सुनना चाहता था, वह मुझे सुननी पड़ रही थी । महाराजश्री आज कैसी अनावश्यक बातें कर रहे थे ? यह सब सुन कर किसका मन भयभीत न हो उठेगा ? सारे संसार की यही गति है । न कोई अपने स्वयं की मृत्यु की बात सुनना-सोचना चाहता है, न ही अपने किसी प्रियजन की, किन्तु महाराजश्री की स्थिति जगत से एकदम भिन्न थी । उन्हें मृत्यु से कोई भय नहीं था । कितने सहज ढंग से सारी बातें कर रहे थे, जैसे मृत्यु न हो, मनोरंजन की वस्तु हो ।

फिर भी महाराजश्री की बात का उत्तर तो देना ही था । मैंने कहा, "सर्वप्रथम तो भगवान करे, कि आपकी आयु इतनी लम्बी हो कि जब तक वह समय आए, तब तक हम

लोग संसार से जा चुके हों । फिर भी इस बात को आप निश्चित समझिए कि यदि कभी ऐसा अवसर, यहाँ से अन्य किसी स्थान पर ही उपस्थित हो जाता है, तथा उस समय मैं आपके पास हूँ, या शीघ्र ही वहाँ पहुँच सकता हूँ, तो आपके शरीर को गंगा-प्रवाह के लिए यहाँ लाऊँगा ।"

इतनी बात मैं कह तो गया, किन्तु यह कहते हुए अन्दर से मेरा हृदय काँप गया, पर मैं समझता हूँ कि महाराजश्री को इससे अवश्य ही कुछ संतोष हो गया । जब लौट कर योग श्री पीठ आए तो सभी आश्रमवासी तथा आगंतुक इकट्ठे हो गए । महाराजश्री के समक्ष एक सज्जन ने एक प्रश्न उपस्थित कर दिया ।

जिज्ञासा– आपने एक बार कहा था कि साधन रूपी नदी को पार करना साधन है (हृदय मंथन भाग दो, पृष्ठ १५३) तो साधन रूपी नदी क्या है ?

महाराजश्री– साधन केवल साधन है, साध्य नहीं । साध्य की प्राप्ति के पश्चात् साधन छूट जाता है । जब तक साधन नहीं छूटा, तब तक साध्य प्राप्त नहीं हुआ । नदी के जल का आश्रय लेकर ही कोई तैरता है । परले किनारे पहुँच कर जल का त्याग हो जाता है । यदि किसी को नदी के जल से आसक्ति हो जाय तो वह जीवन भर तैरता ही रहेगा, कभी भी परले किनारे पर नहीं पहुँच पाएगा । यही हाल साधन का भी है । संसार के प्रति आसक्ति से भी अधिक सूक्ष्म तथा कहीं अधिक सशक्त आसक्ति, साधन के प्रति हो जाती है । साधन के प्रति आसक्ति, साध्य को सामने से हटा देती है । तब वह साधन नहीं, बाधक हो जाता है । साधन रूपी इस नदी को पार करना भव-सागर को पार करने के समान ही दुष्कर है । साधन रूपी नदी में आसक्ति हो जाने पर, न साधन नदिया से छुटकारा हो पाता है, न भव-नदिया ही पार हो पाती है ।

जिज्ञासा– जब तक कोई साधन का, साध्य की तरह ही आदर नहीं करेगा, उसकी देख-भाल नहीं करेगा, तब तक साध्य प्राप्त भी कैसे होगा ?

महाराजश्री– आदर करना तथा देख-भाल करना एक बात है तथा साधन के प्रति आसक्त हो जाना दूसरी बात । यह आवश्यक नहीं कि जिसके प्रति हम आसक्त हैं, उसका हम आदर भी करते हों । सच्चा साधक, साधन का आदर करता है, किन्तु आसक्त नहीं हो जाता । यह समर्पण भाव पुष्ट हुए बिना संभव नहीं ।

जिज्ञासु– यदि साधक समर्पण भाव के प्रति आसक्त हो जाय तो ?

महाराजश्री– तो वह समर्पण नहीं रह जायगा ।

एक अन्य जिज्ञासु– आप आसक्ति छोड़ने की बात कर रहे हैं । संसार में आपको पूर्णतः निस्वार्थ कोई व्यक्ति देखने में आया है क्या ?

महाराजश्री– पूर्णतया निस्वार्थ व्यक्ति जगत में यत्र-तत्र-सर्वत्र बिखरे हुए नहीं मिलते, किन्तु ऐसा मान लेना कि संसार में निस्वार्थ व्यक्ति कोई है ही नहीं, ठीक नहीं । मेरे देखने में इने-गिने लोग ही ऐसे आए जिन्हें मैं पूर्णतया निस्वार्थ समझता हूँ जैसे रमण महर्षि । उनके अन्दर आसक्ति का कोई भी स्वरूप मेरे देखने में नहीं आया । वैसे दो-एक लोग और भी ऐसे देखने में आए ।

जिज्ञासा– यह तो सिद्ध-पुरुष की बात हुई, कोई ऐसा साधक ?

महाराजश्री– साधक पूर्णतया निस्वार्थ कैसे होगा ? वह तो कोई सिद्ध-पुरुष ही हो सकता है । जब तक स्वार्थ का कुछ भी अंश शेष है तभी तक कोई व्यक्ति साधक कोटि में गिना जाता है । पूर्ण निस्वार्थ का अर्थ है शुभ तथा अशुभ दोनों प्रकार के स्वार्थों की सम्पूर्ण निवृत्ति । ऐसा केवल परमात्मा है या जो संत भगवद्स्वरूप हो गया हो ।

जिज्ञासा– क्या हृदय में प्रेम उदय हो जाने पर सभी वासनाएँ तथा इच्छाएँ विलीन हो जाती हैं ?

महाराजश्री– विलीन नहीं हो जाती, विलीन होना आरंभ हो जाती हैं । जैसे शक्ति जागृत होते ही निर्विकल्प अवस्था प्राप्त नहीं हो जाती, उधर की यात्रा आरंभ हो जाती है । क्या दाल चूल्हे पर रखते ही तत्काल पक जाती है ? प्रेम का उदय होना तथा शक्ति का जागृत होना, दाल को चूल्हे पर रखने के समान ही है । बालक पैदा होते ही युवा नहीं हो जाता, न ही बीज आरोपित होते ही वृक्ष का रूप धारण कर लेता है । यदि यह सब संभव नहीं, तो यह कैसे संभव हो सकता है कि प्रेम के हृदय में उदय होते ही तत्काल मन निर्मल हो जाए ? पहले मन में प्रेम अंकुरित होगा, धीरे-धीरे बढ़ेगा, प्रेमाग्नि का रूप ग्रहण करेगा, मनुष्य प्रारब्ध भोग की ओर सम-दृष्टि का विकास करेगा, संस्कार प्रेमाग्नि में जलने लगेंगे, इन सब में समय तो लगता ही है । फिर प्रेम एक बार उदय होकर विलीन भी हो सकता है । संभव है वासनाओं के थपेड़ों को सहन न कर पाए । इसीलिए धैर्य, उत्साह तथा समर्पण की आवश्यकता है । अध्यात्म कागज पर नक्शा बनाने के समान नहीं है । भवन निर्माण के लिए कितनी मेहनत करनी पड़ती है ? कितने कारीगर-मजदूर लगाने पड़ते हैं ? कितना सामान जुटाना पड़ता है ? तब कहीं भवन निर्माण हो पाता है । कई बार भवन बनते-बनते गिर भी जाता है । प्रेम में भी साधक कई बार उठता-गिरता है । कई बार भटक जाता है । कभी उत्साह, तो कभी निरुत्साह अपना रंग दिखाते हैं । बड़ा फिसलन भरा मार्ग है । अभिमान रूपी सिर को काट डालना क्या इतना आसान है ? ईश्वर जेब में रखे धन की तरह नहीं कि जब जी चाहा, निकाल लिया तथा दर्शन कर लिए । ठीक है कि ईश्वर साथ ही है किन्तु उसे अनुभव करने के लिए तपना पड़ता है, जल कर भस्म हो जाना पड़ता है । तब कहीं अध्यात्म सिद्ध हो पाता है ।

यह सुन कर, एक बार तो सभी श्रोताओं का जोश ठण्डा हो गया । शारीरिक सिर तो झुक गए किन्तु अभिमान ने फिर भी सिर झुकाने से इनकार कर दिया ।एक बार तो मन में यह भाव भी उठा कि यदि यह हमसे नहीं हो सकता तो फिर परिश्रम ही क्यों किया जाए ! जो जगत प्रत्यक्ष अनुभवगम्य है, हमारे लिए वही अच्छा है । अध्यात्म हमारे बस की बात नहीं । इतने में महाराजश्री की वाणी फिर गूँज उठी—

"चिन्ता करने की कोई बात नहीं । चिन्ता करना संसारियों का काम है । आप तो साधक हो, भगवती क्रिया-शक्ति के कृपा-पात्र । शक्ति-जागृति रूपी अपार धन आपके पास है । प्रथम आवश्यक प्राप्तव्य आप प्राप्त कर चुके हैं । इसी तरह आगे बढ़ते रहो । यदि चलोगे नहीं तो पहुँचोगे कैसे ? भगवान बड़े दयावान हैं । संसारी जीवों की भाँति वह संकुचित हृदय नहीं हैं । उन्हें आपकी कठिनाइयों का ध्यान है । आप जो प्रयत्न करते हैं वह भी उनकी दृष्टि में है । वह किसी के सामने आकर कृपा नहीं करते । उनकी कृपा अदृश्य होती है । अपनी झोली फैलाए रखो । झोली फैलाए रखना ही साधन है । कठिनाइयों से विचलित मत हो जाओ । यदि आप अपने में शक्ति की कमी अनुभव करते हो तो ईश्वर की शक्ति से साधन करो । वैसे भी अपनी साधन-प्रणाली में ईश्वर की कृपा-शक्ति ही साधन करती है । कोई भी विघ्न या बाधा उस शक्ति का मार्ग नहीं रोक सकती ।"

एक साधक– महाराजश्री ! लक्ष्य तो बहुत बड़ा है । आप जैसे महापुरुषों के लिए कोई कठिन नहीं किन्तु हम तो साधारण जीव हैं ।

महाराजश्री– जिनको आज तुम महापुरुष समझते हो, किसी जन्म में वह भी साधारण जीव थे । एक दिन में कोई महापुरुष नहीं बन जाता । उन्हें भी कठिनाइयों ने कितना घेरा होगा । संसार ने कभी आकर्षण तो कभी भय दिखा कर, मार्ग अवरुद्ध करने का प्रयत्न किया होगा । कितना संघर्ष करना पड़ा होगा, उन महापुरुषों को ! आप भी क्यों महापुरुष नहीं बन सकते ? क्या कमी है आप में ? क्या आप परमात्मा के बनाए जीव नहीं हैं ? या आप में सर्वज्ञता का बीज नहीं है ? सच पूछा जाए तो आप इस समय भी महापुरुष हैं, केवल भ्रांति है कि आप साधारण जीव हैं ।

एक साधक– सिद्धान्त रूप में आपकी बात ठीक है, किन्तु क्रियात्मक रूप में तो कठिनाई है ही ।

महाराजश्री– जिस क्रियात्मक रूप को आप कठिनाई मान रहे हो, वही क्रियात्मक रूप आपका सहायक भी हो सकता है। व्यवहार के प्रति केवल दृष्टि बदलने की आवश्यकता है, फिर देखोगे कि कल तक जो कठिनाइयाँ बाधक बन रही थीं, आज वह साधन रूप धारण किए, आपके साथ खड़ी हैं । व्यवहार कोई समस्या नहीं, व्यवहार के प्रति आपका दृष्टिकोण समस्या है ।

सायंकाल को मैं महाराजश्री के साथ घूमने के लिए निकला । सर्दियों का मौसम था यात्रियों का आवागमन नाम मात्र ही रहा था । यहाँ रहने वाले बहुत से महात्मा भी कम-ठण्डे प्रदेशों में चले गए थे, इसलिए सड़क प्राय: खाली थी । कभी कभार कोई ताँगा निकल जाता, या कोई राह चलता दिखाई दे जाता था । सर्दियों में गंगा जी का जल-स्तर भी नीचे उतर जाता है । गंगा जी का किनारा भी वीरान था, कोई वहाँ घूमता हुआ दिखाई नहीं दे रहा था । हम गंगा जी के साथ-साथ इसी किनारे पर लक्ष्मण झूला से आगे निकल गए थे । महाराजश्री की चाल काफी तेज थी । प्राय: लोगों को उनके साथ भागना पड़ता था ।

महाराजश्री चलते-चलते एकदम ठहर गए तथा उन्होंने दोनो हाथ जोड़कर, जैसे किसी को प्रणाम किया । फिर टकटकी लगाए एक ओर देखने लगे । मैं यह सब चुपचाप देख रहा था । थोड़ी देर बाद बोले, "क्या तुम उस पत्थर पर किसी को बैठे देख रहे हो ?" मैं उस पत्थर की ओर देखने लगा तो मुझे वहाँ कोई भी बैठा हुआ दिखाई नहीं दिया । तब मैंने कहा, "हो सकता है कि मेरे देखने से पहले ही वह व्यक्ति उठकर कहीं चला गया हो । मुझे वहाँ कोई व्यक्ति दिखाई नहीं दे रहा ।"

महाराजश्री– नहीं ! वह व्यक्ति अब भी वहीं बैठा है । कितनी लम्बी दाढ़ी है ? मुख पर कैसा तेज है ? वह हमारी ओर ही देख रहा है । लो ! उसने अभय मुद्रा में हमें आशीर्वाद दिया और यह लो, वह वायु मण्डल में अदृश्य हो गया । देखा तुमने !

मुझे यह सब कुछ भी नहीं दिखाई दे रहा था । केवल आश्चर्यचकित होकर महाराजश्री की बात सुन रहा था । महाराजश्री इस समय अलौकिक मस्ती में सराबोर हो रहे थे । मैंने उचित यही समझा कि पहले उन्हें सामान्य स्थिति में आ जाने दिया जाए, उसके पश्चात् ही कुछ बात करूँगा । महाराजश्री ऐसे नशे में थे कि उनसे चलना या खड़े रहना भी नहीं बन पा रहा था, वह एक पत्थर पर बैठ गए । मैं भी चुपचाप नीचे बैठ गया ।

दूर-दूर तक सड़क खाली दिख रही थी । चारों ओर सुनसान फैला था । कोई ताँगा भी इधर से नहीं निकल रहा था क्योंकि वह भी प्राय: लक्ष्मण झूला तक ही आते थे । महाराजश्री ध्यानमग्न बैठे थे किन्तु मैं उनके उठने की प्रतीक्षा कर रहा था । सायंकाल का अंधकार भागा चला आ रहा था । कुछ देर के पश्चात् महाराजश्री ने आँखें खोलीं । हम आश्रम से कोई डेढ़ मील दूर बैठे थे । जब तक वापिस पहुँचे, काफ़ी अँधेरा हो चुका था । आश्रम पर सब लोग चिन्ता कर रहे थे । कुछ लोग पता करने के लिए जाने की तैयारी में थे ।

रास्ते भर महाराजश्री मौन रहे थे । आश्रम में आ कर भी कुछ अधिक बात नहीं की । भोजन भी गुमसुम अवस्था में ही किया । जब सब लोग सोने के लिए चले गए तो मैंने महाराजश्री से एक प्रश्न किया, "जब उन अदृश्य महापुरुष ने अपने आपको प्रकट किया तो आपको दिखाई दिए, किन्तु मुझे नहीं । क्या कोई ऐसी सिद्धि भी है कि किसी को दिखाई दिया जाय, किसी को नहीं !"

महाराजश्री– हाँ ! ऐसी सिद्धि भी है, किन्तु मेरे विचार में उन महापुरुष ने उस सिद्धि का प्रयोग नहीं किया । उन्होंने सूक्ष्मता के विशेष स्तर पर अपने आपको प्रकट कर दिया, किन्तु वह स्तर भी तुम्हारी पहुँच से बाहर था, इस कारण तुम्हें उनके दर्शन नहीं हुए, पर इतना अवश्य है कि उन महापुरुष की दृष्टि तुम्हारे ऊपर पड़ गई थी । यह भी बहुत बड़ा सौभाग्य है । कालान्तर में तुम्हें इसका प्रभाव दिखाई देगा ।

महाराजश्री आराम में चले गए तथा मैं अपने कमरे में आ गया । किन्तु नींद जैसे आज आँखों से उड़ गई थी । अन्तर में विचारों का ताँता लग गया था । यह विचार प्रवाह अपनी चित्त स्थिति को लेकर नहीं था, महाराजश्री की महानता की ओर था । कितने सीधे-सादे सरल से हैं, कितने गहर-गंभीर । सतत् उनके पास रहने वाला भी उनकी थाह नहीं पा सकता । क्या कोई कल्पना कर सकता है कि उनका इतने उच्च सूक्ष्म स्तरों पर, किस-किस से कैसा संपर्क है ! लोगों को न ही पता है तथा न ही पता करने की लालसा है, तथा न ही किसी को वह कुछ कहते ही हैं । ठीक भी है, कहने से लाभ भी क्या है ? जिसको अपना अभिमान प्रदर्शित करना हो, वह ऐसी बातों का प्रचार करता फिरता है । ऐसे अभिमानी का मानसिक स्तर अवश्य ही नीचे आ जाता है, किन्तु महाराजश्री तो अभिमान प्रदर्शन से बहुत दूर हैं । आप कहा भी करते हैं कि अपने साधन के अनुभवों को गुप्त रखना चाहिए । व्यक्त कर देने पर अनुभव होने बंद हो जाते हैं । मेरा सौभाग्य है कि इन चरणों का सानिध्य प्राप्त हुआ है, तथा मुझे विश्वास में लेकर मुझे कई बातें बताई हैं । क्या उन्होंने अपनी प्रत्येक बात मुझ पर व्यक्त कर दी है ? संभवत: नहीं । अपने अथाह गुप्त भण्डार में से कुछ ही रत्न मुझ पर प्रकाशित किए होंगे । जो कुछ भी प्रसाद स्वरूप मिल जाए, वही बहुत है ।

मैं इसी प्रकार विचारों के अथाह सागर में डुबकियाँ लगाता रहा । घड़ी देखी तो साढ़े बारह बजने वाले थे । मेरा कमरा तो दूसरा था, किन्तु महाराजश्री के निकट सामीप्य की दृष्टि से, उनके कमरे से लग कर एक छोटा-सा स्टोर था, रात को मैं उसी में सोया करता था । स्टोर तथा महाराजश्री के कमरे में एक दरवाजा था जो खुला रहता था । मैंने उठ कर महाराजश्री को देखा तो समाधि अवस्था में बैठे हुए थे । मैंने जान-बूझ कर दरवाजा थोड़ा दीवार से बजा दिया, किन्तु इससे उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा । मैं महाराजश्री के कमरे में चला गया । यह पता लगा पाना कठिन था कि उस समय उनकी स्थिति क्या है । थोड़ा रुक कर, मैं वापिस अपने बिस्तर पर आ गया, किन्तु नींद का कोई निशान नहीं था । बीच-बीच में उठ कर महाराजश्री को देख लेता था, वह उसी प्रकार निश्चल बैठे हुए थे ।

तीन बजे के आसपास मुझे कुछ नींद आ गई । पाँच बजे मैं हड़बड़ा कर उठ बैठा । जाकर देखा तो महाराजश्री वैसे ही बैठे हुए थे । कोई छ: बजे वह उठे । महाराजश्री प्रात: तीन बजे, दिन में एक ही बार, काफी का एक कप लिया करते थे । काफी भी आज प्रात: छ: बजे ही

पी सके । काफी पीने के पश्चात् बोले, "आज देर तो हो गई है, फिर भी थोड़ा घूम ही आते हैं ।" घूमना क्या था, गंगाजी के किनारे, एकान्त स्थान देखकर बैठ गए । बोले, "जो महापुरुष कल सायंकाल को दिखाई दिए थे, वह रात को फिर आए । मैं अभी सोया नहीं था । आकर बोले कि चलो हमारे साथ । जब मैंने कहा कि कहाँ ? तो कहने लगे कि जहाँ हम ले चलें । यह कहकर उन्होंने हाथ ऊपर उठा दिया तथा मेरा सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर से बाहर आ गया । हम दोनों ने हवा में उड़ना शुरु किया । हमारी उड़ने की गति अत्यन्त तीव्र थी । राकेट की भाँति आकाश का सीना चीरते हुए आगे बढ़ रहे थे । कुछ समय के पश्चात् हम हिमाच्छादित उच्च पर्वत शिखरों पर थे । चारों ओर जैसे चाँदी की चादर बिछी थी । ऐसा लगता था कि यहाँ की बर्फ कभी पिघलती ही नहीं । बर्फ ही से सफेद झक, एक वादी में हम उतर गए थे । बलिष्ठ किन्तु वृद्ध शरीर, लम्बी दाढ़ियाँ, ओजस्वी चेहरे, यहाँ-वहाँ महात्मा, खून को जमा देने वाली उसी ठण्डक में, समाधियाँ लगाए बैठे थे । मुझे वह स्थान एक साधन-धाम जैसा दिखाई दे रह था । कितनी शान्ति, कैसी स्तब्धता ! दिल की धड़कन, तथा साँस ध्वनि के अतिरिक्त कोई भी आवाज सुनाई नहीं देती थी । हमने यहाँ-वहाँ छितरी कुछ गुफाएँ भी देखी । कुछ गुफाएँ खाली थीं तो कुछ में महात्मा समाधि लगाए बैठे थे । किसी को भी बात करते या बोलते, हमने नहीं देखा । फिर एक छोटी-सी गुफा में गए, जहाँ एक आसन बिछा था तथा पास ही रखे कमण्डलु में जल भरा था, किन्तु वहाँ कोई भी बैठा दिखाई नहीं दिया । मैंने पूछा कि इस गुफा में कौन साधन करता है, कोई दिखाई तो देता नहीं ?

महापुरुष– इसमें कोई साधन नहीं करता ।

महाराजश्री– तो फिर यह आसन किसका है ? कमण्डलु में जल भी भरा है ।

महापुरुष– यह आसन पिछले नौ हजार वर्षों से इसी प्रकार खाली पड़ा है । कमण्डलु का जल भी इतना ही पुराना है । जो महापुरुष नौ हजार वर्ष पूर्व, आसन लगा छोड़कर गया है, वह अभी लौटा नहीं ।

महाराजश्री– कौन है वह महापुरुष ?

महापुरुष– तुम ।

महाराजश्री– (सकपका कर) मैं !

महापुरुष– हाँ तुम ।

महाराजश्री– मैं हूँ वह महापुरुष ! नौ हजार वर्ष यहाँ से गए हुए हो गए ! और मेरा आसन तब से मेरी प्रतीक्षा कर रहा है ! मेरा कैसा दुर्भाग्य !

महापुरुष– दुर्भाग्य नहीं । यह सब साधन की अवस्थाएँ हैं । सभी साधकों को इस प्रकार की परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है । तुम्हारे कुछ ऐसे गड़े हुए संस्कार उदय हो गए थे, जिस कारण उन्हें भोगने के लिए, तुम्हें यहाँ का साधन बीच में ही छोड़कर जाना

पड़ा । इन नौ हजार वर्षों में तुमने अनेक जन्म ग्रहण किए, कई उतार-चढ़ाव देखे, हम तुम्हारी प्रत्येक गतिविधि पर नजर रखते आ रहे हैं । अब तुम्हारे प्रारब्ध का वह अध्याय पूर्ण हो गया है । शीघ्र ही तुम वापिस लौटकर अपना आसन ग्रहण करने वाले हो । यही सूचना देने के लिए मैं सायंकाल प्रकट हुआ था, किन्तु तुम्हारे साथ एक अन्य व्यक्ति भी था, इसलिए वापिस आ गया ।

महाराजश्री– ऐसे क्या संस्कार उदय हो गए थे जिस कारण मुझे साधनमय, इस आनन्द को बीच में ही छोड़कर, आवागमन की भूल-भुलैयाँ में भटकना पड़ा, वह भी नौ हजार वर्ष ?

महापुरुष– तुम एक अति उत्कृष्ट साधक थे । इस साधन धाम में सामान्य साधक की पहुँच ही संभव नहीं है । तुम्हारे साधन की उच्च गति तुमको यहाँ तक तो ले आई थी, तथा तुम अपने साधन में भी तल्लीन थे, किन्तु जीव के चित्त में, अत्यन्त गहराई में जमे हुए, न जाने कौन-कौन से जन्मों के संस्कार धीरे-धीरे उभरते हैं तथा साधक को बार-बार उसके साधन से विचलित करते रहते हैं । तुम्हारे भी कुछ इसी प्रकार के संस्कार उभर आए थे । एक स्त्री जिसके साथ तुम कई जन्मों से दाम्पत्य सुख भोगते आ रहे थे, तथा जिसके प्रति तुम अत्यधिक आसक्त एवं मोहित थे, इस साधन धाम को छोड़ने तथा आवागमन में जाने का कारण बनी । वास्तव में वह स्त्री कारण नहीं थी, वरन् तुम्हारे अपने मन की आसक्ति ही कारण थी । तब तुम्हारे शान्त चित्त में पुरानी स्मृतियों की एक रेखा खिंच गई । तुम्हारा आनन्दित हृदय एक बार पुन: वासना से अभिभूत होकर मचल उठा, जिसने तुम्हारे अखण्ड चल रहे निरन्तर साधन को खण्ड-खण्ड कर दिया । तुम्हें अपना आसन त्याग कर, मृत्युलोक के कष्टमय वातावरण में लौटना पड़ा ।

महाराजश्री– क्या इस समय हम मृत्युलोक में नहीं हैं ?

महापुरुष– नहीं ! यह स्थान मृत्युलोक से बाहर है । मृत्युलोक के जीव यहाँ प्रवेश भी नहीं कर सकते । तुम्हें भी स्थान की छोटी-सी झलक इसीलिए दिखाई जा रही है, क्योंकि अतिशीघ्र ही तुम लौटकर यहाँ आने वाले हो । वह भी तुम्हारा स्थूल शरीर से यहाँ प्रवेश असंभव था, तुम्हारा वास्तविक स्थान यही है । मृत्युलोक में तुम कारणवश ही गए थे ।

महाराजश्री– तो मुझे यहाँ लौटकर वापिस आने में नौ हजार वर्ष का लम्बा समय लग गया ?

महापुरुष– संस्कारों की यही विडम्बना है । सर्वप्रथम संचय करना तो बहुत सरल है किन्तु उसे क्षय करने में युगों व्यतीत हो जाते हैं तथा अनेकानेक जन्म धारणा करने पड़ते हैं । जब एक बार कोई संस्कार उदय होकर चित्त को तरंगित कर देता है तो वह संस्कार अंकुरित तथा पल्लवित होता जाता है । उसकी शाखाएँ- प्रतिशाखाएँ फूटती रहती हैं । यह तो तुम्हारा सौभाग्य था कि तुमने संस्कारजन्य अवस्था में भी साधन का त्याग नहीं किया,

जिससे केवल नौ हजार वर्ष में ही, कर्म-चक्र से निकलकर, यहाँ वापिस आने में सफल हो गए । यदि एक बार तुम्हारा साधन छूट जाता, तो पता नहीं कितना समय लगता । तब तुम इतने संस्कार संचय कर लेते कि उस संस्कार-जाल से छुटकारे के लिए युग-युगान्तर व्यतीत हो जाते । तुम्हारा संस्कार जहाँ एक ओर द्विगुणित होता रहा, वही दूसरी ओर साधन, सेवा-भावना तथा शुभ कर्मों के कारण, भस्म भी होता रहा ।

तुम्हारी आन्तरिक स्थिति तथा इस साधन-धाम के प्रति तुमको अधिक जानकारी अभी नहीं दे सकता क्योंकि अभी तक तुम मृत्युलोक में स्थित हो । तुम्हें इस लोक का दर्शन इसलिए करवाया गया क्योंकि शीघ्र ही तुम यहाँ के वासी बनने वाले हो । अब तुम्हारे मन की यह जिज्ञासा, कि नौ हजार वर्ष कैसे लग गए ? शान्त करने का प्रयत्न करता हूँ ।

साधन-धाम में साधन करते हुए जब तुम्हारे अन्तर में प्रसुप्त वासना की लहरें उठने लगीं तो तुम्हें साधन-धाम का त्याग करना पड़ा । तुम्हारा जन्म एक तपस्वी कुल में हुआ तथा वही स्त्री तुम्हें पत्नी रूप में प्राप्त हुई ।

तुम दोनों कई जन्मों तक पति-पत्नी के रूप में सुख भोगते रहे । भोग-वासना के संस्कार तुम्हारे चित्त में गहरे जमे हुए थे, जो अब उभर कर ऊपर चित्त में आ गए थे, किन्तु इसके साथ-साथ साधना में भी तुम तत्पर बने रहे । उच्च अवस्था प्राप्त की । निरन्तर साधन चलने लगा । तुम्हारी पत्नी भी बड़ी भक्तिमती थी । वह भी भक्ति-भजन में समय व्यतीत करती थी, किन्तु दोनों के परस्पर आकर्षण तथा प्रेम-वासना के संस्कार क्षीण नहीं हुए । साधन तथा संसार दोनों एक साथ चल रहे थे । आज से साढ़े चार हजार वर्ष पूर्व तुम एक तपस्वी, कर्मकाण्डी तथा विद्वान ब्राह्मण हुए । जगत की ओर से उदासीन रह कर साधना में ही तुम्हारा मन लगा था । मुख पर तो साधना का तेज चमकता था किन्तु अन्तर में एक प्रसुप्त वासना के बीज भी साथ लिए घूमते थे, जिसे दबाए रखने के लिए तप तथा विवेक का आश्रय ले रखा था । एक बार यात्रा करते समय एक अतिशय रुपवती, ब्राह्मण युवती से भेंट हो गई । वे दोनों जन्म-जन्मान्तर तक, एक दूसरे से संबद्ध, पति-पत्नी के रूप में जीवन निर्वाह कर चुके थे । दाम्पत्य जीवन से पूर्व अर्जित संस्कार पुनः जागृत हो गए । मन के लाख समझाने पर भी दोनों एक दूसरे के प्रति आकृष्ट हो गए तथा पति-पत्नी बनकर, जीवन व्यतीत करने लगे । दोनों साधन-भजन भी करते तथा दाम्पत्य का सुख भोग भी करते । इस तरह दोनों प्रकार के संस्कार संचय होते गए । अनेक जन्मों तक दोनों पति-पत्नी बनते रहे, साधन करते रहे, इस प्रकार ४५०० वर्ष व्यतीत हो गए । इस जन्म में फिर वही युवती तुम्हारी पत्नी बनी, किन्तु इस बार तुम्हारे गहरे गड़े संस्कार क्षीण हो गए तथा साधन के संस्कार प्रबलता से उभर आए । वह स्त्री सदैव के लिए तुम्हें छोड़ गई । इसलिए अब वापिस उसी साधन-धाम में तुम्हें लिवा ले जाने का संदेशा लेकर मैं तुम्हारे पास आया ।

महापुरुष के इस प्रकार कहने पर मेरी पुरानी स्मृतियाँ जागृत हो गईं। श्री योगानन्दजी से दीक्षा लेने के पश्चात् मैंने ऋषिकेश में ही एक आश्रम में, एक कमरे की व्यवस्था कर ली थी। वहाँ मुझे कई प्रकार के बड़े विचित्र अनुभव हुए। उनमें उपर्युक्त घटना भी मुझे बताई गई थी तथा यह भी सूचित किया गया कि तुम्हारे वे संस्कार इस जन्म में क्षीण हो गए हैं तथा अब तुम दोनों एक दूसरे से सदैव के लिए मुक्त हो। उस समय मैं अपनी साधना डायरी लिखा करता था। उसमें इस घटना को भी लिपिबद्ध किया गया। वह डायरी संभवत: इस शरीर के पूर्वाश्रम के सुपुत्र के पास सुरक्षित रखी है।

उन महापुरुष की बात सुनकर मेरा चेहरा प्रसन्नता से खिल उठा। मैंने पूछा कि कब यहाँ आना है ?

महापुरुष– उतावले मत बनो। तुम्हें पहले यह शरीर त्याग करना पड़ेगा। तुमने यहाँ कई शिष्य बनाए हैं, उनमें से कइयों के भाग्य में तुम्हारी सेवा करना लिखा है, वह ग्रहण करनी पड़ेगी। यह सब हो जायगा तब तुम इस शरीर को त्याग कर यहाँ आ जाओगे। जब तुम्हारा अन्तिम समय आ जायगा तो तुम्हें लेने के लिए मैं तुम्हारे पास ही रहूँगा। हाँ, इतना अवश्य है कि अब अधिक समय नहीं है। जहाँ नौ हजार वर्ष निकल गए वहाँ एक-आध वर्ष और सही।

यही सारी बातें उसी गुफा में हुई जहाँ मेरा आसन लगा था। मन तो यही कर रहा था कि अभी जाकर आसन पर बैठ जाऊँ, किन्तु अभी यह संभव नहीं था। शरीर को त्याग कर चिन्मय स्वरूप धारण करना आवश्यक था।

महाराजश्री– मेरा इस शरीर से छुटकारा कब होगा ?

महापुरुष– इसके लिए कोई न कोई बहाना तो बनता ही है। ईश्वर यह भी देखेगा कि तुम्हारे शिष्यों को अधिक से अधिक सेवा का अवसर कैसे दिया जा सकता है !

इस बातचीत के पश्चात् उड़कर हम वापिस आ गए। महापुरुष अदृश्य हो गए, मैं अपने स्थूल शरीर में प्रविष्ट हो गया।

प्रश्न– मैं समझ रहा था कि समाधि अवस्था में हैं !

महाराजश्री– और मैं साधन धाम में विचरण कर रहा था।

प्रश्न– इन सब का अर्थ क्या हुआ ?

महाराजश्री– इसका अर्थ यह हुआ कि अब हमें चलने की तैयारी करनी चाहिए। उससे भी पूर्व कोई ऐसी समस्या खड़ी हो जाएगी जिससे आप लोगों को अधिक से अधिक सेवा का अवसर मिल सके।

किन्तु यह सारी बातें किसी से कहना नहीं, अपितु अपने जीवनकाल में भी किसी से नहीं करना। अपने साधन के अनुभवों को गुप्त रखना ही साधक के हित में है। अनुभवहीन

तथा नासमझ होते हुए भी लोग उन अनुभवों पर अनावश्यक वाद-विवाद करने लगते हैं उनकी खिल्ली उड़ाते हैं तथा कई प्रकार की शंकाएँ पैदा करने का प्रयत्न करते हैं । मेरे चले जाने के पन्द्रह-बीस वर्ष बाद तक भी, यह बातें गुप्त ही रहनी चाहिए । मैं जानता हूँ कि इन बातों को हृदय में दबा कर रख पाना तुम्हारे लिए काफी कठिन है, किन्तु फिर भी मुझे विश्वास है कि तुम यह कर सकोगे ।

उसके पश्चात् हम आश्रम में लौट आए थे । महाराजश्री साधकों के साथ बातचीत में लग गए किन्तु मैं अनमना-सा होकर, एक कोने में जाकर बैठ गया । महाराजश्री ने यह कैसा समाचार सुना दिया ! मेरा मन बार-बार रोने को कर रहा था । क्या वास्तव में ही महाराज हमें छोड़कर चले जाएँगे ?

मेरे मन में विचारों का ज्वार-भाटा उठ रहा था । अदृश्य महापुरुष वाला विषय फिर से उभर आया । ये सारी बातें मुझे कुछ अजीब रहस्यमय तथा उलझन भरी प्रतीत हो रही थीं । एक ओर महाराजश्री का संबंध आगाशा से था, जिस पर गुरु रूप में कोमन कोबाँ का प्रभाव था । यह प्रभाव संभवत: एटलांटीज से भी पहले से चला आ रहा था । महाराजश्री भी सात हजार वर्ष पूर्व आस्टा (मिश्र देश) में उसके साथियों में से एक थे । दूसरी ओर एक स्त्री के साथ, जन्म-जन्मान्तर तक उनका दाम्पत्य संबंध रहा था, जिसकी समाप्ति इस जन्म में आकर हुई थी । तीसरी ओर उस महापुरुष के कथनानुसार वह साधन-धाम के वासी थे तथा अभी तक भी उनका आसन तथा कमण्डलु, वहाँ रखे उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे । उन महापुरुष ने यह प्रत्यक्ष अनुभव भी करा दिया था । फिर महाराजश्री के, उनके इस जन्म के गुरुजन भी थे, उनका इन घटनाओं के साथ क्या संबंध था ? इन सारी बातों में सामंजस्य स्थापित कर पाना मेरे लिए कठिन हो रहा था ।

इस विषय पर जितना अधिक विचार करता था, अधिक उलझता जाता था । सारे विषय के, जिस भी एक पक्ष पर सोचता था, वही ठीक दिखाई देता था । न आगाशा का प्रकरण छोड़ते बनता था, न ही अदृश्य महापुरुष के द्वारा दिखाया गया साधन धाम तथा न ही स्त्री वाला प्रसंग, किन्तु इसमें तारतम्य, मेरी समझ में नहीं आ रहा था ।

यह बात स्पष्ट ही थी कि महाराजश्री जन्म-जन्मान्तर से कितने उतार-चढ़ाव देखते आ रहे थे । हजारों वर्षों का उनका यह आत्म-संघर्ष मन में उत्साह का संचार कर देता था । आज लोग उनकी उच्च्व आध्यात्मिक अवस्था की बात करते हैं, किन्तु महाराजश्री ने इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए कितने युगों से, कितना कठिन परिश्रम किया था ! यह बात किसी के ध्यान में नहीं आती । साधन-धाम की सूक्ष्म अवस्था में पहुँचकर भी, पिछले नौ हजार वर्षों से बार-बार जन्म ग्रहण करते तथा भौतिक जगत की दुखात्मक परिस्थितियों तथा प्रभाव का सामना करते चले आ रहे थे । संभव है भगवान इस प्रकार उनको, उनकी मानसिक अवस्था को परिपक्वता प्रदान कर रहे हों । जगत क्या जाने आध्यात्मिकता की

सूक्ष्मताओं को, इसके रहस्यों को, तथा आन्तरिक यात्रा की कठिनाइयों और समस्याओं को .! फिर भी महाराजश्री इस यात्रा की कितनी लम्बी दूरी पार कर चुके हैं ? उन्होंने कितनी आन्तरिक निर्मलता प्राप्त कर ली हुई है ? सूक्ष्मता का कैसा स्तर प्रकाशित हो चुका है ?

अब मेरा विचार-प्रवाह अपनी ओर घूम गया था । मुझे आध्यात्मिकता के उच्च शिखर पर पहुँचना है, जबकि मैं चढ़ाई आरंभ भी नहीं कर पाया था । लोग मुझे साधु, गुरु तथा एक ज्ञानी के रूप में जानने लगे थे, किन्तु यह मेरा बहुरुपियापन एवं छलावा ही था । मैं न साधु था, न ही गुरु, केवल उनके मुखौटे लगाए घूमता था । उन मुखौटों ने मेरे अन्दर कितना अभिमान भर दिया था ? यथार्थ मार्ग से कितना भटका दिया था ? मैं विशेषता के अभिमान की शराब पीकर, नशे में कैसा धुत् हो रहा था ? चढ़ाई का अपना लक्ष्य सामने से ओझल कर बैठा था, भौतिकता की कीचड़ में धँसता जा रहा था । सबसे बड़ी विडम्बना यह थी, कि सब कुछ महाराजश्री के चरणों के सानिध्य में हो रहा था ।

अब संसार का दृश्य मेरी आँखों के सामने घूमने लग गया जिसमें प्रत्येक जीव किसी न किसी प्रकार का मुखौटा लगाए घूम रहा है । कुछ आसन पर जमे पूजा करवा रहे हैं तो कुछ नत मस्तक हो रहे हैं । कुछ व्यास पीठ पर विराजित होकर दिखावटी ज्ञान की अपनी बातों से जनता पर प्रभाव डालने का प्रयत्न कर रहे हैं, तो कोई धनवान, कलाकार, वैज्ञानिक अथवा अत्यन्त शक्तिशाली होने के मिथ्या अभिमान में डूबे जा रहे हैं । कोई जगत की वासनाओं में उलझे भटक रहे हैं । अभिमान के कितने रूप हैं, कितने रंग हैं, कितने प्रकार के मुखौटे हैं ! मनुष्य कभी कोई मुखौटा पहन लेता है तो कभी कोई, किन्तु सब लोग अपना प्राप्तव्य अपने पास होते हुए भी, भटकाव के भ्रम में, रास्ता भटक रहे हैं । आज के दुराचारी,. कितने जन्मों में, कब-कब, गुरु, विद्वान या तपस्वी होने का मुखौटा पहन चुके हैं । आज के विद्वान तथा तपस्वी कब-कब दुराचरण की सीमा लाँघ चुके हैं । सभी अपने प्रारब्ध तथा माया के तीनों गुणों की थाप पर नाच रहे हैं । आवरण बदलते रहते हैं, नये-नये मुखौटे लगते रहते हैं, इन्द्रियों की पहुँच की सीमा घटती-बढ़ती रहती हैं, किन्तु जीव वही रहता है, उसका भटकाव कभी समाप्त नहीं होता ।

मेरा चिन्तन फिर से महाराजश्री की तरफ मुड़ गया था । महाराजश्री तथा अपनी चित्त स्थिति का अन्तर भी साथ ही उभर आया । महाराजश्री को अदृश्य महापुरुष कैसे दिखाई दे जाते हैं, मुझे क्यों नहीं ? संभवतः महाराजश्री की पहुँच में अतीव सूक्ष्मता है, जबकि मेरी पहुँच में नितान्त जड़ता, इसी लिए मुझे जड़ जगत ही दिखाई दे पाता है । महाराजश्री को जड़ जगत कैसा दिखाई देता होगा ? संभवतः एक नाटक की तरह, जिसमें कोई सार नहीं, जो अगले ही क्षण रूप बदल लेने वाला है । जगत में प्रतिक्षण घटित होते प्रलय को जीव देख नहीं पाता । जिसके सामने यह नित्य प्रलय प्रकट हो जाता है, वह जगत से ऊपर उठ जाता है । यही आध्यात्मिकता का साधन पथ है । महाराजश्री कितनी ऊँचाइयाँ

लाँघ चुके हैं ! मैं नीचे खड़ा अभी तक पाँवों में चुभे काँटे निकालने में ही लगा हूँ । मुझे महाराजश्री का बाहरी शरीर ही केवल दिखाई देता है, उनकी आन्तरिक स्थिति मेरी दृष्टि से ओझल ही बनी रहती है ।

मैंने अपने मन की उलझन महाराजश्री के सामने रखने का निश्चय किया । उचित अवसर पाकर तथा महाराजश्री को अकेला देखकर, मैंने निवेदन किया, "एक बात मुझे समझ नहीं आ रही । एटलांटीज, कोमन कोबाँ तथा आगाशा एक धारा है, उस स्त्री से आपका संबंध दूसरी धारा है, साधन-धाम में आपका आसन तथा कमण्डलु तीसरी धारा है तथा आपके वर्तमान जन्म में गुरुओं की चौथी धारा है । इन्हीं धाराओं में मैं सामंजस्य नहीं बिठा पा रहा हूँ । अपनी-अपनी जगह सभी धाराएँ ठीक हैं, किन्तु सबका मिलान करने में कठिनाई है ।"

महाराजश्री– वास्तविकता तो कोमन कोबाँ या उस अदृश्य सिद्ध महापुरुष को ही ज्ञात होगी । उनका अवश्य ही मेरे अन्तर्मन से भी संपर्क होगा । यदि अभी तक उन्होंने सारे रहस्य मेरे सामने प्रकट नहीं किए, तो अवश्य ही इसमें मेरी कोई भलाई होगी । संभव है कि भविष्य में वे मुझे हर एक बात का अनुभव करा दें । वैसे सामान्यतः देखने पर, मुझे इन्हीं धाराओं में सामंजस्य बिठाने में कोई कठिनाई नहीं होती । तुम इस बात की ओर संभवतः ध्यान नहीं दे रहे हो कि आस्टा तथा एटलांटीज में एक लाख पचहत्तर हजार वर्ष का अन्तर है । मुझे पता नहीं कि एटलांटीज तथा कोमन कोबाँ से मेरा कोई संबंध है या नहीं, यदि है भी तो यह सभी धाराएँ, उस काल में घट सकती हैं । आस्टा के पश्चात् की घटनाएँ, आस्टा के पश्चात् अस्तित्व में आ सकती है । बाकी रही बात इस जन्म के गुरुओं के साथ, इन धाराओं के संबंध की, इस विषय में मुझे कुछ पता नहीं है । वैसे हमारे गुरु समर्थ थे । इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए उन्होंने भी जन्म-जन्मान्तर तक लम्बी आन्तरिक यात्राएँ की होंगी, कई वादियों तथा शिखरों को पार किया होगा, कई उतार-चढ़ाव देखे होंगे । उनके तार भी अवश्य कहीं न कहीं, इन धाराओं से जुड़े होंगे । इस बारे में, मेरी उनसे बात नहीं हुई ।

इस पर मुझे ऐसा आभास हुआ कि महाराजश्री, पूरी बात मुझ पर व्यक्त नहीं करना चाहते । जिस पर मैंने उन्हें और अधिक कुरेदना उचित नहीं समझा । मैं उठ कर बाहर चला गया । सामने ओटले पर गंगा जी की ओर मुँह कर बैठ गया । मैं कुछ अजीब असमंजस में था, भयभीत तथा व्यथित था । महाराजश्री हम लोगों को छोड़कर जाने की बात कर रहे थे, किन्तु स्वयं वह, अत्यन्त प्रसन्न थे । उन्हें नौ हजार वर्षों के पश्चात् साधन-धाम में जाने का अवसर प्राप्त होने वाला था । देखा जाए तो इस अवसर पर प्रसन्न हमें भी होना चाहिए था किन्तु हम लोग जीव थे तथा जीव सदैव स्वार्थी होता है । महाराजश्री के साधन-धाम प्रस्थान की ओर मेरा ध्यान ही नहीं जा रहा था, उनके यहाँ से जाने की बात सोच कर ही दुखी हो रहा था ।

अब महाराजश्री ने बातचीत करना बहुत कम कर दिया था । अधिकांश समय अपने आसन पर अथवा बाहर वराण्डे में कुर्सी पर बैठे, ध्यानस्थ अवस्था में ही रहने लगे थे । घूमने जाते तो भी प्राय: मौन ही रहते थे, जैसे किसी आने वाली सुनहरी घटना की प्रतीक्षा में नदी किनारे खड़े हों । जगत को सदैव उन्होंने दर्पण में प्रतिबिम्ब की भाँति, अपने से भिन्न देखा था । जगत् को कोई माया कहता है तो कोई भगवान की लीला, किन्तु महाराजश्री ने माया तथा लीला में विचित्र प्रकार का सामंजस्य कर लिया हुआ था । वे इसे जीव के प्रारब्ध फल की प्रकट-स्थली मानते थे । जिसके माध्यम से या तो प्रारब्ध निर्माण किया जाता है, या प्रारब्ध क्षय । महाराजश्री का प्रारब्ध बहुत कुछ क्षीण हो चुका था । प्रारब्ध निर्माण का कार्य उन्होंने बंद कर दिया हुआ था । जगत से कुछ लेना या देना, दोनों प्राय: समाप्त हो चुके थे ।

ऐसा लगता है कि जब महाराजश्री का अपना भौतिक प्रारब्ध समाप्त हो गया, तो वह किसी अन्य व्यक्ति का प्रारब्ध स्वीकार कर, उसे भोगने का अभिनय करने की बात सोच रहे थे । जिससे शिष्यों को सेवा का कुछ अवसर भी प्राप्त हो सके । इसके लिए कुछ नाटक करना आवश्यक था । वह किसी उपयुक्त कारण तथा अवसर की तलाश में थे ।

भोजन के पश्चात् थोड़ा विश्राम लेकर, महाराजश्री आसन पर विराजमान हो चुके थे । मैं एक कोने में बैठा, कुछ लिखने में व्यस्त था । बीच-बीच में महाराजश्री की ओर भी देखता जा रहा था । उस समय मेरे चित्त की स्थिति बड़ी विचित्र थी । अपने सामने देख रहा था कि महाराजश्री जाने की तैयारी कर रहे हैं, किन्तु किसी से बात नहीं कर सकता था । उन्होंने मेरे ऊपर ऐसी पाबंदी लगा दी थी जिसके कारण सारे रहस्य को हृदय में छुपाए रखने पर विवश था । बात बार-बार मुँह पर आने को करती थी, किन्तु मैं बलात् अन्दर निगल जाता था ।

महाराजश्री के नेत्र खुले थे, किन्तु ऐसा लगता था कि किसी पदार्थ या दृश्य को नहीं देख रहे थे । बर्हिदृष्टि अन्तर लक्ष्य वाली स्थिति निर्मित थी । उनका लक्ष्य अन्तर में कहीं स्थिर था या किसी अदृश्य महापुरुष की बात सुन रहे थे या किसी अन्य लोक में विचरण कर रहे थे, यह समझ-जान पाना कठिन था । काफी देर तक उनकी स्थिति ऐसी बनी रही ।

उन्होंने पानी माँगा तो मैं उठकर पीछे के वराण्डे में लेने गया । पानी लेकर वापिस आया तब तक उन्होंने अपनी आँखें मूँद ली हुई थीं । मैंने आवाज लगाई तो कोई उत्तर नहीं मिला । पानी का गिलास मेज पर रख दिया । महाराजश्री समाधिस्थ हो चुके थे । मैं फिर से अपनी जगह पर जा बैठा । बाहर सामने के वराण्डे में दो आश्रमवासी उच्च स्वर में बात करते आ गए । मैंने बाहर निकल कर उन्हें मौन रहने के लिए कहा ।

मैं बैठा सोच रहा था, 'यह स्थिति प्राप्त करना कितना दुर्लभ है ! इसके पीछे लाखों वर्षों तक, जन्म-जन्मान्तर की साधना है । लोग झट शिकायत करने लगते हैं कि मन एकाग्र नहीं होता, वासना निवृत्त नहीं होती या मन का संशय नहीं जाता, किन्तु इस अवस्था को प्राप्ति

करने के लिए निरन्तर धीरज की आवश्यकता है । सतत् साधना, संसार से उदासीनता, हृदय का समर्पण, प्रारब्ध का क्षय, वासनाओं का विनाश, तब कहीं जाकर ऐसी अवस्था प्राप्त होती है । लोग कितनी जल्दी अभिमान खड़ा कर लेते हैं, कितनी जल्दी उत्तेजित हो जाते हैं, गंभीरता नाम को भी नहीं । अपनी ओर ध्यान गया तो मेरी भी तो यही स्थिति है । जगत किसी के बारे में क्या विचार करता है, यह महत्वपूर्ण नहीं, अपितु आपकी वास्तविक चित्त स्थिति क्या है ? उससे किसी के व्यक्तित्व का निर्माण होता है, किन्तु मैं तो प्रत्येक दृष्टि से अभी कहीं भी नहीं था । लक्ष्य निर्धारित है, प्रेरणा समक्ष है, शक्ति जागृत है, फिर भी वहीं का वहीं खड़ा हूँ । एक कदम भी तो आगे नहीं बढ़ पाया । मेरे जीवन का एक-एक क्षण व्यर्थ जा रहा है, काल-चक्र घूम रहा है, दिन-रात, सर्दी-गरमी आते हैं, निकल जाते हैं, किन्तु मेरी यात्रा आरंभ नहीं हुई ।'

कोई घण्टे भर के पश्चात् महाराजश्री ने आँखें खोलीं । मैंने पानी दिया तो उन्होंने पी लिया । मैंने एक पत्र आगे करते हुए निवेदन किया कि आज देवास से यह पत्र आया है, तो मेरी बात को काटते हुए बोल पड़े, "काहे का देवास और काहे का ऋषिकेश ! सब सिनेमा के परदे पर उभरे चित्रों-दृश्यों के समान हैं । पात्र बदलते रहते हैं, दृश्य बदलते रहते हैं, नाटक चलता रहता है । हम भी स्वाँग बनाकर आए, प्रारब्धानुसार अपना अभिनय किया, अब जा रहे हैं ।"

प्रश्न– तो क्या कुछ समय के पश्चात् देवास तथा ऋषिकेश के दृश्य विलीन हो जाएँगे ?

महाराजश्री– इतिहास में तुम जिन नगरों का वर्णन पढ़ते हो, वह जगत में आज क्या कहीं दिखाई देते हैं ? फिर देवास तथा ऋषिकेश भी भगवान के यहाँ से स्थायित्व का कोई पट्टा लिखवा कर तो लाए नहीं । जिस जगत में यह स्थित हैं, वह जगत ही एक दिन विलीन हो जाने वाला है ।

प्रश्न– जब तक इन दोनों नगरों का अस्तित्व है तब तक हमारे आश्रम बने रहें तो अच्छा है ।

महाराजश्री– तुम्हारी यह भावना इसलिए है क्योंकि तुमने इन्हें हमारे आश्रम कहा । यह ममत्व ही तो बंधन का कारण है । जगत में किसी का कुछ नहीं, केवल मेरेपन का भाव ही सर्वव्याप्त है । यही भाव जीवों को नचाए फिरता है ।

प्रश्न– तो क्या इन आश्रमों से हमारा कोई संबंध नहीं ?

महाराजश्री– केवल प्रारब्ध का संबंध है । प्रारब्ध के यह संस्कार समाप्त होते ही संबंध समाप्त हो जायगा ।

प्रश्न– जब तक यह भावनात्मक संबंध है, तब तक क्या कर्त्तव्य है ?

महाराजश्री– यह कर्त्तव्यभाव ही प्रारब्ध क्षय में सहायक है । आसक्ति के आते ही प्रारब्ध निर्माण आरंभ हो जाता है । लाख प्रयत्न करने पर भी कोई किसी आश्रम या घर को सदैव के लिए स्थिर नहीं रख पाता । जो बना है वह एक दिन बिगड़ेगा ही । कर्त्तव्य समझ कर अपने कर्त्तव्य को निभाओ, आसक्त मत बनो ।

मैं महाराजश्री की ओर देखता रह गया । कैसी स्थिति है ! कैसे अनुभव हैं ! कैसे उत्कृष्ट विचार हैं ! महाराजश्री ने मुझे कल्याण-पथ दिखला दिया था । उस पर आगे बढ़ना मेरा काम था, किन्तु मेरे पाँव जैसे सुन्न हो रहे थे । चलने में अशक्त एवं असमर्थ थे । मन में धैर्य एवं उत्साह का अभाव था । मनोविकार अवरोध बने रास्ता रोके खड़े थे । मैं असहाय बना मोड़ पर मार्ग टटोल रहा था ।

महाराजश्री– निरुत्साहित मत बनो । उत्साहहीनता अध्यात्म भाव का सत्यानाश कर देती है । यदि तुम अपने आपको शक्तिहीन मानते हो, तो यही तुम्हारी सबसे बड़ी शक्ति है, क्योंकि तब सर्वशक्तिमान गुरुशक्ति सब उत्तरदायित्व सँभाल लेती है । तुम्हारा काम उसके प्रति समर्पित होना है । दृढ़ विश्वास के साथ, अटूट श्रद्धा रखते हुए ।

प्रश्न– अभी आप समाधि में थे, या कहीं गए थे ?

महाराजश्री– गया तो कहीं नहीं था, गहन विचार-मग्न था । जीवन में किन-किन मार्गों, गलियों, मोड़ों तथा ठहरावों से होता हुआ यहाँ तक पहुँचा हूँ ! कैसी-कैसी विपरीतताओं से जूझना पड़ा है ! कहाँ-कहाँ से सहायता प्राप्त करता रहा हूँ, किन्तु भगवान ने सदैव रक्षा की है, भटकने से बचाया है । सही मार्ग दिखलाया है । अब यह सारा खेल समेट कर जा रहा हूँ । फिर मन भविष्य की ओर घूम गया । मानसिक रूप से साधन-धाम पहुँच गया । वहाँ के आनन्द में खो गया ।

जगत-वासना की कीचड़ में सना हुआ मेरा मन चीत्कार कर उठा । कब तक गरम तेल की कढ़ाई में अपने आपको जलाता रहूँगा । यह खौलता तेल कभी भी ठण्डा होने वाला नहीं है । इस जलती कढ़ाई में से निकल जाना ही एक उपाय है । संत भी इस कढ़ाई को ठण्डा नहीं कर पाए । अपने आपको ही इससे अलग हटा लिया । साधना से हो या गुरु कृपा से, जगत से छुटकारा पा लेने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग नहीं । मैंने कहा, "गुरुदेव ! आप अब जाने की बात कर रहे हैं, किन्तु मैं कब तक जगत-वासना रूपी गरम तेल की कढ़ाई में अपने आपको जलाता रहूँगा ?"

महाराजश्री– समर्पण का सूत्र तुम्हारे हाथ में दे दिया है । उसे पकड़े रहोगे तो खौलते तेल में जलते हुए भी आनन्द से रहोगे । जिसमें अभिमान होता है वही जलता है तथा वह जलने से डरता भी है । समर्पण भावयुक्त साधक का लक्ष्य सेवा पर ही लगा रहता है तथा उसका प्रारब्ध खौलते तेल में जलता रहता है । खौलते तेल में जलना भी एक कल्पना है ।

संस्कार तथा स्मृतियाँ भी कल्पना के अन्तर्गत ही हैं । एक कल्पना संचय करती है, दूसरी विलीन कर देती है । दोनों कल्पनाएँ शक्ति की ही क्रियाएँ हैं । शक्ति को ही साधक समर्पित होता है ।

(४०) अस्वस्थता

यह बात पहले कही जा चुकी है कि उत्तराधिकारी के रूप में मेरी नियुक्ति की घोषणा के साथ ही, महाराजश्री ने दीक्षा-कार्य भी बंद कर दिया था । यह कार्य मेरे सुपुर्द कर दिया गया था ।

बाहर से कुछ लोग दीक्षा की प्रार्थना के साथ आए हुए थे । पहले भी वे महाराजश्री के कई बार दर्शन कर चुके थे । अब की बार, महाराजश्री ने दीक्षा देने के लिए मुझे नहीं कह कर, स्वयं ही देने का निश्चय किया । भगवान जाने उन्होंने क्या सोचा ? किन्तु कुछ तो सोचा ही होगा । मैं तो उन्हें दीक्षा देने से मना कर ही नहीं सकता था, कैसे करता ? उन्हें स्वयं दीक्षा देने के लिए किसी ने कोई आग्रह भी नहीं किया था । महाराजश्री की स्वयं दीक्षा देने की तैयारी देखकर सभी लोग चकित थे, किन्तु ऐसा लगता था कि वह अपनी योजनानुसार चल रहे थे, या ऐसा करने का उन्हें कहीं से संकेत प्राप्त हुआ था ।

दीक्षा का मूहुर्त आ गया, तथा दीक्षा भी सम्पन्न हो गई । दीक्षा के पश्चात् नियमानुसार वे लोग तीन दिन आश्रम में ठहरे । प्रातःकाल के साधन के बाद, वे विदा होकर प्रस्थान कर गए । महाराजश्री भी नित्य क्रमानुसार प्रातः भ्रमण के लिए गए, फिर गंगा स्नान किया । आज उन्होंने कुछ ज्यादा ही डुबकियाँ लगाईं, जैसे सोच रहे हों कि फिर यह अवसर नहीं मिलेगा । जितनी लगानी हों, आज ही लगा लो । यह बात सन् १९६८ के फरवरी मास के दूसरे सप्ताह की है । भोजन के उपरान्त महाराजश्री थोड़ा आराम करने लगे थे । दोपहर का समय था ।

मैं किसी काम से ऋषिकेश चला गया था, कि आश्रम से टेलीफोन आया, कि महाराजश्री का स्वास्थ्य एकदम बिगड़ गया है, जल्दी वापिस आ जाओ । मैंने हड़बड़ी में एक टैक्सी पकड़ी तथा आश्रम की ओर भागा ।

टैक्सी में मेरा दिल धक्-धक् कर रहा था, 'क्या वह समय आ गया है, जिसकी ओर महाराजश्री, कई दिनों से संकेत कर रहे थे ?' पाँच मिनट में ही मन ने अनेक शुभाशुभ कल्पनाएँ कर डालीं । 'क्या सचमुच ही हमें छोड़कर महाराजश्री जा रहे हैं, क्या शक्तिपात् विद्या का चमकता सितारा डूबने वाला है ? क्या महाराजश्री की मधुर वाणी सदैव-सदैव के लिए शान्त हो जाने वाली है ?' मैंने जल्दी से टैक्सी का किराया दिया और भागता हुआ आश्रम की चढ़ाई चढ़ गया । देखा तो महाराजश्री अचेत पड़े थे । आश्रम में सभी ओर स्तब्धता, चिन्ता तथा नीरसता का वातावरण था । महाराजश्री ने मेरे मुँह पर ताला लगा दिया

था । उनके जाने की बात मैं किसी से कर भी नहीं सकता था । अन्दर ही अन्दर दम घुट रहा था ।

अभी, आज प्रात:काल ही तो महाराजश्री के साथ जब मैं लक्ष्मण झूले तक गया था, तो महाराजश्री कह रहे थे, "संसार सरकता रहता है, तथा इसके साथ पदार्थ तथा जीव भी सरकते रहते हैं । किसी को पता भी नहीं लगता कि वह सरक रहा है । न कोई आवाज, न रोक-टोक । ऐसा लगता है मानो एक ही दृश्य निरन्तर चल रहा है । कोई सूक्ष्म-दृष्टि-युक्त मनुष्य ही इस सरकन को पकड़ पाता है । सामान्यत: सब कोई इसी भ्रान्ति में पड़ा है कि जगत स्थिर है ।

"कोई काल-चक्र नहीं है किन्तु चक्र फिर भी घूम रहा है । इस काल्पनिक काल ने प्रत्येक जीव को अपने जबड़े में ले रखा है । प्रत्येक जीव काल से भयभीत है । प्रत्येक जीव, काल की पकड़ से बच निकलने के लिए योजनाएँ बनाता है, किन्तु काल का ताण्डव चारों दिशाओं में प्रतिक्षण व्याप रहा है । संसार के सरकने में काल उसका सहायक है ।

"और दिशाएँ ! कहाँ हैं दिशाएँ ? पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, सब मन की कल्पनाएँ हैं । जैसे काल की कल्पना जीव को घुमाती है, वैसे ही दिशाओं की भ्रान्ति भी जीव को भरमाती है । अब पूर्व में सूर्य चढ़ गया, अब पश्चिम में सूर्य अस्त हो गया । सूर्य न चढ़ता है न ही अस्त होता है । वह जैसा है वैसा ही रहता है । जीव का अपना मुँह घूम जाता है, किन्तु कहता यह है कि सूर्य चढ़ गया, सूर्य डूब गया । यदि पृथ्वी से हजार दो हजार मील ऊपर जाकर देखो तो न दिशाएँ ही रहती हैं, न ही सूर्य का चढ़ना-डूबना ।

"जब जीव को कुछ समझ नहीं आई, तो उसने जन्म-मृत्यु को काल से सम्बद्ध कर दिया तथा काल को मृत्यु का कारण बना दिया, जबकि काल तथा मृत्यु दोनों मनुष्य की कल्पनाएँ हैं, किन्तु मृत्यु से भयभीत जीव, एक ही जीवन में कई बार मरता है । निद्रा भी मृत्यु का ही एक प्रतिरूप है । सोया हुआ जीव कालातीत, दिशातीत अवस्था में होता है, किन्तु जागने पर फिर काल के अधीन हो जाता है, दिशाओं की भ्रान्ति में आ जाता है । कभी काल तथा दिशाओं की अधीनता, तो कभी इनसे उदासीनता । फिर काल तथा दिशाओं का अस्तित्व कहाँ रहा ? किन्तु फिर भी जीव इनके भ्रम में पड़ा है ।

"भगवान का जगत पर सबसे बड़ा उपकार मृत्यु है, किन्तु उसी मृत्यु से जीव सबसे अधिक भयभीत है । एक ओर जीव ईश्वर की कृपा माँगता है, तो दूसरी ओर अपने आपको उसके उपकार से बचाने का यत्न करता है, कि कहीं उसे यह उपकार स्पर्श न कर जाय । वृद्धावस्था के गले-सड़े, जर्जर शरीर से मृत्यु ही छुटकारा दिला कर, नवदेह प्रदान करती है । देखा जाए तो मृत्यु संसार की गंदगी का शुद्धिकरण करती है ।"

इस प्रकार बातें करते-करते हम आश्रम पर लौट आए थे । उस समय यह कल्पना भी नहीं थी कि महाराजश्री आज ही दोपहर को इस प्रकार अस्वस्थ हो जाएँगे, किन्तु इस समय वह अचेत अवस्था में हमारे समक्ष पड़े थे ।

थोड़ी ही देर में महाराजश्री ने आँखें खोल दीं । तब तक डाक्टर भी आ गया था । उसने पक्षाघात् बताया । सबके चेहरे लटक गए । सब तरफ जैसे मुर्दनी छा गई । कुछ देर पश्चात् महाराजश्री ने कहा–

"देखो ! अभी भी हमारी बुद्धि तथा ज़बान ठीक है । आध्यात्मिकता अपनी जगह पर है, किन्तु प्रारब्ध की मार से कोई भी नहीं बच पाया । शंकराचार्य, रमण महर्षि, रामकृष्ण परमहंस जैसे महापुरुषों को यदि प्रारब्ध ने क्षमा नहीं किया तो हम भला कौन-सी गिनती में हैं ! भगवान की ओर से जो कुछ भी प्राप्त है, उसे ईश्वर का प्रसाद मान कर प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लेना चाहिए । भगवान बड़े दयालु हैं, वह जो कुछ भी करते हैं, जीव के हित में करते हैं । यह दूसरी बात है कि मनुष्य उसको समझ न पाए, क्योंकि जीव की बुद्धि अत्यल्प होती है । वह अपने अन्दर झाँक कर देख नहीं सकता, अपना भला-बुरा सोच नहीं सकता, इसलिए चिल्लाता है ।

"हमारे साथ जो कुछ हुआ है उसे आपको भी संतोषपूर्वक स्वीकार कर लेना चाहिए । संभवत: आप लोगों को सेवा का अवसर प्रदान करने के लिए ही, भगवान ने ऐसी परिस्थिति का निर्माण किया है । यह आप लोगों के लिए भी परीक्षा की घड़ी है । ऐसे समय ही सेवक की पहचान होती है । जो कच्चे होते हैं वे किसी न किसी बहाने भाग खड़े होते हैं । जो पक्के होते हैं वे हर प्रकार की विपरीत परिस्थितियों में भी जमे रहते हैं । हमारे जाने का समय अब अधिक दूर नहीं । जिससे जितनी सेवा लेना होगी, उतनी ले ली जाएगी । हम यह भी जानते हैं कि जो सेवा नहीं करते, वे बैठे बातें बनाया करते हैं, क्योंकि उनके पास बातें बनाने के अतिरिक्त कुछ काम नहीं होता । जो सेवा करते हैं, वे बातें भी सुनते हैं, फिर भी सेवा करते रहते हैं । जिनका काम बातें बनाना है, वह बातें बनाते-बनाते ही मर जाते हैं, जबकि सेवक अपना जीवन सार्थक कर जाता है । मेरी चिन्ता नहीं करें । रोग-अरोग सब शरीर तक सीमित है । मन उससे अलग है । उसे प्रत्येक परिस्थिति में प्रसन्न रखा जा सकता है ।"

महाराजश्री को इस प्रकार उपदेश करते तथा बोलते हुए देखकर, सब लोगों के मुरझाए चेहरों पर, प्रसन्नता का पतला सा उभार परिलक्षित हो उठा । महाराजश्री से अधिक बात नहीं करने तथा आराम करने के लिए निवेदन किया गया । सब लोग दूर प्रांगण में जाकर बैठ गए । इस प्रकार की विकट परिस्थिति पहले आश्रम के इतिहास में कभी नहीं आई थी । सबके चेहरे चिन्तित दिखाई दे रहे थे तथा सोच में डूबे हुए थे । स्थानीय डाक्टर तो थे ही, दिल्ली से कुछ विशेषज्ञ डाक्टरों को भी बुलाया गया ।

महाराजश्री– आप लोग क्यों व्यर्थ परेशान हो रहे हैं । ऐसा समझो कि भगवान ने नोटिस भेज दिया है कि तैयार रहो, आपको कभी भी ले जाया जा सकता है । अब मुझे जाने की तैयारी करने दो, जाने के लिए हर समय तैयार रहने दो । ये सारे डाक्टर तथा उपचार, जाने की तैयारी में बाधक हैं । जब खेल समाप्ति पर है तो लकीर पीटने का क्यों प्रयत्न कर रहे हो ?

महाराजश्री से निवेदन किया गया कि इस बीमारी का उपचार हो सकता है । यह आवश्यक नहीं है कि भगवान की ओर से भेजा गया नोटिस मान ही लिया जाए । आपके ठीक हो जाने के शत प्रतिशत अवसर हैं । हम तो चाहते हैं कि आपका वरद् हस्त अधिक से अधिक समय तक हमारे ऊपर बना रहे ।

महाराजश्री– आपके हृदय के भावों को मैं समझ सकता हूँ किन्तु भगवान के हृदय के भाव कहीं अधिक महत्वपूर्ण हैं । क्या पता भगवान मुझसे क्या कार्य लेना चाहते हैं तथा मुझे कहाँ भेजना चाहते हैं ? उनकी अपनी योजनाएँ हैं । उनमें हस्तक्षेप करना उचित नहीं, न ही कोई हस्तक्षेप कर सकता है । आपके लिए यही मार्ग है कि उनकी इच्छा के समक्ष सिर झुका दिया जाय ।

एक सज्जन– हमारे भगवान आप हैं । आपके चरणों में सिर झुका है ।

महाराजश्री– (हँसते हुए) यदि मुझे आप अपना भगवान मानते हैं, तो आपका भगवान तो बीमार हो गया । यह किस तरह का भगवान है ?

एक सज्जन- यह तो आप की लीला है ।

महाराजश्री– क्यों व्यर्थ की बातें कर रहे हो ! किसी के कहने से ही कोई भगवान नहीं बन जाता । भगवान तो केवल भगवान ही है ।

कुछ लोगों का ऐसा मानना था कि महाराजश्री की अस्वथता का कारण दीक्षा है । दीक्षा समय जब गुरु-शक्ति शिष्य के चित्त के तादात्म्य में आने के पश्चात् लौटती है तो शिष्य के शुभाशुभ संस्कारों को भी साथ ला सकती है । यदि संस्कार अशुभ हुए तो वह गुरु पर विपरीत प्रभाव भी डाल सकते हैं । जो गुरु अंधाधुंध दीक्षा देने, अधिकारी-अनधिकारी का निर्णय न करने तथा अधिकाधिक शिष्य बनाने के फेर में पड़े रहते हैं, उनके लिए यह विषय सोचने योग्य है । शक्तिपात् दीक्षा आग से खेलने के समान है ।

किन्तु ऐसा लगता था कि महाराजश्री ने जान-बूझकर ऐसा किया था । वह शिष्य के विपरीत प्रभाव से अपने आपको बचाने में पूर्णतया समर्थ थे । यह जानकारी उन्होने मुझे भी दी थी तथा वैसा अनुभव भी करवाया था । वह चाहते तो अपने आपको इस अस्वस्थता से बचा सकते थे, पर ऐसा प्रतीत होता था जैसे उन्होंने स्वयं अस्वस्थता को निमंत्रित किया हो । इसीलिए उनके चेहरे पर अप्रसन्नता नाम को भी नहीं थी । वह जाने के लिए कोई बहाना खोज रहे थे तथा जाती बार कुछ शिष्यों को सेवा का अवसर प्रदान कर रहे थे ।

अब महाराजश्री को अधिक आराम देने के विचार से, उनके कमरे में लोगों के आने-जाने पर पाबंदी लगा दी गई थी । मैं अकेला ही प्रायः उनके पास रहा करता था । एक दिन मैंने कहा, "महाराज जी ! मन में कई बार एक प्रश्न उठता है, आपकी आज्ञा हो तो पूछूँ ?"

महाराजश्री– पूछो ।

प्रश्न– आपने दीक्षा देना बंद कर दिया हुआ था, किन्तु इस बार आपने मुझे नहीं कह कर, स्वयं दीक्षा देने का निर्णय क्यों लिया ?

महाराजश्री– (कुछ गंभीर होकर) देखो ! इनमें से एक साधक के अशुभ संस्कारों के आक्रमण का वेग इतना प्रबल था कि यदि उसे तुम सहन नहीं कर पाते, तो वहीं तुम्हारी मृत्यु हो जाती । इसीलिये मैंने दीक्षा देने को तुम्हें नहीं कहा ।

प्रश्न– तो इसका अर्थ यह हुआ कि आपको पहले से यह पता लग गया था कि उस साधक के संस्कार इतने प्रबल हैं ?

महाराजश्री– यह तो तुम भी जानते हो कि यह तथ्य तभी ज्ञात हो जाता है, जब कोई दीक्षा के लिए प्रार्थना करता है ।

प्रश्न– फिर आपने उसे दीक्षा के लिये मना क्यों नहीं कर दिया ?

महाराजश्री– एक बार मुँह से हाँ निकल गई, फिर मना करना उचित नहीं समझा, तथा तुम्हें पीछे करके मैं आगे हो गया ।

प्रश्न– किन्तु आपके समक्ष इस प्रकार की समस्या पहली बार तो नहीं आई । कई बार आपने अपने आपको इस प्रकार के आक्रमणों से बचाया है । आप यह कर पाने में पूर्ण समर्थ हैं, फिर इस बार क्यों नहीं बचाया ?

इस पर महाराजश्री पहले तो हँस दिए, फिर कहा, "संभवतः किसी ने अपना बचाव करने से रोक दिया होगा ।"

प्रश्न– तो इसका अर्थ यह हुआ कि आपने यह व्याधि, जान–बूझ कर स्वीकार की है ।

महाराजश्री– हाँ, इसका अर्थ तो यही हुआ । तुम ऐसा मान सकते हो । यह व्याधि अब मुझे साथ लेकर ही जाएगी, चाहे ये लोग क़ितना भी उपचार क्यों न कर लें, किन्तु तुम इन लोगों को उपचार करने से रोकना नहीं, क्योंकि तब तुम्हारे सामने कई समस्याएँ खड़ी हो जाएँगी ।

मैं आश्रम की छत पर जाकर अकेला बैठ गया था । अन्तर में विचारों की अटूट श्रृंखला प्रवाहित हो रही थी, 'जगत का प्रत्येक जीव मृत्यु से कैसा डरता-भागता है किन्तु महाराजश्री मृत्यु को निकट आया देखकर कितने प्रसन्न हैं । संभव है कि इसका कारण यह

हो कि सामान्य जीव को मृत्यु के पश्चात् का कुछ भी ज्ञान नहीं होता जबकि महाराजश्री के सामने साधन-धाम का आनन्ददायक भविष्य था। महाराजश्री को साधनधाम में लौट कर जाने की इतनी तीव्र जिज्ञासा थी कि उनका एक-एक पल, एक-एक युग के समान प्रतीत होता था, किन्तु इतनी तीव्र जिज्ञासा को भी धैर्य की चादर में छुपाए हुए थे।

'मृत्यु का भय समाप्त करने के लिए केवल विवेक तथा भावना से काम नहीं चलता। अपने आपको कितना भी समझाओ कि मृत्यु एक परिवर्तन मात्र है, किन्तु मन इस तर्क को स्वीकार नहीं करता। कबीर ने जब कहा कि 'जा मरने से जग डरे, मेरे मन आनन्द' तो उन्होंने केवल तर्क से ही अपने मन को नहीं समझा लिया था। उन्हें मृत्यु के उपरान्त का अवश्य ही कुछ अनुभव युक्त ज्ञान होगा। उनका मन इस बात के लिए लालायित होगा कि मैं कब मृत्यु को प्राप्त करूँ तथा कब उस आनन्द को पा जाऊँ, 'कब मरिहौं कब पाइहौं पूरण परमानन्द।' महाराजश्री की भी ऐसी स्थिति समझ में आ रही थी। उनका इस समय लक्ष्य अपनी अस्वस्थता पर नहीं था, उन्हें दिखाई दे रहा था गुफा में खाली पड़ा अपना आसन तथा नौ हजार वर्ष से भरा हुआ जल का कमण्डल। गुफा में जाकर, आसन पर बैठते ही वह अखण्ड समाधि में लीन हो जाने वाले हैं। लम्बी समाधि, हजारों वर्षों तक चलने वाली समाधि। उसके समक्ष इस क्षण भंगुर संसार की गणना ही कहाँ है।'

मेरे अन्दर एक नया भय जाग उठा। महाराजश्री ने कहा था कि मैं जाने के बाद भी तुम्हारे साथ ही रहूँगा। यदि वह साधन-धाम में जाकर अखण्ड समाधि में लीन हो गए, तो मेरे साथ कैसे रहेंगे? इस भय के उभरते ही मेरा मन विचलित हो गया।

अस्वस्थता में भी महाराजश्री यदा-कदा उपदेशामृत वाक्य कहते रहते थे। एक दिन दोपहर के समय मुझे कहने लगे—

"तुम्हारी मानसिक स्थिति का मुझे पूर्ण अनुमान है। देखा जाय तो प्रत्येक मनुष्य का जीवन काफी कठिन है, विशेषकर तब, जब कि उसका लक्ष्य अध्यात्म होता है। साधक को जगत में ही रहना है जब कि संसार को उसकी मानसिक अनुकूलता-प्रतिकूलता अथवा उसकी कठिनाइयों-समस्याओं से कुछ प्रयोजन नहीं होता। जगत अपने ही ढंग से सोचता-देखता है। अध्यात्म तथा संसार में सामंजस्य स्थापित कर पाना एक बड़ी समस्या है। जगत तो समझता नहीं, साधक को ही समझना पड़ता है।

"अब जब मैं अस्वस्थ हूँ तो मुझे इसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता, किन्तु इससे जगत का वास्तविक स्वरूप समझ में आ जाएगा। किसका कैसा मन है? सब स्पष्ट हो जाएगा। बातें बनाने में सब अत्यन्त कुशल हैं, किन्तु सेवा करने में कोई-कोई ही ठहर पाता है। तुम भी इन सबका आनन्द लेना, अपने मन पर प्रभाव मत पड़ने देना। बस, शान्त मन से तमाशा देखते रहना।"

प्रश्न– जब आपका स्वास्थ्य अच्छा नहीं है तो मन को शान्त तथा प्रसन्न कैसे रखा जा सकता है ?

महाराजश्री– स्वास्थ्य का ऊपर-नीचे होना शरीर का धर्म है । जिसने उसका प्रभाव ग्रहण कर लिया, उसका मन भी ऊपर-नीचे होता रहता है । जब मन अपने अधीन रहता है तो शरीर की अवस्था बदलने पर, उसका प्रभाव ग्रहण नहीं करता । समस्या तब पैदा होती है जब मन शरीर पर सवारी कर लेता है ।

और वास्तव में ही महाराजश्री ने जिस सहजता से, मुँह से एक बार भी पीड़ाजनक शब्द नहीं निकालते हुए बीमारी को सहन किया था, उसको देखकर सब लोग आश्चर्य चकित थे । अस्वस्थता में भी महाराजश्री जब हँसते थे तो खिलखिला पड़ते थे । उनका शिशु-तुल्य भोलापन देखते ही बनता था । अब लम्बी बातचीत करना उन्होंने छोड़ दिया था, किन्तु बातों में गंभीरता वैसी ही थी ।

अब उनका गंगा-स्नान भी छूट गया था । सेवा में लगे रहने के कारण मैं भी अब गंगा जी पर नहीं जा पाता था । एक दिन मुझसे पूछा, कि तुम गंगा स्नान करने अभी तक नहीं गए ? मैंने उत्तर दिया कि आपके अस्वस्थ हो जाने के पश्चात् मेरा गंगा जी पर जाना हुआ ही नहीं ।

महाराजश्री– क्या अब गंगा जी पर तुम्हारी श्रद्धा नहीं रही ?

उत्तर– श्रद्धा तो है पर समय नहीं मिलता ।

महाराजश्री– यह तो सब बहानेबाजी है । बहाने बनाने में मनुष्य बड़ा चतुर है । हर प्रश्न का, उसके पास उत्तर तैयार रहता है । गया तो क्यों गया ? नहीं गया तो क्यों नहीं गया ? सभी तर्कयुक्त मसाला उसके पास रहता है । तुम भी यही कर रहे हो ।

इस बात पर मैं थोड़ा झेंप गया । यह बात एकदम ठीक थी कि मेरे पास समय का कुछ अभाव था, किन्तु फिर भी गंगाजी भी एकदम सामने ही थी । स्नान कर आना कोई बड़ा कठिन कार्य नहीं था । दूसरे दिन से मैंने जाना आरंभ कर दिया । कुछ दिनों के पश्चात् मैंने अनुभव किया कि महाराजश्री के कहने पर, मैं गंगा-स्नान की मात्र औपचारिकता निभा रहा हूँ । हृदय में कोई भाव या प्रेम नहीं है, जैसे किसी लकड़ी को पानी में डुबो कर गीला कर लिया जाए । तब मैं स्तोत्रपाठ तथा जप-ध्यान के द्वारा, स्नान करते हुए भाव के विकास की ओर भी ध्यान देने लगा ।

महाराजश्री अब अधिकतर अपने बिस्तर पर ही लेटे रहते थे । कभी उन्हें बाहर प्रांगण में लाकर कुर्सी पर बिठा दिया जाता था । कभी उन्हें थोड़ा सहारा देकर, सामने ओटले पर घुमाया जाता था । महाराजश्री को देखने के लिए बाहर से आने वाले लोगों की संख्या भी बढ़ गई थी, किन्तु लोग आते थे, चले जाते थे ।

रात को महाराजश्री ने कहा, "अब वह समय समीप आता जा रहा है जब तुम्हें अकेले ही परिस्थितियों का सामना करना पड़ेगा, किन्तु तुम्हें घबराने की आवश्यकता नहीं है। अन्तर्गुरु सदैव तुम्हारे साथ रहेगा। वह अन्तर्यामी है, घट-घट की जानता है, सब सँभाल लेगा।"

यह सुनकर मैं जोर-जोर से रोने लगा। महाराजश्री इतनी बात कहकर चुप हो गए, किन्तु मेरा रोना बंद नहीं हो रहा था। मैंने कहा, "गुरुदेव ! इस बात की कल्पना ही कितनी भयानक है ! मेरी सारी प्रवृत्तियाँ आपके चरणों के आस-पास ही घूमती हैं। जब केन्द्र बिन्दु ही उठ जायगा, तो मुझे कुछ करने का सूझेगा ही कैसे ? मेरे प्रेरणा-स्रोत तो यह चरण ही हैं।"

महाराजश्री– मेरे प्रति तुम्हारा जो भाव है वह तो कहीं चला नहीं गया, यह शरीर चाहे रहे चाहे नहीं, वह भाव ही तुम्हें प्रेरणा देता रहेगा। अब जबकि तुम्हारा मन मेरी सेवा में लगा है तथा जब तक यह शरीर वर्तमान है, तब तक तुम दीक्षा कार्य स्थगित रखो। आश्रम का काम अच्छा-बुरा चल ही रहा है, उसकी चिन्ता भी छोड़ दो। भविष्य में व्यवस्था तथा दीक्षा-कार्य के विषय में विचार कर लेना।

उत्तर– वह तो मैंने पहले ही अपना मन बना लिया है कि दीक्षा-कार्य को अभी स्थगित रखना है, किन्तु आपके पश्चात् क्या मैं यह सब सँभाल पाऊँगा ?

महाराजश्री– क्यों नहीं सँभाल पाओगे ? और फिर तुम सँभालने वाले हो भी कहाँ ? आश्रम के काम अपने आप चलते रहते हैं, तुम इस बात को स्वयं अनुभव करोगे। एक अदृश्य शक्ति, पता नहीं कैसे सब काम सँभाल लेती है। तुम्हें केवल चलती गाड़ी में सवार होना है। यह मत सोचं लेना कि मैं तो साधन-धाम में जाकर समाधि में लीन हो जाऊँगा तथा तुम अकेले रह जाओगे। गुरु का वास्तविक स्वरूप गुरु-तत्त्व है, वही गुरु रूप धारण कर, शिष्य को अनुभूतियाँ कराता रहता है।

इस पर मैंने कहा, "यह तो भविष्य की बातें हैं, भगवान करे ऐसा समय आए ही नहीं। अभी तो आपकी सेवा का जो अवसर समक्ष है, उसी को देखना है।"

महाराजश्री– देखो ! इस बात को समझ लो कि आज के युग में सेवा में रुचि रखने वाले लोग बहुत कम हैं। अधिकांश तो बातें बना कर ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मान लेने वाले हैं। मुझे इतने वर्षों से लोगों को देखने का जो अवसर मिला है, उससे मैं यही समझा हूँ। बात बिगाड़ कर चल देंगे, चलते काम को रोक देंगे, फिर घूम कर देखेंगे भी नहीं।

मैंने कहा, "मुझे भी लोगों से व्यवहार करते तथा उनका व्यवहार देखते हुए, इतना समय हो गया है, कौन कितने पानी में है ? मैं भी आपकी कृपा से कुछ समझ गया हूँ। सेवा करने वाले भी मेरी दृष्टि में हैं तथा केवल बातें बनाने वाले भी। आपकी कृपा रही तो आपकी

सेवा में त्रुटि नहीं आएगी । असली उत्तराधिकार आप की सेवा ही है । फिर हम सेवा करने वाले कौन ? आप जिससे चाहते हैं, सेवा ले लेते हैं । जगत के सामने सबसे बड़ा विघ्न जगत की ओर से उपस्थित होता है । जब कोई सब ओर से मन को हटा कर सेवा में लगा होता है, तो लोग उस अवसर का लाभ उठाकर, पिछला हिसाब चुकता करते हैं ।

महाराजश्री– इसमें सेवक का कुछ नहीं बिगड़ता, ऐसे लोगों की ही हानि होती है । थोड़े समय के लिए वे भले ही प्रसन्न एवं संतुष्ट हो जाएँ किन्तु कालान्तर में वे देखेंगे कि उन्होंने अपना ही मन मलीन किया है । सेवक के तो पूर्वकृत पापों के संस्कार क्षीण हो जाते हैं । इधर सेवा, उधर पाप-क्षय । दोनों ओर लाभ ही लाभ ।

किन्तु यह बात आलोचकों के लिए विचाःरणीय है । सेवक के लिए आलोचक देवदूत के समान हैं जो ईश्वर के आदेशानुसार, साधक पर कृपा की वर्षा करते हैं । मन में निर्मलता तथा हृदय में प्रेम जगाते हैं । साधक का मन रगड़-रगड़ कर चमकाते हैं ।

प्रश्न– परन्तु किसी बात से अपयश होता हो तो ?

महाराजश्री– संसार चाहे यश-अपयश को किसी भी रूप में ले किन्तु एक सच्चे साधक के लिए अपयश वरदान है । इससे अभिमान गलित होता है । तुच्छ-नीच बनकर ही अध्यात्म लाभ लिया जा सकता है । प्रतिष्ठा अध्यात्म में विघ्न है । इसलिए सच्चा साधक अपयश से घबराता नहीं, न ही उससे बचने का प्रयत्न करता है। जो लोग अपमानित-उपेक्षित हुए हैं, उन्हीं में से महापुरुष पैदा हुए । अपयश ही साधक को सँवारता है । अपयश ही परमार्थ का द्वार खोलता है । अपयश गुरु के समान हितकारी है, साधक के लिए प्रकाश स्तंभ है । सहनशीलता, क्षमाशीलता का प्रदाता है । उसका प्रतिक़ार मत करो । उसे आमंत्रित करो ।

प्रश्न– किन्तु यदि उससे सेवा में विघ्न पड़ता हो तो ?

महाराजश्री– सेवा में विघ्न तभी पड़ता है जब अपयश से सेवक का मन प्रभावित हो जाता है । जब अपयश को सहन करना सेवा तथा साधन का अंग नहीं रह जाता । इससे उसकी सेवा पर विपरीत प्रभाव पड़ता है । सच्चा साधक, सेवा-साधन में भी लगा रहता है तथा मन पर कोई भी प्रभाव ग्रहण किए बिना, अपयश भी सहन कर लेता है । साधक की परख अपयश में ही होती है । साधक का निखार भी अपयश में ही होता है । संसारियों के लिए यह बात समझ पाना कठिन है ।

महाराजश्री ने कितनी ऊँची बात कह दी थी ! जिस अपयश से सारा जगत भयभीत है उसे उन्होंने साधक का महान धन तथा ईश्वर का अमोघ वरदान निरुपित कर, उच्च आसमान पर प्रतिष्ठित कर दिया था । सेवक के समक्ष सबसे मुख्य सेवा होती है, बाकी सब गौण । जिसने अपयश को प्रमुखता प्रदान कर दी, उसका सेवाभाव पृष्ठभूमि में चला जाता है ।

प्रश्न– जिस साधक को अपयश प्राप्त न हो, वह क्या करे ?

महाराजश्री– इतिहास इस बात का साक्षी है कि साधकों ने ऐसे कार्यों का प्रदर्शन किया जिससे उनका अपयश फैले तथा प्रतिष्ठा धूल में मिल जाय । यही साधक की मनःस्थिति है । सिद्ध पुरुष निरभिमानी तथा यश-अपयश से अतीत होता है ।

प्रश्न– किन्तु संतों तथा भक्तों का यश तो संसार में फैला तथा खूब फैला, अभी तक भी फैला है !

महाराजश्री– यह भक्तों-संतों की पूर्णतया निरभिमान अवस्था की बात है, जिसे तुम सिद्धावस्था भी कह सकते हो । तब यश-अपयश का उनके मन पर कुछ प्रभाव नहीं होता । साधनावस्था में अपयश अमृत के समान है तथा प्रतिष्ठा विष के समान ।

इस बातचीत का मेरे मन पर गहरा प्रभाव पड़ा । मैं एकदम शान्त हो गया । विश्वास तथा निरभिमानता, महाराजश्री के चरणों में श्रद्धा तथा प्रेम तरंगित हो गया । संसार का भय जाता रहा । जो जगत अभी तक बाधक दिखाई दे रहा था, अब सहायक प्रतीत होने लगा । महाराजश्री के श्रीमुख से निकला एक-एक शब्द चित्त में शक्ति तथा उत्साह का संचार कर रहा था । मैंने महाराजश्री के चरणों में सिर रख दिया । नेत्रों से अविरल धारा प्रवाहित होने लगी ।

महाराजश्री– अध्यात्म का साधन अत्यन्त सूक्ष्म एवं गंभीर है । प्रायः मनुष्य किसी न किसी रूप में साधना के नाम पर, अभिमान को पुष्ट करता रहता है । पूर्व जन्मों में वह कई बार साधक का रूप धारण कर चुका है, फिर भी अभी तक माया तथा भ्रम की परिधि से बाहर नहीं निकल पाया । थोड़ा ऊपर उठता है, फिर नीचे खिसक जाता है । यश-अपयश, गुण-अवगुण तथा सुख-दुखादि की अनुभूति, अभिमान के ही विभिन्न स्वरूप हैं । माया की इसी परिधि से बाहर निकलने के प्रयत्न का नाम साधना है ।

मैं यह अनुभव कर रहा था कि अस्वस्थता में इतनी बात करना बहुत श्रमप्रद है । आगे कोई भी प्रश्न खड़ा करना उचित नहीं समझा, मौन हो गया ।

अपने कमरे में जाकर विचार करने लगा कि महाराजश्री की सोच कितनी गहरी तथा सूक्ष्म है ! कितनी बारीकी से बात को पकड़ते हैं ! प्रस्तुतीकरण कितना सटीक है ! भाव कितने निर्मल सरस हैं ! वाणी तथा नेत्रों से गुरुत्व झलकता-छलकता है ।

इन्हीं विचारों में मैं तन्द्राभिभूत हो गया ।

(४१) दिल्ली में

तीन-चार महीने में धीरे-धीरे महाराजश्री का स्वास्थ्य सुधरने लगा था । कुछ लोगों का विचार था कि आपको दिल्ली ले जाया जाय क्योंकि वहाँ चिकित्सा सुविधाएँ अधिक उपलब्ध हैं । महाराजश्री ने भी इस सुझाव को मान्य कर लिया, अतः उन्हें ऋषिकेश से दिल्ली स्थानान्तरित कर दिया गया ।

जहाँ हम लोग जाकर ठहरे थे, वह एक बड़ा बँगला था । आगे घूमने के लिए लॉन तथा बगीचा था । चिकित्सा के लिए, दिल्ली का बड़े से बड़ा डाक्टर उपलब्ध था क्योंकि गृह-स्वामी स्वयं भी डाक्टर थे । महाराजश्री के स्वास्थ्य में थोड़ा-थोड़ा सुधार होता गया । कोई चार-पाँच महीने वहाँ रहे ।

एक दिन महाराजश्री दिन के समय कोई तीन-चार घण्टे सोए रहे । उठने के थोड़ी देर पश्चात् थोड़े स्वस्थ हुए तो मैंने कहा कि आज तो आपने खूब आराम किया । बोले, "आराम नहीं किया । कुछ देर तो सोया रहा । जब आँख खुली तो देखता हूँ कि वही ऋषिकेश वाले अदृश्य महापुरुष मेरे सामने बैठे हैं । मैंने प्रणाम किया तो कहने लगे कि मैं कब से आपके जागने की प्रतीक्षा कर रहा था । जब मैंने पूछा कि मेरे लिए क्या आदेश है ? तो बोले कि तुम्हारा समय अब समीप आता जा रहा है । जिन शिष्यों के सौभाग्य में जितनी सेवा लिखी है, वे तो कर ही रहे हैं । कुछ अन्य शिष्यों को भी तुम्हें सेवा का अवसर प्रदान करना पड़ेगा । उनके लिए एक बार तुम्हें फिर से देवास जाना पड़ेगा, बस एक बार, अन्तिम बार । जब तुम वापिस दिल्ली आओगे तो हम तुम्हें अपने साथ उस साधन-धाम को ले जाएँगे । मेरे यह पूछने पर कि कितना समय और इस जगत में रहना पड़ेगा, तो कहने लगे कि वहाँ जाने की बड़ी उतावली है ? बस अब थोड़ा ही समय शेष रह गया है । तुमने अपने कर्त्तव्य पूर्ण कर लिए हैं । कुछ शिष्यों की सेवा ही बाकी है ।

मैंने कहा, "अब मुझे यहाँ कोई काम नहीं । अपने उसी स्थान पर लौट कर, अखण्ड साधन में लीन हो जाने की ही प्रतीक्षा में हूँ ।"

महापुरुष– उतावले मत बनो । जितना समय लगना है वह तो लगेगा ही । यहाँ भी तो तुम्हारा साधन ही चलता रहता है । ऐसा नहीं कि शिष्यों की सेवा ग्रहण करने के लिए तुम्हें फिर से यहाँ आना पड़े । जो कुछ निपटना है, अभी निपट लो ।

मैंने कहा– जब आप लेने आएँगे, तब तो चलूँगा ही, किन्तु अभी एक बार फिर उस स्थान को देख आने की जिज्ञासा है ।

इस पर महापुरुष बड़े जोर से हँसे । कहने लगे, "उस स्थान पर कोई परिवर्तन नहीं, वैसे का वैसा ही है । अच्छा चलो ।"

यह कहकर उन्होंने हाथ ऊपर उठाया । मुझे कुछ मूर्छा सी अनुभव हुई । मेरा सूक्ष्म शरीर एकदम स्थूल शरीर से बाहर आ गया । अब मैं भी उनके पास ही खड़ा था । मेरे सामने मेरा स्थूल शरीर अचेत पड़ा था ।

हम दोनों ने अत्यन्त ही तीव्र गति से आकाश में तैरना आरंभ कर दिया । हरिद्वार से होते हुए, ऋषिकेश में अपने आश्रम के ऊपर से निकले । हम उसी प्रकार आगे चढ़ते चले

गए । पहाड़ों को लाँघते हुए, बर्फ की उसी सफेद चादर बिछी घाटी में जा उतरे । वास्तव में ही सब कुछ वैसा ही था । अनेक महापुरुष अपनी साधनावस्था में स्थित थे । एकदम शान्तता-स्तब्धता । हम महापुरुषों के दर्शन करते हुए एक गुफा में पहुँचे जहाँ पिछली बार एक महापुरुष समाधिस्थ थे । अब की बार वह गुफा खाली थी । आसन तथा कमण्डलु भी नहीं थे । मैंने पूछा कि यह महापुरुष कहाँ गए ?

महापुरुष– अब वह अन्य लोक में चले गए हैं ।

प्रश्न– इस तरह का यह एक ही स्थान या और भी हैं ?

महापुरुष– अनेक हैं ।

प्रश्न– क्या ऐसा नहीं कि जीव पर से माया का आवरण हटते ही, वह एकदम से ब्रह्म में विलीन हो जाय ?

महापुरुष– यह तो सिद्धान्त की शास्त्रीय बातें हैं, अन्यथा क्रम-क्रम से जीव इसी तरह मुक्त हो पाता है । माया का आवरण पतला होने के पश्चात् भी प्रारब्ध के कुछ संस्कार, चित्त की अत्यन्त गहरी खाइयों में सुरक्षित पड़े रहते हैं । इसका कोई पता नहीं कि कब, कौन-सा संस्कार उभर कर चित्त में ऊपर आएगा । कई बार संस्कार विशेष को चित्त में ऊपर आने में युग-युगान्तर लग जाते हैं । एक-एक संस्कार से निपटने में युग परिवर्तित हो जाते हैं । आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त करना, अर्थात् बूँद को समुद्र में मिलाना कोई बच्चों का खेल नहीं । साधक मोक्ष को फल की तरह एकदम से अपने मुँह में ले लेना चाहता है । वह इसे जितना सरल समझता है, वह उससे कहीं अधिक कठिन है । उसे लाखों-करोड़ों वर्षों तक, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर लोकों में भ्रमण तथा साधन करते हुए अपनी यात्रा पूरी करनी होती है । अपने आपको साधक मानने वाले साधक, प्रायः साधक होते ही नहीं । वे गुणों के अन्दर ही ऊपर नीचे होते रहते हैं । कभी सत्त्वगुण की वृद्धि की अवस्था होती है तो अभिमान इतना बढ़ा लेते हैं कि शीघ्र ही तमोगुण में लुढ़क जाते हैं ।

मैंने कहा- इस महापुरुष के आसन, कमण्डलु का क्या हुआ ?

महापुरुष– जो महापुरुष किसी कर्म के वशीभूत होकर यहाँ से जाते हैं, अथवा जिन्हें किसी कार्य विशेष से यहाँ से भेजा जाता है, उनके आसन, कमण्डलु यहीं रखे रहते हैं, जैसे तुम्हारे यहाँ पड़े हैं, किन्तु जिन्हें अन्य लोकों में भेजा जाता है, उनके आसन, कमण्डलु भी उनके साथ चले जाते हैं ।

हम लोग उस घाटी में बहुत देर तक घूमते रहे । मैंने पूछा कि इस घाटी में और भी कोई आता है क्या ?

महापुरुष– सामान्य मनुष्य तो क्या ? बड़े-बड़े महात्मा भी इस घाटी तक नहीं पहुँच सकते । यहाँ आ भी जाएँ तो उन्हें घाटी दिखाई नहीं देगी, न ही यह महापुरुष । तुम भी स्थूल शरीर से यहाँ नहीं आ सकते थे ।

अब तुम अकेले वापिस जाओ । मेरा तुम्हारे साथ जाना नहीं होगा ।

तब मैंने कहा, "मुझे रास्ते का कैसे पता लगेगा ?"

इस पर महापुरुष जोर से हँसे । बोले, "तुम भूल गए हो कि तुम सूक्ष्म शरीर हो तथा एक चेतन डोरी से, अपने स्थूल शरीर के साथ बँधे हो । तुम्हें रास्ता खोजने की आवश्यकता नहीं, केवल लौटने का संकल्प करने की आवश्यकता है । वह डोरी सिकुड़ती जायगी तथा तुम्हें तुम्हारे स्थूल शरीर के पास पहुँचा देगी ।"

तब मैं भी अपनी भूल पर हँसने लगा था । महापुरुष को प्रणाम किया तो मैं थोड़ी ही देर में अपने स्थूल शरीर के पास था । मैं अपने स्थूल शरीर में प्रवेश कर गया । देखा तो तुम सामने खड़े थे ।

महाराजश्री की बातें सुन-सुन कर, मैं आश्चर्य चकित हो रहा था । मैंने पूछा कि क्या यह बात भी किसी को नहीं बताना है ?

महाराजश्री– यदि बतानी होती तो मैं स्वयं ही नहीं बता देता ! मेरे जाने के पन्द्रह-बीस वर्ष बाद तक भी किसी को नही बताना । वैसे यदि कभी भी किसी को नहीं बताओ तो सर्वोत्तम है, किन्तु मैं जानता हूँ कि सदैव के लिए इस बात को पचा नहीं पाओगे । ऐसी बातें इस मिथ्या जगत में प्रसिद्धि के लिए नहीं होती । जीवन में भी तथा मृत्यु के उपरान्त भी ।

मैं गहरे विचारों में डूब गया । कभी ऐसा सोचा भी नहीं था कि आध्यात्मिक यात्रा इतनी लम्बी है, कठिन तथा कंटकापूर्ण है । कुछ कल्पना तो थी, किन्तु ऐसी नहीं थी । पर आज उन महापुरुष जी की बातों से साधन का सारा नशा हरण हो गया ।

यह पहले लिखा ही जा चुका है कि एक दिन दोपहर में गणेशपुरी बम्बई के स्वामी मुक्तानन्द जी, महाराजश्री के दर्शनार्थ पधारे । उन दिनों पता नहीं क्यों, महाराजश्री अंग्रेजी में ज्यादा बात करने लग गए थे । मुक्तानन्दजी ने आकर प्रणाम किया । फिर चरणों पर पुष्प अर्पण कर साष्टांग प्रणाम किया । फिर कुर्सी पर महाराजश्री के पास बैठ गए । महाराजश्री नें कहा, "मैं अब केवल ऐतिहासिक व्यक्तित्व मात्र हूँ । आने वाला समय अब आप लोगों का है । आप शक्तिपात् के क्षेत्र में इतना काम कर रहे हैं कि देश-विदेश में उसकी धूम है । भगवान आपके कार्य में सहायक हों । मेरा आशीर्वाद है ।" मुक्तानन्दजी ने कहा, "सब आपके आशीर्वाद का ही फल है । मैं न ही कुछ जानता हूँ, न ही कुछ करता हूँ । सब कुछ प्रभु-प्रेरणा से ही हो रहा है । बस आपकी कृपा इसी प्रकार बनी रहे, यही प्रार्थना है ।"

एक दिन महाराज ने योग माया के मंदिर जाने की इच्छा व्यक्त की । हम सब लोग दो कारों में मेहरोली (जहाँ योग माया का मंदिर है) गए । महाराजश्री को चलने के लिए सहारे की आवश्यकता पड़ रही थी, किन्तु वे प्रसन्न-चित्त थे । दर्शन के पश्चात् कहने लगे, "योग तथा माया, देखने में दो विरोधी शब्द प्रतीत होते हैं, किन्तु योग का साधन भी माया के अन्तर्गत ही होता है । जो माया से अतीत हो जाता है उसे न माया सताती है, न ही योग की आवश्यकता होती है । माया ही जगत में उलझाती है तथा माया ही योग साधन के लिए प्रेरित करती है । इस मंदिर का महत्व यह है कि जो भक्त संसार में उलझना चाहते है, उन्हें उलझाती है । जो जगत से छूटना चाहते हैं, उनकी साधन में सहायता करती है । यही योग माया है । हमें अपने जीवन में तथा साधन में, इस मंदिर का बहुत सहारा रहा है ।"

बम्बई से कुछ सज्जन महाराजश्री के दर्शन करने आए थे । कहने लगे, "महाराज जी ! आप बम्बई चलिए । वह नगर चिकित्सा का बड़ा केन्द्र है । हर विषय के अच्छे से अच्छे विशेष उपलब्ध हैं । हम आपकी सब सेवा करेंगे । हमें भी अवसर प्रदान कर अनुग्रहीत करें ।"

महाराजश्री ने कहा, "चिकित्सा की सुविधाओं की दिल्ली में भी क्या कमी है, किन्तु जब अपना समय ही पूरा हो रहा हो, तो विशेषज्ञ भी क्या कर लेंगे ! क्या इतने विशेषज्ञों के होते हुए भी बम्बई में लोग मरते नहीं ? यमराज जिसको ले जाना चाहता है, उसको कोई भी विशेषज्ञ रोक नहीं सकता । भाग-दौड़ करने का हमारा समय व्यतीत हो चुका है । अब बाकी बचा शान्ति से, ईश्वर स्मरण तथा साधन में व्यतीत हो, यही आकांक्षा है ।"

(४२) देवास में अन्तिम बार

अदृश्य महापुरुष ने महाराजश्री से कहा था कि तुम्हें एक बार देवास और जाना पड़ेगा, तो आपने भी देवास जाने का मन बना लिया । उधर देवास से भक्तों-शिष्यों के बार-बार आग्रहपूर्वक संदेश प्राप्त हो रहे थे कि महाराजश्री यहाँ पधारें । देवास से आए हुए लगभग एक वर्ष हो गया था । एक साथ इतना लम्बा समय, कभी बाहर रहे नहीं थे । उन दिनों कोई भी रेलगाड़ी देवास तक, दिल्ली से सीधी नहीं जाती थी । नागदा तथा उज्जैन में बदलना पड़ता था । इसलिए कार्यक्रम ऐसा बनाया गया कि नागदा से ही कार द्वारा सीधे देवास पहुँचा जाय । महाराजश्री को लेकर जब मैं नागदा में उतरा तो कार वहाँ प्रतीक्षा कर रही थी । हम देवास पहुँच गए ।

आश्रम के सामने खड़े होकर महाराजश्री ने आश्रम को प्रणाम किया । कहा, "मैं फिर आ गया हूँ ।" जब सभी लोग दर्शन लाभ कर, अपने-अपने स्थान पर बैठ गए तो महाराजश्री ने धीरे-धीरे कहना आरंभ किया, "मैं यहाँ से जैसा गया था, अब वैसा नहीं हूँ । इस बात को आप सब लोगों ने भी मेरे चलने, बोलने तथा बैठने का ढंग देखकर, अनुभव कर लिया

होगा । शरीर में कब क्या परिवर्तन हो जाय, इसको कोई नहीं जानता । हमने सात्विक तथा संयत जीवन बिताया, फिर भी यह अस्वस्थता प्रकट हो गई । यही सब प्रारब्ध के खेल हैं । सबको भोगना पड़ता है । हमें इसमें कोई प्रकार की कठिनाई नहीं है । मन प्रसन्न है । अब आप लोगों से मैं अधिक बात नहीं कर सकूँगा । आप लोग भी अपना प्रारब्ध, शान्ति तथा प्रसन्नता से भोगने के लिए, मन को तैयार करो । अधिक से अधिक समय साधन में व्यतीत करो । साधन में ही मनुष्य- जीवन का महत्व छिपा है । साधन ही जीवन का सार है । इतनी बात करने से अब मैं थक गया हूँ ।"

सब लोग प्रणाम करके दूर हट गए । महाराजश्री को सहारा देकर मैं उन्हें उनके कमरे में ले गया, तो उन्होंने कहा, "पिछली बार जब मैं देवास से गया था तो सोचा था कि अब संभवत: फिर यहाँ आना नहीं होगा, किन्तु अभी प्रारब्ध में यहाँ का अन्न, जल ग्रहण करना लिखा था, तो एक बार फिर आना पड़ा । अब देवास के प्रति पहले जैसा अपनत्व अनुभव नहीं हो रहा । ऐसा लगता है कि किसी जगह आकर मुकाम कर लिया है । मन की अवस्था की ही तो सारी बात है ।"

प्रश्न– पहले तो इधर-उधर घूमकर, जब आप वापिस देवास आते थे तो कहा करते थे कि घर वापिस आ गए । जैसा आराम घर में है, कहीं नहीं !

महाराजश्री– वह बात उस समय की परिस्थिति तथा चित्त की अवस्था के अनुसार थी । साधु तथा संसारी में यही अन्तर है । संसारी अन्त समय तक घर को घर समझता रहता है किन्तु साधु जब किसी स्थान से मन को हटा लेता है तो फिर उसका विचार भी नहीं आता ।

अब आश्रम की सारी व्यवस्था बदल दी गई थी । महाराजश्री के दर्शनों के लिए एक घण्टे का समय निश्चित कर दिया गया था, ताकि उन्हें अधिक से अधिक आराम मिल सके । बाहर से आने वाले सज्जनों पर भी यह नियम लागू कर दिया गया था । एक प्रश्न यह था कि ऐसा क्या कार्यक्रम बनाया जाए जिससे लोग उलझे रहें । महाराजश्री का सत्संग करने का प्रश्न ही नहीं था । कुछ लोगों ने सत्संग के लिए महाराजश्री के सामने, मेरे नाम का सुझाव रखा, जिसे उन्होने स्वीकार कर लिया । इसमें कठिनाई यह थी कि मुझे बोलने का एकदम अभ्यास नहीं था । केवल एक बार उज्जैन के साधन-समारंभ में बोला था, वह भी डरते—काँपते । तब मैं पसीना-पसीना हो गया था । महाराजश्री से बात की तो उन्होंने कहा, "कुछ भी थोड़ा-सा बोल दिया करो, अब आश्रम है तो कुछ तो कार्यक्रम रखना ही पड़ेगा" मैंने नारद भक्ति सूत्र पर बोलना आरंभ कर दिया । यह मेरे जीवन का पहला सत्संग था ।

एक दिन कहने लगे, "अब अदृश्य महापुरुषों का आना-जाना कुछ अधिक हो गया है । अन्तिम समय है न ! किन्तु यह अन्तिम समय तो संसार की दृष्टि से है । जगत की

खिड़की में खड़े होकर देखो तो जीव जाता दिखाई देता है । महापुरुषों की खिड़की में खड़े होकर देखो, तो आता हुआ दिखाई देगा ।"

प्रश्न– मैं इस बात को समझा नहीं !

महाराजश्री– अरे भई, सीधी सी तो बात है । शरीर छोड़ने पर जीव जगत से अदृश्य हो जाता है, अर्थात् जगत से चला जाता है, किन्तु जहाँ हमारा आसन खाली पड़ा है, वहाँ के महापुरुष हमारे आने की प्रतीक्षा कर रहे होंगे । यह आने-जाने की भावना इस बात पर आधारित है कि किसकी कैसी तथा कहाँ स्थिति है । माया की खिड़की से दृश्य अलग दिखाई देता है । माया से अतीत खिड़की सारे दृश्य को बदल देती है । दृश्य तो वही है किन्तु मनुष्य किस कोण पर खड़ा है, उससे अन्तर आ जाता है ।

प्रश्न– महापुरुष आकर कोई बात भी करते हैं क्या ?

महाराजश्री– पहले की अपेक्षा कुछ अधिक बात करते हैं । हमारी प्रतीक्षा कर रहे हैं । (हंसते है)

प्रश्न– क्या आगाशा भी आए ?

महाराजश्री–(थोड़े गंभीर होकर) ऋषिकेश में तो नहीं, पर यहाँ एक बार आए थे । कह रहे थे कि सात हजार वर्ष हो गए, आप उस उच्च अवस्था में हमारे साथ थे, अब भी आपका स्तर तो वही है, फिर भी शारीरिक सीमाओं का बंधन तो है ही । मैं आपको बधाई देने आया हूँ कि अब यह बंधन टूटने वाला है । मैंने धन्यवाद कहा ।

मैंने कहा, "आपके लिए तो यह प्रसन्नता का अवसर है, पर हम लोगों के मन पर क्या बीत रही है, यह हम ही जानते हैं ।"

महाराजश्री– यह तुम लोगों की अज्ञानता है । प्रसन्न होने के स्थान पर शोक कर रहे हो । अच्छा ! यह बताओ, तुमने किसी से कुछ कहा तो नहीं ?

उत्तर– जब आपका आदेश है तो कैसे कह सकता हूँ ?

महाराजश्री– कम से कम पन्द्रह-बीस वर्ष तक किसी से कुछ बात नहीं करना । जगत का काम निरर्थक वाद-विवाद करना है । इस वाद-विवाद से किसी को कुछ मिलता नहीं, फिर भी किए जाते हैं । पन्द्रह-बीस वर्ष में बात ठण्डी हो जाएगी । वाद-विवाद में रुचि रखने वाले बहुत से लोग भी काल के गाल में समा जाएँगे ।

मैंने कहा– एक ओर आप जाने की बात करते हैं, दूसरी ओर लोगों के उपचार-विषयक सुझावों पर विचार करते हैं । यह परस्पर विरोधी बातें नहीं क्या ?

महाराजश्री– देखने में तो विरोधी ही हैं, किन्तु कौन निरर्थक वाद-विवाद में पड़े ! लोगों को भावी घटना-क्रम का कुछ पता नहीं, इसलिए वह अपने मन के अनुसार योजनाएँ

बनाते हैं । फिर जिससे जैसी सेवा लेनी है, उसका भी लेन-देन बराबर करना है । इसलिए हम अधिक उलझन में पड़ना पसन्द नहीं करते ।

महाराजश्री की स्वास्थ्य संबंधी शिकायतें बढ़ने लगी थीं । या तो इन्दौर से किसी डाक्टर को बुलाया जाता था, या उन्हें इन्दौर ले जाया जाता था । इसलिए इन्दौर के भक्तों की ओर से यह सुझाव आया कि क्यों न मुकाम इन्दौर में ही रखा जावे । महाराजश्री ने भी विचार कर, इन्दौर स्थानान्तरण की स्वीकृति दे दी । हम लोग इन्दौर आ गए ।

मैं इस बात को प्रत्यक्ष देख रहा था कि यह सब महाराजश्री की अन्तिम यात्रा की तैयारियाँ चल रही हैं किन्तु महाराजश्री ने मेरे मुँह पर पट्टी बाँध दी थी । किसी को, कुछ कह भी नहीं सकता था । लोग नित्य नई योजनाएँ बनाते, महाराजश्री को इधर-उधर भगाते, मैं मौन बना सब सहन करता । संभवतः महाराजश्री की ही कोई योजना चल रही थी । वह सब के साथ अपना लेन-देन समाप्त कर रहे थे, अन्यथा इसके लिए उन्हें फिर से जगत में आना पड़ता । इसी बात को सोच कर मैं भी चुप था ।

इन्दौर में भी खाली तथा खुली जगह पर्याप्त थी । पति-पत्नी दोनों डाक्टर थे । उनके कारण अन्य बड़े डाक्टरों तक भी पहुँच थी । उपचार की व्यवस्था तो ठीक थी किन्तु महाराजश्री का स्वास्थ्य गिरता जा रहा था । अब प्रोस्टैट ग्लैण्ड के बढ़ जाने से भी कष्ट होने लगा था, किन्तु महाराजश्री सब शान्तिपूर्वक सहन कर रहे थे । मुँह से एक बार भी हाय नहीं निकली थी । चेहरे पर हरदम वही मुस्कान । बात में वही गंभीरता । एक सज्जन नित्य प्रति, मराठी की गीत रामायण के, दो एक भजन सुनाते थे ।

सन् १९६९ की गुरु पूर्णिमा महाराजश्री ने इन्दौर में ही की । मना करने पर भी कई लोग पूजन-दर्शन के लिए आ गए थे । महाराजश्री ने कोई प्रवचन नहीं किया । केवल "मेरा आशीर्वाद है" इतना ही कहा ।

अब तक प्रोस्टैट ग्लैण्ड की शिकायत काफी बढ़ गई थी जिसके लिए दिल्ली से एक विशेषज्ञ डाक्टर को बुलवाया गया । उसने कहा कि इन्हें दिल्ली ले आया जाय तो मैं आप्रेशन कर दूँगा, अतः महाराजश्री को दिल्ली ले जाया गया । एयर पोर्ट पर देवास तथा इन्दौर के सभी भक्त उपस्थित थे । काफी भावनामय दृश्य था । महाराजश्री अब यहाँ से अंतिम विदाई ले रहे थे, किन्तु सभी उनके लौट आने की आशा लगाए थे । पर जो होना होता है, वही होता है । जब हवाई जहाज उड़ने को हुआ तो महाराजश्री ने हाथ हिलाकर, सबसे विदा ली ।

हवाई जहाज में मैं, महाराजश्री की पास वाली सीट पर बैठा था । वे कुछ अनमने से दिखाई दे रहे थे, जैसे यहाँ होकर भी यहाँ नहीं हों । क्या पता उस समय किसी की बात सुन रहे थे, या कहीं घूम रहे थे । कोई सवा दो घण्टे की उड़ान थी । दिल्ली में, अनुमति लेने से,

कार हवाई जहाज तक आ गई हुई थी । कार में बैठे और सीधे नर्सिंग होम चले गए । कमरा पहले से ही सुरक्षित था ।

महाराजश्री ने कहा, "किसी हॉस्पिटल में प्रवेश का जीवन में, यह प्रथम तथा अन्तिम अवसर है । यहाँ कितनी साफ सफाई है, किन्तु उसके पीछे कैसी भयानकता छिपी है ? सारी दुनिया ऐसी ही है ।"

(४३) अन्तिम यात्रा

नर्सिंग होम में महाराजश्री ने मुझे कहा, "हिमालय वाले महापुरुष फिर आए थे ।" कहने लगे, "इस भौतिक जगत में यह नर्सिंग होम तुम्हारा अन्तिम घर है । इसे छोड़कर जब तुम यहाँ से निकलोगे, तो हम तुम्हें वहीं ले जाएँगे, जहाँ तुम्हारा आसन तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है । बस अब कुछ ही दिनों की बात है ।"

यह सुनकर मेरी आँखों के सामने अँधेरा छा गया । महाराजश्री कहते जा रहे थे, "याद है न मेरी बात कि मेरे शरीर की समाधि नहीं बनाना, गंगा जी में ही प्रवाहित करना । हमारी परम्परा में अभी तक समाधि का प्रचलन नहीं है । मृत शरीर को गाड़ कर रखने का कोई अर्थ नहीं । कीड़े खाएँ या मछलियाँ, इसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता, किन्तु समाधि के नाम पर बहुत कुछ ऐसा होता है जो कि नहीं होना चाहिए ।"

मैं सुनता रहा, विचार करता रहा । इतने में डाक्टर ने कमरे में प्रवेश किया । उसने परीक्षण किया, नर्स को कुछ निर्देश दिए और चला गया ।

महाराजश्री काफी अशक्त हो चुके थे । प्रोस्टैट ग्लैण्ड की तकलीफ काफी बढ़ गई थी । निश्चित समय पर उनका आप्रेशन कर दिया गया था । महाराजश्री और मैं कमरे में अकेले ही थे । कहने लगे, "घबराना नहीं । दीपक अपना तेल जला कर ही प्रकाशित होता है । यह जीवन तपने के लिए ही है । जो तप कर पिघलता नहीं, उसकी ढलाई भी नहीं होती । भगवान जो करते हैं, उसे प्रसाद समझना तथा प्रसन्न रहना ।"

यह सुनकर मैं रोने लगा । उन्होंने कहा, "रोते क्यों हो ! यह तो खुशी का अवसर है । शरीर की सीमाएँ तोड़कर मैं तुम्हारी अधिक सहायता कर सकूँगा । तुम जब चाहोगे मुझे अन्तर में देख सकोगे । मुझे भौतिक बंधन में पड़ा हुआ देखने की तुम्हारी आदत हो गई है, इसलिए रोते हो ।"

इतना कह कर महाराजश्री चुप हो गए । चुप हुए तो ऐसे कि फिर बोले ही नहीं । उनकी वाणी सदैव के लिए मौन हो गई । यह पक्षाघात का दूसरा आक्रमण था जो कि पहले से भी अधिक भीषण था । अब वे केवल देखते रह जाते थे, बोल नहीं पाते थे । ज्ञान का जल प्रवाहित होने वाला झरना सूख गया था । अब कभी भी स्नेहमयी फटकार सुनने को न मिलेगी, अब महापुरुषों से महाराजश्री के वार्तालाप को सुनने का माध्यम छिन गया था ।

तीसरे दिन महाराजश्री का स्वास्थ्य अधिक बिगड़ गया। पक्षाघात का एक और आक्रमण। दाया पाँव तथा हाथ एकदम बेकार। ऐसा लगने लगा कि अब थोड़ी ही देर की बात है। लोगों से राय लेने के बाद मैंने डाक्टर से कहा, "आप हमें साफ-साफ बता दें कि कोई आशा है कि नहीं। महाराजश्री की इच्छा गंगा-किनारे शरीर त्याग करने की है। यदि कोई आशा नहीं हो, तो हम इन्हें लेकर क्या गंगा-किनारे चले जाएँ? हो सकता है कि इन्हें वहीं शरीर त्याग का सुअवसर प्राप्त हो जाय!"

पाँच-सात डाक्टरों ने मिलकर विचार-विमर्श किया तथा कह दिया कि कोई आशा नहीं, आप चाहे तो इन्हें ले जा सकते हैं।

जल्दी-जल्दी तीन कारों की व्यवस्था की गई तथा हम लोग महाराज को ऋषिकेश की ओर लेकर भाग चले। मैं मन ही मन भगवान से प्रार्थना कर रहा था, कि किसी प्रकार महाराजश्री के प्राणों के रहते, हमें गंगाजी के किनारे तक पहुँचा दे। कारों तथा घड़ी में एक प्रकार की दौड़ चल रही थी। रास्ते में हम एक बार भी कहीं नहीं रुके। सायंकाल आठ बजे के लगभग हमारी गाड़ी हरिद्वार में हर की पौड़ी पर खड़ी थी। मैं जल्दी में एक गिलास में गंगा जल ले आया तथा कहा, "महाराज जी, इस समय हरिद्वार में हैं, हर की पौड़ी पर खड़े हैं, यह गंगा जल है।" पता नहीं महाराजश्री ने सुना कि नहीं। मैंने थोड़ा-सा गंगा जल उनके मुँह में डाला।

उसके पश्चात् ऋषिकेश की ओर हम आगे चले। कोई आधे-पौने घण्टे में, हमारी गाड़ी योग श्री पीठ के सामने सड़क पर खड़ी थी। हम सोच ही रहे थे कि ऊपर आश्रम पर जाकर महाराजश्री के आने का समाचार दें, किन्तु महाराजश्री सारे जगत के साथ-साथ आश्रमों का भी त्याग कर चुके थे। अपने जीवनकाल में भी उन्हें किसी आश्रम से कोई आसक्ति नहीं थी। वे आश्रम या घर को केवल ठिकाना मानते थे, जहाँ शरीर को रखा जाता है तथा जहाँ अपने कर्त्तव्यों का पालन किया जाता है। वे किसी आश्रम में अपनी अन्तिम साँस लेकर, आश्रम के साथ अपने आपको संबद्ध नहीं कर लेना चाहते थे। महाराजश्री का संकल्प किसी आश्रम में नहीं, गंगा किनारे शरीर त्याग का था तथा हमारी गाड़ी इस समय ठीक गंगा किनारे ही खड़ी थी। यहीं पर महाराजश्री ने अन्तिम साँस ली। उनकी इच्छा, आज्ञा तथा कथनानुसार उनके शरीर को गंगा जी में प्रवाहित कर दिया गया।

जिन गुरुदेव ने जगत का स्वार्थमय यथार्थ स्वरूप दिखलाया, जीव के मन की कलुषित एवं वीभत्स स्थिति को, उसके समक्ष उजागर-प्रत्यक्ष किया, जीवन की असारता तथा अस्थिरता की ओर ध्यान दिलवा कर, उसकी सदुपयोगिता की ओर संकेत किया तथा भटके जीवों को परमार्थ के कल्याणकारी पथ पर आरुढ़ किया, वह पंचभौतिक दृश्यात्मक जीवन का पटाक्षेप कर सदैव के लिए संसार से चल दिए थे।

(४४) अंधेरा हो जाने के पश्चात्

महाराजश्री जा चुके थे । योग श्री पीठ के सामने वाले ओटले पर, गंगा जी की तरफ मुँह किए, रात के अँधेरे में, मैं अकेला बैठा था । ऐसे समय में मेरा साथ देने के लिए, मेरी चित्त-स्थिति ही उपस्थित थी, जिसमें महाराजश्री के चरणों के सानिध्य में निरन्तर बीते, साढ़े ग्यारह वर्षों की असंख्य स्मृतियाँ थीं । मैं कभी अपनी चित्त-स्थिति की दुर्गंधयुक्त भयानक कालिमा में अत्यन्त गहरा उतर जाता था तो कभी महाराजश्री की सुगंधित मनमोहक यादों की शीतल बयार का आनन्द लेने लगता था । एक ओर निराशा तथा उत्साहहीनता के घने काले बादल थे तो दूसरी ओर महाराजश्री की उपदेशात्मक, उत्साहवर्धक तथा सजीव वाणी की सुनहरी यादें थीं ।

आश्रम में खड़े मकान अब मुझे उदास खण्डहरों के समान दिखाई दे रहे थे, जिनकी आत्मा उन्हें छोड़कर कहीं अन्यत्र उड़ गई थी । सीमेंट तथा ईंटों के ढेर बाकी रह गए थे । इन खोखले, सारहीन अवशेषों को समेटने में मुझे कोई रुचि नहीं रह गई थी । जब स्वामी ही सामने न हो तो फिर भला सेवा भी किसकी !

महाराजश्री के ब्रह्मलीन हो जाने के पश्चात् मेरे लिए सर्वत्र अंधकार छा गया था । सभी व्यस्तताएँ समाप्त हो गईं थीं तथा कुछ डरावना-सा खालीपन जीवन में उभर आया था । महाराजश्री का प्रत्यक्ष शरीर विलीन हो चुका था, किन्तु अन्दर ही अन्दर उन्हीं का भाव हृदय मथ रहा था । अस्वस्थावस्था में एक बार रात को सोते हुए, आप अपने तखत से नीचे गिर गए थे । बार-बार वही विचार तथा वही दृश्य मन में उभर रहा था । उनका तखत अभी भी पूर्ववत् लगा था, किन्तु वह अब इस पर आराम करने के लिए कभी नहीं आएँगे । पंछी अपना आशियाना छोड़कर उड़ चुका था । उनके सिरहाने पड़ा पानी का लोटा तथा गिलास अब भी वैसे ही रखा था किन्तु उसमें अब कभी पानी नहीं भरा जाएगा । पहनने के कपड़े भी संभवत: उनका वापिस आने का रास्ता देख रहे थे, किन्तु उन्हें निराशा का ही मुँह देखना पड़ेगा । उनकी चप्पल पलंग के पास रखी, उनकी चरण-सेवा के लिए उतावली हो रही थी, किन्तु अब वह मात्र स्मृति-चिह्न ही रह गई थी । उनकी छड़ी एक कोने में उदासी भरी मुद्रा में मुँह छिपाए निश्चेष्ट थी, किन्तु घूमने के लिए उसका प्रयोग कभी भी नहीं किया जाएगा । अलमारी में उनका चश्मा चेहरे पर सुसज्जित होने की लालसा लिए निर्जीव पड़ा था । अब उसे वह कोमल स्पर्श दोबारा कभी भी प्राप्त नहीं हो पाएगा । सब कुछ वैसे का वैसा ही था, केवल महाराजश्री का शरीर अदृश्य हो चुका था ।

उनकी मधुर कोमल आवाज अब भी कमरे में गूँजती हुई सी प्रतीत हो रही थी । कभी उनकी खिलखिलाहट आस-पास की स्तब्धता को चीरती हुई, बाहर वराण्डे तक प्रसारित होती आभासित होती थी, किन्तु अब ये सब मन की भावनाएँ मात्र थीं । जिसको जाना था, वह जा चुका था । अब न कभी उनका कोई पत्र आएगा, न ही कभी किसी के हाथ कोई संदेशा । न ही कभी आवाज देकर बुलाएँगे, न कभी पानी माँगेंगे ।

रात को महाराजश्री के तखत के पास ही, जमीन पर मैंने अपना बिस्तर बिछा लिया था । अकेले में घुटनों पर हाथ रखे, गुम-सुम बैठा हुआ था । आँखों तथा हृदय में महाराजश्री की स्नेहमयी मूर्ति समाई थी । अब मेरे पास कोई काम न था । मेरा सब कुछ लुट चुका था । महाराजश्री का स्मरण ही अब मेरा एकमात्र धन था । पुरानी स्मृतियाँ आँखों के सामने चलचित्र की भाँति कभी उभरतीं, तो कभी विलीन हो जाती थीं । कभी महाराजश्री नारायण कुटी के प्रांगण में बैठे दिखाई देते तो कभी योग श्री पीठ के ओटले पर । कभी देवास की माताजी की टेकड़ी पर घूमते हुए जाते का चित्र उभर आता था, तो कभी गंगा तट पर बैठे हुए दिखाई देते थे । कभी उनकी प्रवचन करते हुए आवाज सुनाई देती थी तो कभी उनकी फटकार । विचार तथा भाव चक्र घूमता जा रहा था, तथा मेरी आँखों से अश्रु प्रवाह निरन्तर बह रहा था । इन्हीं विचारों के अथाह सागर में गोते खाते-खाते नींद लग गई ।

स्वप्न में क्या देखता हूँ, महाराजश्री अस्वस्थावस्था में तखत पर सोए हुए हैं, मैं पास बैठा कुछ पुस्तक पढ़ रहा हूँ, कि इतने में सोते-सोते महाराजश्री तखत से नीचे गिर गए हैं । मैं नींद में ही चिल्ला-चिल्लाकर आश्रमवासियों को बुलाने लग जाता हूँ । जब मेरी नींद खुली तो देखा कि आश्रमवासी मुझे घेरे खड़े हैं । मैं उठकर बैठ गया । कहा, "कुछ नहीं, स्वप्न देख रहा था ।" सब आश्रमवासी तो चले गए, किन्तु मेरी नींद उड़ गई ।

प्रात:काल उठा तो चुपचाप गंगा ज़ी की तरफ निकल गया । एक पत्थर पर बैठकर गंगा जी को निहारता हुआ, महाराजश्री की यादों में खो गया, महाराजश्री को गंगा जी पर कैसी श्रद्धा थी ? संभवत: वह गंगा जी को देखकर अन्तर्गंगा में उतर जाते थे । उनकी आन्तरिक स्थिति को कौन जान सकता था । मैं उनके इतना निकट रहा, किन्तु मैं भी उनके अन्तर में कहाँ झाँक पाया ? यदि कोई यह समझता हो कि उसने महाराजश्री को समझ लिया है तो यह उसका केवल मिथ्या अभिमान है । इसी प्रकार विचार करते-करते ध्यान लग गया । देखा, 'महाराजश्री एक पत्थर पर बैठे हैं । मैं प्रणाम करके निवेदन करता हूँ कि आप मुझे छोड़कर क्यों चले गए हैं ? तो वह कहते हैं कि यह तुम्हारा भ्रम है कि मैं तुम्हें छोड़कर चला गया हूँ । मेरा तुम्हारा संबंध आत्मिक था, सो अब भी है । शरीर न पहले संबंध का आधार था, न अब है । मेरे अन्तर की चैतन्य सत्ता पहले भी तुम्हारा मार्गदर्शन करती थी, अब भी करती है । तो फिर मैं चला कहाँ गया !

'मैं प्रश्न करता हूँ कि क्या आप उसी साधन धाम में वापिस लौट गए हैं ?
महाराजश्री उत्तर देते हैं कि अब मैं तुम्हें इस बात का जवाब नहीं दे सकता । मैं जिस लोक में
हूँ उसके नियम तथा विधान, तुम्हारी दुनिया से अलग हैं । भौतिक जगत में रहते हुए यहाँ की
बातों को समझ पाना संभव भी नहीं । बस इतना ही समझो कि मैं अतीव आनन्द में हूँ ।'

प्रश्न– पहले तो आप मुझे महापुरुष जी की सारी बातें बतला दिया करते थे ।

महाराजश्री– उस समय हम दोनों भौतिक धरातल पर थे, किन्तु अब परिस्थितियाँ
एकदम भिन्न हैं । उस समय मुझ पर किसी लोक के नियम लागू नहीं थे । इसलिए मैं किस
लोक में हूँ तथा वह लोक कैसा है, इन प्रश्नों के उत्तर नहीं दे सकता ।

प्रश्न– मैं कब तक इस माया जाल में पड़ा रहूँगा, इसी प्रकार तड़पता रहूँगा ?

महाराजश्री– जब तक माया का भ्रम तुम्हारे मन से निवृत्त नहीं हो जाता, तब तक । यह जाल कुछ नहीं केवल भ्रम है । मन से यह भ्रम उठते ही तुम देखोगे कि कोई जाल था ही नहीं ।

प्रश्न– इस भ्रम-निवृत्ति का उपाय ?

महाराजश्री– उपाय तुम्हारे पास नहीं है । जिसने यह भ्रम उपजाया है, वही निवृत्त कर सकता है । उसकी शरण ही एक मार्ग है । जब अपना प्रयत्न करते थक जाओगे तभी शरण ग्रहण करने की स्थिति आ पाएगी ।

मेरा ध्यान भंग हो गया था । देखा तो एक आश्रमवासी मुझे ढूँढता हुआ यहाँ तक आकर मेरे पास खड़ा था । मैं अनमना सा उसके साथ हो लिया । आँखों में अभी तक महाराजश्री की छवि समाई थी । जब आँखों में वह बैठे थे तो हर पदार्थ, दृश्य तथा जीव में उन्हीं का प्रतिबिम्ब परिलक्षित हो रहा था । जो आश्रमवासी बुलाने आए थे, वह भी महाराजश्री ही दिखाई देने लगे थे ।

योग श्री पीठ की सारी व्यवस्था जमा कर, मैंने देवास के लिए प्रस्थान किया । कई वर्षों के पश्चात् यह प्रथम अवसर था जबकि मैं महाराजश्री के बिना, अकेला यात्रा कर रहा था । मन एकदम उदास था । देवास के आश्रम में जाकर लोगों को क्या मुँह दिखाऊँगा ? अब तक जब भी मैं आश्रम में प्रवेश करता था तो महाराजश्री मेरे सामने, आगे-आगे चल रहे होते थे, किन्तु अब मैं अकेला ही मुँह लटका कर, लोगों के सामने कैसे जा पाऊँगा ?

भौतिक स्तर पर भले ही महाराजश्री का शरीर मेरे साथ नहीं था, किन्तु मानसिक धरातल पर वह पूरी तरह अन्तर में छाए हुए थे । गाड़ी में बैठा तो ऐसा प्रतीत हुआ जैसे महाराजश्री मेरे पास वाली सीट पर बैठे हैं । मैं कुछ देर के लिए यह भी भूल गया कि उनका शरीर अब इस जगत में नहीं है । महाराजश्री मुझे अपने साथ सटे हुए बैठे प्रतीत हो रहे थे, इसलिए मैं थोड़ा सरक गया था । शीघ्र ही मेरा ध्यान विखण्डित हो गया । देखा तो महाराजश्री वहाँ नहीं थे ।

मेरी मानसिक स्थिति ऐसी थी जैसे किसी ने, किसी का सब कुछ छीन लिया हो, उसके कपड़े भी उतरवा लिए हों, तथा वह लँगोटी लगाए, मुँह लटकाए घर को लौट रहा हो ।

गाड़ी भागी जा रही थी । स्टेशन आता तो गाड़ी ठहरती । कुछ लोग चढ़ते, कुछ उतरते, किन्तु मैं इन सबसे उदासीन बना, अपनी आन्तरिक वेदनाओं तथा ज्वालाओं से ही तड़पता-जलता, अपनी सीट पर ही खोया-खोया सा बैठा हुआ था ।

इसी अवस्था में मैं देवास पहुँच गया ।

* * *

पुनरुदय

(शक्तिपात् विद्या का पुनरुत्थान)
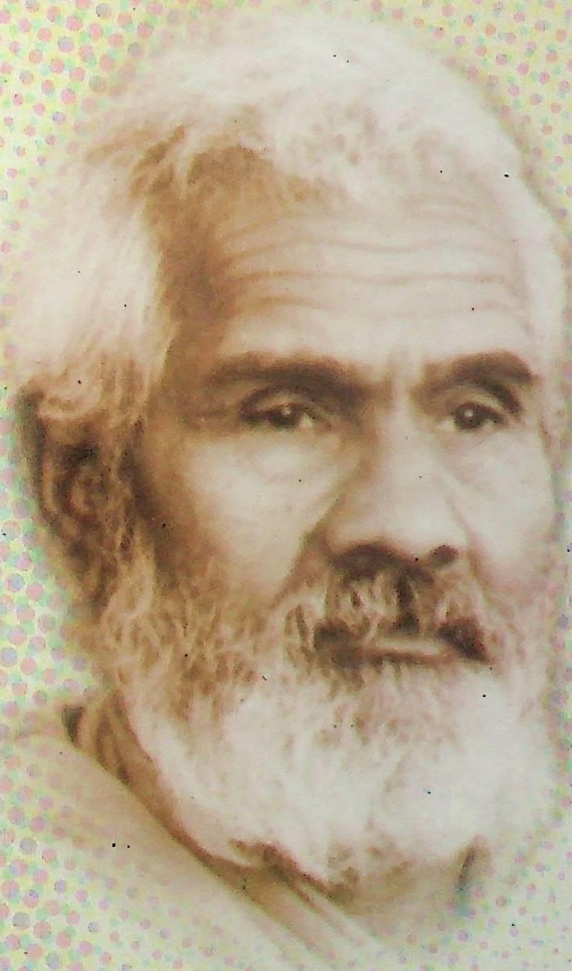
शिवोम् तीर्थ

हृदय-मंथन तीनो भाग,
एक साधक की आन्तरिक यथार्थ
दशा का वास्तविक चित्रण है,
जिसमें एक ओर संसार
का आकर्षण तथा निमंत्रण है,
तो दूसरी ओर प्रभु- विरह
की तड़प एवं चुभन भरी
मानसिक अवस्था । ऐसे मे गुरुदेव
स्वामी विष्णु तीर्थ महाराज (ब्रह्मलीन)
की ओजस्वी प्रेरणा दायक तथा
कल्याणकारी वाणी एवं पारमार्थिक प्रसंग
प्रकाश स्तम्भ के समान है, ।
जिसके आलोक में साधक को अपना भूला-
बिसरा यात्रा-पथ स्पष्ट दिखाई देता है,
संसार की असारता का
दिग्दर्शन होता है, कर्तव्य-अकर्तव्य
का बोध निखरता है एवं साधक, चल
पड़ता है अपने यात्रा-पथ पर